Bauddha Granthamālā—1

Āryadeva's

CATUHSATAKAM

Along with the

Candrakīrti Vṛtti

&

Hindī Translation

Editor & Translator

Dr. Bhagchandra Jain Bhaskar

Head of the Department of Pali and prakrit

Nagpur University.

Foreword by

Dr. P. L. Va[illegible]

ALOK PRAKASHAN

NAGPUR, INDIA.

1971

publisher :
Alok prakashan
Gandhi Chauk, Sadar,
Nagpur, India.

First Edition
1971

price Student Edition	15.00
Library Edition	20.00

Agent—Bharatiya Vidya prakashan
P. B. 108, Kachaudigali, Varanasi (Indfa)

printer
Vidya Mudranasthali
Bhadeni
Varanasi

बौद्ध ग्रन्थ माला—१

आचार्य-आर्यदेव-प्रणीतम्

चतुःशतकम्

(CATUḤŚATAKAṀ)

(चन्द्रकीर्तिवृत्तिसहितम्)

सम्पादक-अनुवादक

डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

अध्यक्ष, पालि प्राकृत विभाग,

नागपुर विश्वविद्यालय

Foreword by

डॉ० पी० एल० वैद्य



आलोक प्रकाशन

नागपुर

१९७१

प्रकाशक
आलोक प्रकाशन
गान्धी चौक, सदर,
नागपुर ।

प्रथम संस्करण
१९७१

मूल्य—विद्यार्थी संस्करण १५.००
पुस्तकालय संस्करण २०.००

एजेंट—भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० १०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी

मुद्रक—
विद्या मुद्रणालय
भदैनी, वाराणसी

FOREWORD

[By Dr. P. L. Vaidya Bhandarkar Oriental Research Institute Poona—4 (India).]

It gives me great pleasure to write this brief Foreword to the fourth edition of a famous writer of the Mādhyamika school of the Buddhist, viz. Āryadeva, the pupil of Nāgārjuna, the founder of the School. I call the present work Catuḥśataka a fourth edition, because a fragment of this work with Candrakīrti's commentary was first discovered by the late Mahāmahopādhyāya Hara Prasad shastri and published by him in 1914 in the Memoirs of the Asiatic Society, Calcutta. This edition fell into my hands in 1915. During my two years' stay in Europe, during 1921-23 I started learning Tebetan at the feet of the famous Buddhologist L. de la vallee Ponssin, I came upon a Tibetan and Chinese translation of the work, and it was suggested to me that I should fill up the gaps in the work by rendering into Sanskrit from Tibetan the missing stanzas of the work. I started the work of reconstruction from chapter VIII till its completion in chapter XVI. Of the 225 stanzas of this portion, 95 stanzas were found in Mahā. Dr. Hara Prasad Shāstri's edition, some 13 more stanzas were traced as quotations in commentaries and I filled up the gap of 117 stanzas, making the total of 225 stanzas. My method was that I first prepared a Tibetan Sanskrit Glossary of 108 stanzas which were available in the original Sanskrit, and used this Tibetan Sanskrit Glossary for reconstruction of the remaining stanzas. When this work was ready, I added, by way of Introduction, all the information, known in those days, on the history of the Mādhyamika school, and presented the work as my dvdorate thesis to Paris University in 1923 in a printed form. My thesis was approved by the University, and I became Docteur de l'Univer-

site' de Paris 'a la Faculte' de Lettres. This thesis of mine, published in 1923, is now out of date as since then we have made tremendous progress in our information about Buddhism as well as Mādhyamika school. The late Dr. Vidhu Shekhar Bhattacharya, with whom I was acquainted during my stay in Shanti Niketan, hailed my above-mentioned thesis as a very credittable achievement, but also said that my work was capable of improvement. Ho worked on my thesis as a saft for reconstruction and published his edition in 1931 of the same portion criticizing at places my reconstruction and suggesting improvement in it. Dr. Bhagachandra Jain has now published this fourth edition of the Catuḥśatakaṁ adding Hindī translation and a big introduction in Hindī dealing with the History Philosophy and Literature of the Buddhists, and I am sure the Catuḥśataka, the work of Āryadeva, in the present form would attain greater popularity.

P. L. Vaidya

Bhandarkar O. R. Institute.
Poona—4
24-4-71

चतुःशतकस्य विषय-सूची

मराठी रंगमञ्च की सर्वोच्च प्रतिभा

एवं संस्कृत के प्राध्यापक

श्री मधुकर आष्टीकर

को

प्राक्कथन

चतुःशतक और उसकी सम्पादन सामग्री

आचार्य आर्यदेव शून्यवाद अथवा माध्यमिक सम्प्रदाय के अन्यतम स्तम्भ माने जाते है। वे एक कुशल बौद्ध दार्शनिक और तार्किक थे। नागार्जुन के सान्निध्य में रहकर उन्होंने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा का तीव्रतम विकास किया और अपनी मेधा का उपयोग शून्यवादी बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में लगाया। लगभग तृतीय शताब्दी के इस चुम्बकीय व्यक्तित्व ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन विविध क्षेत्रों में किया। विशेष रूप से बौद्ध दार्शनिक क्षेत्र उनके योगदान से अधिक समलङ्कृत हुआ है। अनेक ग्रन्थों के रचयिता के रूप में आर्यदेव का नामोल्लेख मिलता है। उनमें प्रधान ग्रन्थ हैं—चतुःशतक, हस्तवाल प्रकरण, चित्तविशुद्धिप्रकरण और ज्ञानसारसमुच्चय।

प्रस्तुत चतुःशतक ४०० कारिकाओं से निर्मित ग्रन्थ है। उसपर चन्द्रकीर्ति और धर्मपाल ने व्याख्यायें लिखी हैं। चन्द्रकीर्ति की वृत्ति तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। सूक्ष्मज्ञान और सूर्यकीर्ति ने संयुक्त रूप से चतुःशतक और उस पर लिखित चन्द्रकीर्ति वृत्ति का अनुवाद किया है। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ के सप्तम अध्याय से सोलहवें अध्यांय तक के अंश उपलब्ध हुए हैं। वहां इसका नाम शास्त्रवैपुल्य मिलता है। धर्मपाल ने इसके अन्तिम आठ अध्यायों पर व्याख्या लिखी जिसका अनुवाद चीनी भाषा में ह्यूनसांग (ई. ६५०) ने किया।

चतुःशतक के अध्ययन का श्रीगणेश महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री से हुआ था। उन्होंने सन् १९१४ में चतुःशतक के कुछ अंश चन्द्रकीर्ति वृत्ति सहित Memoirs of the Asiatic Society of Bengal के भाग ३, अंक ८ (पृ. ४४९–५१४) में प्रकाशित किये थे। उसके बाद डा० पी० एल० वैद्य ने इस अध्ययन को और दिशा दी। उन्होंने १९२३ में Etudessur Aryadevaet son Catuh Sataka नामक

ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ में डॉ० वैद्य ने अपना अध्ययन आठवें अध्याय से प्रारम्भ किया। उन्होंने अनुपलब्ध कारिकाभाग को पूरा करने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकाशन की एक विशेषता यह भी थी कि उपलब्ध चतुःशतक का अनुवाद फ्रेन्च भाषा में प्रस्तुत कर दिया गया। सन् १९२५ में प्रो० तुचि ने उसका अनुवाद इटालियन में किया जो Rivista degli studi Orientali. के भाग दशवें (पृ. ५२१.) में प्रकाशित हुआ।

इसके बाद डा० वैद्यके सस्करण को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से महा महोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने विश्व भारती से सन् १९३१ में प्रकाशित कराया। इसमें आर्यदेव की कारिकायें तथा उन पर चन्द्रकीर्ति की वृत्ति के साथ तिब्बती भाषा में उपलब्ध भाग भी प्रस्तुत किया गया। साथ ही डाँ० शास्त्री और डा० वैद्य द्वारा निर्धारित पाठों को समालोचनात्मक दृष्टि से उपस्थित करके अपने पाठ को अधिक उपयुक्त सिद्ध करने का अभिनन्दनीय प्रयास हुआ। इसमें उन्होने धर्मदास द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्तों का भी समावेश किया है। डॉ० भट्टाचार्य की दृष्टि मे ये धर्मदास विदग्धमुखमण्डन के कर्ता धर्मदास से भिन्न नहीं है। डॉ० भट्टाचार्य ने चतुःशतक के सप्तम अध्याय का भी उद्धार किया है। यह अध्याय चन्द्रकीर्ति वृत्ति सहित प्राच्य भारतीय विद्या परिषद् (इलाहाबाद, १९२६) की चतुर्थ रिपोर्ट (पृ. ८३१) में प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण इसी अध्ययन-क्रम का एक सूत्र है। चतुःशतक अनेक विश्व-विद्यालयों के विभिन्न पाठ्यक्रमों में निर्धारित किया गया है। परन्तु उसका विश्व भारती संस्करण उपलब्ध न होने से अध्ययन-अध्यापन में बाधायें आती रही हैं। मैंने भी इस कठिनाई का अनुभव विद्यार्थी जीवन एवं अध्यापक जीवन में किया अतः मन में संकल्प हुआ कि क्यों न चतुःशतक को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया जाय। संकल्प विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के तुरन्त बाद ही कार्यरूप में परिणित हो गया। परन्तु अनेक व्यवधान आने के कारण इसका प्रकाशन इससे पूर्व नहीं हो सका।

चूंकि चतुःशतक की अन्य मूल प्रतियां उपलब्ध नहीं हैं इसलिए हमने डॉ० भट्टाचार्य के संस्करण को ही आदर्श मानकर इस संस्करण को तैयार किया है। साथ ही उन्होंने जो भी फुट नोट्स दिये है उनका भी यथासंभव आकलन करने का प्रयत्न किया है। एतदर्थ में उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। जहां कहीं हमने अपने पाठ भी सुझाने की धृष्टता की है।

यह संस्करण छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर तैयार किया गया है। चन्द्रकीर्ति वृत्ति सहित चतुःशतक का हिन्दी अनुवाद भी इसके साथ ही देने का विचार था परन्तु उसे फिर हमने प्रस्तावना का भाग बना देना अधिक उपयुक्त समझा। प्रस्तावना में बौद्धधर्म, संघ, सम्प्रदाय, साहित्य और दर्शन का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त डॉ० भरत सिंह उपाध्याय के बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डाँ. गोविन्दचन्द पाण्डेय के बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, आचार्य नरेन्द्रदेव के "बौद्ध-धर्म-दर्शन", प्रो० बलदेव उपाध्याय के "बौद्धदर्शन मीमांसा" तथा डॉ० लालमणि जोशी के "स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया" का विशेष उपयोग किया गया है। ग्रन्थ में यथास्थान उनका उल्लेख भी किया है। उक्त सभी विद्वानों को मेरा कृतज्ञता-ज्ञापन एवं नमन् है।

प्रस्तुत संस्करण के तैयार करने में हमें जिन विशेष विद्वानों का सहयोग मिला है उनमें प्रमुख हैं—सर्व श्री डॉ० पी० एल वैद्य, डॉ० व्ही, व्ही गोखले, डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० पी० व्ही बापट, डॉ० एन० एच० सामतानी, प्राध्यायक पालि विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, डाँ० दरबारी लाल कोठिया, बनारस, डाँ० अजयमित्र शास्त्री, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय तथा प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी। इन सभी अध्येताओं के परोक्ष-अपरोक्ष सहयोग तथा विचार-विमर्श के लिए हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। श्री भाई प्रो० सुधाकर पाण्डेय, एम० पी०, प्रधान मन्त्री नागरी प्रचारिणी सभा, एवं श्री प्रो० रामेश्वर शर्मा, नागपुर को भी विस्मृत करना हमारी बड़ी भूल होगी जिनका सहयोग हमें पुस्तक के मुद्रण में भरपूर मिला है। इस सन्दर्भ में मेरे अनुज रतन चन्द एम० कॉम० का भी सहयोग स्मरणीय है जिन्होंने चतुःशतक के मूल भाग की प्रतिलिपि करने में सहायता दी थी। भाई श्री शरत कुमार साधक, उदय चन्द जैन एवं श्रीमती पुष्पलता जैन को भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं जिन्होंने मुद्रण के कार्य में यथासमय अपना सहयोग और परामर्श दिया।

मैं नागपुर में रहा और पुस्तक वाराणसी से मुद्रित हुई। अतः छपने में बहुत सी गल्तियाँ हो गई हैं। विद्वान पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे। आगामी संस्करण में उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। चतुःशतक का प्रस्तुत संस्करण पाठकों को उपयोगी एवं रुचिकर हुआ तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक मानूगा।

अन्त में पुस्तक के प्रकाशक तथा मुद्रक के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूं जिनके सहयोग से चतुःशतक का यह चिर प्रतीक्षित संस्करण सामने आ सका। इसकी प्रस्तावना का अधिकांश भाग मेरी अन्यतम पुस्तक बौद्ध संस्कृति में समाहित कर दिया गया है। यह पुस्तक भी शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है।

भूमिका

परिवर्त १

बौद्ध साहित्य और सम्प्रदाय

भगवान् बुद्ध तथा पालि साहित्य

भगवान् बुद्ध श्रमण संस्कृति के आराधक तपस्वी थे। उनकी साधना, चिन्तनशीलता, उपदेश कौशल्य एवं वाग्मिता विशेष आकर्षक थी। श्रमण संस्कृति की मूलमूल विशेषतायें उन्हें सम्भवतः पैतृक परम्परा से उपलब्ध हुई थीं। उनके बौद्धधर्म और पालि साहित्य के अध्ययन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भ० बुद्ध जैन संस्कृति से भलीभाँति परिचित थे तथा यथासमय उन्होंने उसका अनुपालन भी किया था। यही कारण है कि उनके द्वारा संस्थापित धर्म वैदिक संस्कृति की अपेक्षा श्रमण संस्कृति के निकट अधिक है।

बुद्ध का व्यक्तित्व ऐतिहासिक था। इसमें अब किसी को सन्देह नहीं। पञ्चम–षष्ठ शताब्दी ई० पू० के इस आकर्षक व्यक्तित्व की जीवनी का क्रमबद्ध समग्र आलेखन न पालि साहित्य में मिलता है और न बौद्ध संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है। ललितविस्तर अवश्य इस सन्दर्भ में विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परन्तु उत्तर कालीन साहित्य बुद्ध के लोकोत्तरवादी व्यक्तित्व से दब गया है। इसलिए उसका उपयोग सीमित हो गया है।

पालि साहित्य को प्रथम शताब्दी ई० पू० में श्रीलंका के राजा वट्टगामणि के शासन काल में लिपिबद्ध कराया गया था। उसके पूर्व उसका प्रचलन श्रुति परम्परागत था। यही कारण है कि पालि साहित्य में अनेक सन्दर्भ कालक्रम पूर्वक संकलित नहीं हो सके हैं। यहाँ सन्दर्भों

को कहीं अपने अनुसार मोड़ दिया गया है, कहीं छोड़ दिया गया है और कहीं जोड़ दिया गया है। फिर भी उपलब्ध सामग्री को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से अभी इस साहित्य का सही मूल्याङ्कन शेष है।

पालि साहित्य को हम सामान्यतः दो भागो में विभाजित कर सकते हैं—पिटक साहित्य और पिटकेतर साहित्य। पिटक साहित्य में (१) सुत्तपिटक (दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस और चरियापिटक), (२) विनय पिटक (i) सुत्त-विभग—पाराजिक, पाचित्तिय, (ii) खन्धक—महावग्ग, एवं (iii) परिवार) एवं (३) अभिधम्म पिटक (धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान) मुख्य हैं। इनमें सुत्तपिटक और विनय पिटक अभिधम्म पिटक की अपेक्षा प्राचीन हैं। पिटक साहित्य के आधार पर नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, और मिलिन्दपञ्ह ग्रन्थ लिखे गये जिन्हें अनुपिटक साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है।

पिटक साहित्य का कालक्रम–निर्धारण विद्वानों के लिए एक समस्या बना हुआ है। म० राहुल जी, रिजडेविड्स, लाहा और गोविन्द चन्द पाण्डेय आदि शोधकों ने इस दिशा में प्रयत्न अवश्य किये है परन्तु वे पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं हैं। इस पर अभी और भी शोध अपेक्षित है। डॉ० विमला चरण लाहा द्वारा निर्धारित कालक्रम इस दृष्टि से मन्तव्य है[1]

१. समस्त त्रिपिटक में समान रूप से पाये जाने वाले बुद्धवचन

२. दो-तीन ग्रन्थों में ही पाये जाने वाले बुद्धवचन

३. सील पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद

४. दीघनिकाय (प्रथम स्कन्ध), मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तर निकाय, पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं।

५. दीघनिकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध), थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्तविभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग

---

१. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग १, पृ० १

६. महावग्ग. चुल्ल वग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना), विमानवत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु

७. चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान

८. बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान

९. परिवारपाठ

१०. खुद्दक पाठ

पिटकेतर साहित्य में अट्ठकथा सहित्य, टीका साहित्य, टिप्पणियां अथवा अनुटीकायें और प्रकरण (संग्रह, वंस, व्याकरण, काव्य, कोश) प्रमुख हैं। इनमें बुद्धघोष, धम्मपाल, कच्चायन, मोग्गलायन, बुद्धरक्खित आदि विद्वान पालि साहित्य के क्षेत्र में अधिक लोकाप्रिय हुए हैं।

अभी हमने पालि साहित्य की एक अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा आपके समक्ष प्रस्तुत की है। उससे इतनी तो जानकारी होती ही है कि पालि भाषा में निबद्ध साहित्य मात्र त्रिपिटक नहीं, प्रत्युत संस्कृत भाषा में रचित साहित्य जैसा उसमें वैविध्य भी उपलब्ध होता है। आज भी पालि भाषा साहित्य-सृजन से बाहर नहीं हुई है। शोधकों और लेखकों के लिए इस साहित्य में प्रचुर सामग्री मिल सकती है।

मध्यकालीन आर्यभाषाओं का अध्ययन पूर्ण करने के लिए पालि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यावश्यक है। उसने न केवल आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, प्रत्युत सिंहल, बर्मा, थाईलैन्ड, चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों की भाषाओं के विकास में भी उसका पर्याप्त योगदान है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालों को इसमें दर्शन की भी विपुल सामग्री मिलती है। स्थविरवाद और अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैदिक और जैन दर्शनों का भी इसमें प्रसंगतः पर्याप्त विवेचन हुआ है जो उनके इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री के लिए तो पालि साहित्य एक अजस्र स्रोत है। अट्ठकथायें जो अभी तक समूचे रूप में नागरी लिपि में अप्रकाशित हैं, बिलकुल अछूती-सी पड़ी हैं। प्राचीन इतिहास के कालक्रम को निश्चित करने में पालि साहित्य सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुआ है। जैन सांस्कृतिक इतिहास के विकास की जानकारी के लिए तो पालि साहित्य सदैव अविस्मरणीय रहेगा।[1]

---

१. इसके लिए देखिये, लेखक का ग्रन्थ "जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर"।

संस्कृत बौद्ध साहित्य

सर्वास्तिवाद—पालि साहित्य मात्र स्थविरवाद की परम्परा में उपलब्ध है परन्तु संस्कृत भाषा का उपयोग उत्तरकालीन प्रायः सभी बौद्ध सम्प्रदायों ने किया है। सर्वास्तिवाद उनमें अग्रगण्य है। आर्य कात्यायनीपुत्र रचित 'ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र' सम्भवतः बौद्ध संस्कृत साहित्य का आद्य ग्रन्थहोगा। कनिष्क के अधि-नायकत्व में वसुमित्र की अध्यक्षता में कश्मीर में ५०० भिक्षुओं की एक संगीति हुई थी जिसमें इस पर 'विभाषा' नाम की टीका लिखी गई। फलतः इसके अनुयायी वैभाषिक कहलाये। वसुमित्र ने कश्मीरी वैभाषिकों के अनुसार 'अभि-धर्मकोश' लिखा। विभाषा में वसुमित्र के अतिरिक्त पार्श्व, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात, भदन्त, कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धरदत्त, धरनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, संघवसु और बुद्धरक्षित आदि आचार्यों के नाम भी मिलते हैं। तारानाथ के अनुसार वैभाषिक सम्प्रदाय के धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, और बुद्धदेव प्रधान आचार्य थे। इन सभी ने संयुक्त रूप से महाविभाषा की रचना की थी।[1] धर्मत्रात का उदानवर्ग, घोषक का अभिधर्नामृत, वसुमित्र का प्रकरणपाद और धर्मश्री का अभिधर्मसार सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रंथ कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त अभिधर्म पर लिखित निम्नोक्त ग्रन्थों को षट्पादशास्त्र भी कहा जाता है—(१)शारिपुत्र (महाकौष्ठिल) विरचित अभिधर्मसं-गीतिपर्याय पादशास्त्र, (२) मौद्गल्यायन विरचित अभिधर्मस्कन्धपादशास्त्र, (३) स्थविर देवशर्मा-रचित अभिधर्म विज्ञानकायपादशास्त्र, (४) कात्यायनी पुत्र विरचित अभिधर्मप्रज्ञप्ति पादशास्त्र, (५) वसुमित्र विरचित अभिधर्मधातु-कायपादशास्त्र, और (६) वसुमित्र द्वारा ही विरचित अभिधर्मप्रकरणपादशास्त्र। स्थविरवाद द्वारा मान्य अभिधम्म ग्रन्थों में इनकी क्रमशः इस प्रकार तुलना की जा सकती है—यमक, धम्मसगणि, विभंग, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, और कथावत्थुप्पकरण।

उक्त ग्रन्थों से स्पष्ट है कि सर्वास्तिवाद में अभिधर्म का बहुत अधिक महत्व था। सर्वास्तिवादी अभिधर्म साहित्य में वसुमित्र का 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' सर्व-प्रधान माना जाता है। उक्त षट्पादशास्त्र इसी के 'पाद' कहे जाते हैं। इनका मूल विषय है—लोकुत्तरधम्म, ञान, पुग्गल, अहिरिकानोत्तप्प, रूप, अनत्थ,

---

१. तारानाथ, पृ० ६७, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० २६३

चेतना और पेमगारव का विवेचन करना। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद के बीच अभिधर्म ही विशेष रूप से विवादग्रस्त विषय था।

सुत्तपिटक के निकाय के स्थान में सर्वास्तिवादियों ने **आगम** शब्द का प्रयोग किया है यहाँ भी स्थविरवाद के समान पाँचों निकाय माने गये हैं। अन्तर यह है कि स्थविरवादीय अंगुत्तर निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं जबकि सर्वास्तिवादियों ने धर्मपद, उदान, सूत्रनिपात, विमानवस्तु और बुद्धवंस को ही अपने क्षुद्रकागम की सीमा में रखा है। विनयपिटक में भी साधारणतः समानता दिखाई देती है। प्रातिमोक्ष सूत्र, सप्तधर्म, अष्टधर्म, क्षुद्रक-परिवर्त, एकोत्तरधर्म, उपालिपरिपृच्छा, भिक्षुणीविनय एवं कुशलपरिवर्त सर्वास्तिवादी विनय के प्रधान विभाग है। पाराजिक, प्रायश्चित्तिक एवं अवदान के रूप में भी इसका विभाजन मिलता है। सर्वास्तिवादी त्रिपिटक अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता। पिशेल, रॉकहिल, पूसे, स्टेन, सेनार्ट, लूडर्स, फ्रेंक आदि विद्वानों के सहयोग से इसका कुछ भाग प्रकाशित हुआ है। अधिकांश अंग तिब्बती और चीनी भाषाओं में मिलता है। जो भी मिलता है, उसके आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि सर्वास्तिवादियों ने थेरवादी त्रिपिटक को कुछ परिवर्तनों के साथ संस्कृत में अनुदित कर लिया था।

जैसा अभी हमने देखा, ई० की १–२ शताब्दी में सम्राट् कनिष्क ने सर्वास्तिवाद को प्रश्रय दिया। इसी समय सर्वास्तिवादियों की एक संगीति भी हुई जिसमें उन्होंने अभिधर्म महाविभाषा की रचना की। इसके अनुयायी वैभाषिक कहलाये। इन वैभाषिकों के दो सम्प्रदाय थे—काश्मीर वैभाषिक और पाश्चात्य वैभाषिक। वैभाषिक के अतिरिक्त एक और शाखा का जन्म हुआ जिसे सौत्रान्तिक कहा गया। सूत्रागम (सुत्तपिटक) को मानने के कारण इस सम्प्रदाय को सौत्रान्तिक माना गया (ये सूत्र प्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकाः, अभिधर्म कोश)।

सर्वास्तिवाद से उद्भूत सौत्रान्तिक के समान एक संक्रान्तिवाद का भी उदय हुआ जो स्कन्धों का संक्रमण जन्म-जन्मान्तर तक माना करता था। सौत्रान्तिक मत के प्रवर्तकों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं। वसुमित्र आनन्द को, भव्य और तिब्बती परम्परा उत्तर को तथा श्वांगचांग कुमारलब्ध को सौत्रान्तिक शाखा का प्रवर्तक मानते हैं। कुमारलब्ध के दो शिष्य थे—श्रीलब्ध और हरिवर्मा। श्रीलब्ध का विभाषाशास्त्र अद्यावधि अनुपलब्ध है। हरिवर्मा का सत्यसिद्धिशास्त्र सर्वधर्मशून्यता का पोषक है। धर्मत्रात और बुद्धदेव भी इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हुए हैं। वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' पर

'स्फुटार्था' नामक टीका के लेखक यशोमित्र को भी सौत्रान्तिक आचार्यों में गणना की जाती है।

वैभाषिक सम्प्रदाय में, जैसा हम पीछे देख चुके है, अभिधर्मविभाषाशास्त्र के अतिरिक्त वसुबन्धु का अभिधर्मकोश बहुत लोकप्रिय हुआ। बाण की कादम्बरी इस लोकप्रियता की साक्षी देती है—शुकैरपि शाक्यशासन कुशलैः कोश समुपदिशद्भिः। द्वितीय बुद्ध कहे जाने वाले वसुबन्धु का समय निर्विवाद नहीं। तकाकुसु उन्हें पंचम शताब्दी का मानते हैं और फ्राडवाल्नर के अनुसार वे चतुर्थ शताब्दी में हुए। इस विवाद को दूर करने के लिए वसुबन्धु नाम के दो आचार्यों की बात सामने आई। पर यह ठीक नहीं।

वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में हुआ था। उन्होंने 'सांख्यसप्तति' के खण्डन मे 'परमार्थ सप्तति' की रचना की। इसके अतिरिक्त अभिधर्म कोश उनको अमर बनाने वाला अनुपमेय ग्रन्थ है। इसमें आठ कोशों में समाहित ६०० कारिकाओं में धातु, इन्द्रिय, लोकधातु, कर्म, अनुशय, आर्यपुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान पर विवेचन किया गया है। वसुबन्धु द्वारा लिखित ग्रन्थ में तर्कशास्त्र और वादविधि का भी नाम लिया जाता है। वसुबन्धु के अतिरिक्त मनोरथ और संघभद्र भी इसी काल में हुए हैं। संघभद्र के 'अभिधर्म न्यायानुसार' और 'अभिधर्म समय प्रदीपिका' नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमे वैभाषिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है।

सर्वास्तिवाद के उक्त दोनों सम्प्रदाय के आचार्यों में संक्रमण होता रहा। अतः कौन किस शास्त्र का अनुयायी है, यह कहना कठिन हो जाता है। अश्वघोष, आर्यशूर, दिङ्नाग आदि आचार्यों के विषय में यही समस्या है। सर्वास्तिवाद के प्रधान आचार्य के रूप में राहुलभद्र को भी माना जाता है। उनकी भाषा संस्कृत थी। उनके चिह्न उत्पल, पद्म, मणि और पर्ण थे। उनके नाम प्रायः मति, श्री, प्रभा, कीर्ति और भद्र में समाप्त होते थे। उनकी संघाटी में वैशिष्ट्य का उल्लेख मिलता है। उनके वस्त्र काले अथवा गाढ़े लाल रंग के होते थे। इ-चिं के अनुसार उनकी संघाटी का निचला भाग एक सीधी रेखा में कटा होता था। वे भिक्षा को सीधे हाथ में ले लेते थे।[1]

इनके अतिरिक्त महासांघिक, लोकोत्तरवाद, एकव्यावहारिक, कौक्कुटिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवाद, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय वैतुल्यक तथा वात्सीपुत्रीय,

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. २६७

सम्मतीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय एवं षण्णागरिक शाखाओं का साहित्य भी मिलता है, पर बहुत कम। कथावत्थु आदि कतिपय प्राचीन ग्रन्थों में उनके सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया गया है।

उक्त सम्प्रदायों में लोकोत्तरवादियों का एक अनुपमेय ग्रन्थ मिलता है—**महावस्तु**। इसमें बुद्ध के जीवन को लोकोत्तरात्मक रूप देने का यथाशक्य प्रयत्न किया गया है। लोकोत्तरवादी महासांघिकों का यह विनय-ग्रन्थ माना जाता है। इसके अनुसार बुद्ध प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्तनचर्या के अनुकरण से बुद्धत्व-प्राप्ति करते हैं। मिश्र संस्कृत में लिखित इस ग्रन्थ का समय-निर्धारण कठिन है। इसके प्राचीन अंश ई. पू. लगभग द्वितीय शताब्दी के जान पड़ते हैं और हूण आदियों के उल्लेख से इसके कुछ भाग लगभग चतुर्थ शताब्दी के लगते हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन और संस्कृति की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। प्राकृत का प्रभाव अधिक होने से इसका भाषावैज्ञानिक महत्त्व भी कम नहीं। हीनयान और महायान के बीच सेतु के रूप में भी महावस्तु का अध्ययन अपेक्षित है।

इस काल में पिटक-परम्परा में मतभेद हो गया था। सर्वास्तिवादी वैभाषिक अभिधर्म पिटक को मानते थे। कौक्कुटिक भी सूत्रपिटक और विनयपिटक की देसना को उपाय मात्र स्वीकार करते थे। वेहासांधिक परम्परागत त्रिपिटक के अतिरिक्त बोधिसत्त्वपिटक और संयुक्तपिटक को भी अङ्गीकार करते थे। धर्मगुप्तकों ने उक्त पाँच पिटकों के साथ ही धारणीपिटक और मन्त्रपिटक को और जोड़ दिया था। पूर्वशैलीय और अपरशैलीय सम्प्रदायों की प्रज्ञापारमिता प्राकृत भाषा में निबद्ध थी। हीनयानी संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के और भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जो निश्चित ही एक अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार्य हैं।

महायान का साहित्य

बौद्धधर्म के इतिहास से यह स्पष्ट है कि महायान का जन्म व्यक्ति को स्वाभाविक प्रक्रिया से निष्पन्न हुआ है। भाषाविज्ञान की तरह आध्यात्मिक चिन्तन में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। भगवान बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व को एक ओर लोकोत्तर बनाने का उपक्रम प्रारम्भ हुआ तो दूसरी ओर उनके प्रति व्यक्त श्रद्धा और भक्ति के माध्यम से निर्वाण प्राप्ति को अत्यन्त सुगम बना दिया। फलतः जनसाधारण और अधिक आकृष्ट होने लगा। इसी बीच विदेशी आक्रमण हुए और भारतीय संस्कृति से उनका परिचय हुआ। बौद्धधर्म के इस नवीन रूप ने उन्हें आकर्षित किया। परिणामस्वरूप तथा-कथित महायान बौद्धधर्म भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर देशान्तरों में सक्रमित हो गया। वहां भी पहुंचकर उसने तत्तद्देशीय संस्कृति को आत्मसात करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। यही कारण है कि महायान का विस्तार सम्प्रदाय और साहित्य के रूप में कहीं अधिक हुआ।

हीनयान और महायान शब्दों के पीछे जुगुप्सा का भाव भले ही भरा हो पर अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण महायान अधिक लोकप्रिय धर्म बना इसमें कोई सन्देह नहीं। उसकी उदारता और सहजता उसे यहां तक ले आयी कि एक समय सन्देह व्यक्त किया जाने लगा कि यह धर्म वास्तविक बौद्धधर्म है या नहीं। वस्तुतः बौद्धधर्म के मूल रूप में ही यह निर्देश है कि बुद्ध ने प्रथमतः यह अनुभव किया कि उनके अनुभूत धर्म को साधारण जन समुदाय ग्रहण नहीं कर पायेगा पर ब्रह्मयाचना के फलस्वरूप उन्होंने 'आशयानुभय' अथवा 'उपदेश कौशल' के आधार पर शिष्यों की योग्यतानुसार उन्हें अपना चिन्तन दिया। महायान का जन्म भी शायद यहीं से प्रारम्भ होता है। कालान्तर में वह विकृत रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं कि महायान का सम्बन्ध मूल बौद्धधर्म से बिलकुल नहीं और हीनयान ही एक-मात्र यथार्थ बुद्ध प्रवेदित धर्म है। तथ्य यह है कि हीनयान विकास का प्राथमिक रूप है और महायान उन्हीं सोपानों पर चरण बिखेरता हुआ आगे आने वाला विकसित रूप है। इस प्रकार विकासात्मक सीढ़ी से उसे पहचाना जाना चाहिए।

महायानी संस्कृत साहित्य का क्षेत्र विविध और विस्तृत है। अतः क्रमिक अध्ययन की दृष्टि से उसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सूत्र ग्रन्थ, (२) अवदान साहित्य और (३) दार्शनिक साहित्य।

(१) **सूत्र [1]ग्रन्थ**—महायानी सूत्र-साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी है। नांन्जियों की सूची में सूत्र काण्ड (सूत्रपिटक) के अन्तर्गत ५४१ महायान सूत्रों का उल्लेख मिलता है। इन सूत्रों को सात प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है—(१) प्रज्ञापारमिता, (२) रत्नकूट जिसमें सुखावती व्यूह भी है, (३) महासन्निपात (चन्द्रगर्भ आदि), (४) अवतंसक, (५) परिनिर्वाण, (६) विविध अनुदित सूत्र—सद्धर्मपुण्डरीक आदि और (७) सकृद् अनुदित सूत्र महावैरोचन आदि। यहां दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त से भिन्न ब्रह्मजालसूत्र और अभिधर्म पिटक के अन्तर्गत नागार्जुन आदि आचार्यों के ग्रन्थों का भी उल्लेख आता है।

शिक्षा समुच्चय में ९८ सूत्र-ग्रन्थों की सूची उपलब्ध है—अक्षयमति, अङ्गुलिमालिक, अध्याशयसंचोदन, अनन्तमुखनिर्हारधारणी, अपूर्वसमुद्गतपरिवर्त, अपरराजावादक, अवलोकना, अवलोकितेश्वरविमोक्ष, आकाशगर्भ, आर्यसत्यक-परिवर्त, उग्रपरिपृच्छा, उदयनवत्सराज परिपृच्छा, उपायकौशल्य, उपालिपरि-पृच्छा, ऋद्धिविकुर्वितविकुर्विते, कामावववादक, काश्यपपरिवर्त, क्षितिगर्भ, गगनगंज, गण्डव्यूह, गोचरपरिशुद्ध, चतुर्धर्मक, चन्द्रप्रदीप, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, चुन्दाधारणी, जम्भलस्तोत्र, ज्ञानवतीपरिवर्त, ज्ञानवैपुल्य, तथागतकोश, तथागत-गुह्य, तथागतबिम्बपरिवर्त, त्रिसमयराज, त्रिस्कन्धक, दशधर्म, दशभूमिक, दिव्या-वदान, धर्म संगीति, नारायण परिपृच्छा, नियतानियतावतारमुद्रा, निर्वाण, पितापुत्रसमागम, पुष्पकूटधारणी, प्रज्ञापारमिता-अष्टसाहस्रिका, प्रव्रज्यान्तराय, प्रशान्तविनिश्चयप्रातिहार्य, प्रातिमोक्ष, बृहत्सागरनागराजपरिपृच्छा, बोधिचर्या-वतार, बोधिसत्वपिटक, बोधिसत्वप्रातिमोक्ष, बुद्धपरिपृच्छा, भगवती, भद्रकल्पिक, भद्रचरीप्रणिधानराज, भिक्षुप्रकीर्णक, भैषज्यगुरुवैदूर्यप्रभ, मञ्जुश्रीबुद्धक्षेत्रगुण-व्यूहालंकार, मञ्जुश्रीविक्रीडित, महाकरुणापुण्डरीक, महामेघ, महावस्तु, मारीचि, मालासिंहनाद, मैत्रेयीविमोक्ष, रत्नकरण्ड, रत्नकूट, रत्नचूड, रत्नमेघ, रत्नराशि, रत्नोल्का, राजाववादक, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, लङ्कावतार, ललितविस्तर, लोकनाथ-व्याकरण, लोकोत्तरपरिवर्त, वज्रच्छेदिका वज्रध्वजपरिणामना, वाचनोपासिकावि मोक्ष, विद्याधरपिटक, विमलकीर्ति निर्देश, वीरदत्तपरिपृच्छा, शालिस्तम्भ, शूरङ्गम,

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ३२८–३३२.

श्रद्धाबलाधानावतारमुद्रा, श्रावकविनय, श्रीमालासिंहनाद, सद्धर्मपुण्डरीक, सद्धर्म-स्मृत्युपस्थान, सप्तमैथुनसंयुक्त, समाधिराज (चन्द्रप्रदीप), सर्वधर्म वैपुल्यसंग्रह, सर्व-धर्मप्रवृत्तिनिर्देश, सर्ववज्रधरमन्त्र, सागरमतिपरिपृच्छा, सिंहपरिपृच्छा, सुवर्ण-प्रभासोत्तम और हस्तिकक्ष्यसूत्र ।

महाव्युत्पत्ति में १०५ सूत्रों के नामोद्धरण मिलते हैं जिनमे कुछेक हीनयानी ग्रन्थों को छोड़कर शेष महायानी सूत्रों से सम्बद्ध है। उपर्युक्त शिक्षा समुच्चय में समागत सूची में उद्धृत ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों का और उल्लेख महाव्युत्पत्ति में मिलता है—शतसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता, पंचविंशति-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता, सप्तशतिकाप्रज्ञा०, पंचशतिकाप्रज्ञा०, त्रिशतिकाप्रज्ञा०, घनव्यूह, सुविक्रान्तविक्रामी, रत्नकेतु, तथागतमहाकरुणानिर्देश, द्रुमकिन्नरराज-परिपृच्छा, सूर्यगर्भ, बुद्धभूमि, तथागतचिन्त्यगुह्यनिर्देश, सागरनागराजपरिपृच्छा, अजातशत्रु-कौकृत्य-विनोदन, संधिनिर्मोचन, बुद्धसंगीति, महायानप्रसादप्रभावन, महायानोपदेश, आर्यब्रह्मविशेषचिन्तापरिपृच्छा, परमार्थसंवृत्तिसत्यनिर्देश, मंजु-श्रीविहार, महापरिनिर्वाण, अवैवर्तचक्र, कर्मविभंग, तथागतोत्पत्तिसंभवनिर्देश, भवसंक्रान्ति, परमार्थधर्मविजय, बोधिपक्षनिर्देश, सर्ववैदल्यसंग्रह, संघाटसूत्र, तथा-गतज्ञानमुद्रासमाधि, वज्रमेरुशिखर कूटागारधारणी, अनवतप्तनागराजपरिपृच्छा, सर्वबुद्धविषयावतारज्ञानालोकालंकार, व्यासपरिपृच्छा, सुबाहुपरिपृच्छा, महासा-हस्त्रप्रमर्दन, महास्मृत्युपस्थान, मैत्रीव्याकरण, अर्थविनिश्चय, महाबलसूत्र, विकुर्वा-णराजपरिपृच्छा एवं ध्वजाग्रकेयूर ।

इन ग्रन्थों में विशेषत: ये नव सूत्र प्रचलित हैं—अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता, गण्डव्यूह, दशभूमीश्वर, समाधिराज, लंकावतार, सद्धर्मपुण्डरीक, तथागतगुह्यक, ललितविस्तर तथा सुवर्णप्रभास । इन्हें **वैपुल्यसूत्र** भी कहा जाता है। इनमें सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर आदि सूत्रों में बुद्ध, बोधिसत्व, बुद्धयान आदि का माहात्म्य प्रदर्शित है और प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों में शून्यता तथा महाकरुणा का प्रतिपादन है । प्रज्ञापारमिता सूत्रों में अष्टसाहस्त्रिका प्राचीनतम सूत्र होगा । उसकी भाषा और शैली भी इस कथन का समर्थक है। यहां मात्र रूपकाय और धर्मकाय का उल्लेख मिलता है। संभोगकाय बाद में जोड़ा गया है। नागार्जुन का शून्यवाद प्रज्ञापारमिताओं पर ही आधारित है । विज्ञानवादी आचार्यों ने भी अपने सिद्धान्तों की प्रस्थापना में इनका उपयोग किया है । ये सभी सूत्र प्राय: द्वितीय से चतुर्थ सती के मध्य विरचित हैं। लंकावतार योगाचार सिद्धान्तों का समर्थक है । सद्धर्मपुण्डरीक महायान और हीनयान के बीच एक सेतु विशेष है। ललितविस्तर बुद्ध की भक्ति-मिश्रित परम्परा का पोषक है

इन्हें 'महायान सूत्र' भी कहा गया है। पूर्वशैलीय परम्परा में प्राकृत भाषा में निबद्ध प्रज्ञापारमिता का उल्लेख है। चीनी त्रिपिटक में विभिन्न पारमिताओं का संनिवेश किया गया है। कंजूर में शतसाहस्रिका, पंचविंशति साहस्रिका अष्टादश साहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, अष्टशतिका, सप्तशतिका, पंचशतिका, वज्रच्छेदिका, अल्पाक्षरा एवं एकाक्षरी पारमिता का संग्रह है[1]।

(२) **अवदान साहित्य**—अवदान (पालि 'अपदान') का तात्पर्य है लोककथाओं के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्तों को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य। इस विस्तृत सीमा में पारमिताओं का अभ्यास भी समाहित हो जाता है। पालि साहित्य में जो स्थान जातक कथाओं का है वही स्थान बौद्ध संस्कृत साहित्य में अवदान साहित्य का है। उनका मुख्य उद्देश्य है कर्म और उसके फल की व्याख्या करना। कथाओं का विभाजन प्राय: तीन प्रकार से मिलता है—अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न। हीनयान और महायान के सम्मिश्रित रूपों को प्रस्तुत करना अवदान साहित्य की विशेषता है।

अवदान साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सम्भवत: अवदानशतक होगा जिसका अनुवाद चीनी भाषा में २२३–२५३ई० के मध्य हुआ। दस अध्यायों में विभक्त अवदानशतक में कुछ कथायें हीनयान से सम्बद्ध हैं और कुछ कथायें महायान की व्याख्या करती हैं। दिव्यावदान भी इसी प्रकार महत्वपूर्ण अवदान ग्रन्थ माना जाता है। भाषा, शैली और विषय की असम्बद्धता उसे उत्तरवर्ती सिद्ध करती है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध मूल सर्वास्तिवादियों के विनयपिटक से रहा है। इनके अतिरिक्त कल्पद्रुमावदान, अशोकावदान, द्वाविंशत्यवदान, बोधिसत्त्वावदान, भद्रकल्यावदान, विचित्रकर्णिकावदान, अवदानकल्पलता आदि अवदान भी उपलब्ध होत हैं जिनमें अधिकांश अवदान अवदानशतक पर आधारित हैं।

बुनियो नंजियो ने कुछ महायानी विनय सूत्रों का उल्लेख किया है—बोधिचर्यानिर्देश, बोधिसत्व प्रातिमोक्षसूत्र, भिक्षुविनय, आकाशगर्भसूत्र, उपालिपरिपृच्छा, उग्रदत्तपरिपृच्छा, रत्नमेघसूत्र, और रत्नराशिसूत्र। इन सूत्रों के देखने यह स्पष्ट हो जाता है कि हीनयानी और महायानी विनय में बहुत अधिक अन्तर नहीं। महायान सिद्धान्तों का सुन्दर संग्रह नागार्जुन (?) के धर्मसंग्रह (सप्तमशती) में मिलता है। महाव्युत्पत्ति (नवीं शती) भी इसी दिशा का ग्रन्थ है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

---

१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, अध्याय ८

(३) दार्शनिक साहित्य

योगाचार और विज्ञानवाद—महायान के दार्शनिक साहित्य की भूमिका में प्रज्ञापारमिता सूत्रों का अमूल्य योगदान है। संक्षेप में कहा जाय तो उन्हें हम प्रस्थापक ग्रन्थ कह सकते हैं। इन सूत्रों के अनुसार बोधिसत्व को समस्त धर्मों में नैरात्म्य अथवा धर्मशून्यता को देखना चाहिए। इस सिद्धान्त ने शून्यवाद तथा योगाचार और विज्ञानवाद की भूमिका खड़ी कर दी। इससे एक ओर जहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि सकल धर्मों का स्वरूप शून्यतात्मक है वहाँ दूसरी ओर यह भी ध्वनित होता है कि इसमें चित्त का प्राधान्य है। प्रथम विकल्प से शून्यवाद की सिद्धि की गई और द्वितीय विकल्प से योगाचार तथा विज्ञानवाद का जन्म हुआ।

योगाचार योग और आचार शब्द का मिश्रित रूप है। शमथ और विपश्यना को प्राप्त कराने वाले मार्ग को योग कहते हैं। और उस योग के मार्ग का आचरण 'योगाचार' है[१]। और विज्ञानवाद वह है जो सकल मैधातुक को चित्तमात्र अथवा विज्ञानमात्र प्रदर्शित करे। इनके पूर्व सौत्रान्तिकों ने 'सूक्ष्म विज्ञान' और प्रज्ञप्तिवादियों ने 'मूल विज्ञान' की कल्पना कर ली थी। इसके बाद तिब्बती सूत्रों का योगदान है जिनका समय ई. पू. प्रथम शताब्दी से ई. तृतीय शताब्दी तक निर्धारित किया जाता है। तिब्बती जं-यं शद्-प-के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं—सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा घनव्यूह। सन्धिनिर्मोचन के अनुसार भगवान् बुद्ध तीन धर्म-चक्रों के प्रवर्तक थे—(१) चतुस्सत्य धर्मचक्रप्रवर्तन जो हीनयान में प्रचलित है, (२) अलक्षणत्व धर्मचक्रप्रवर्तन जिसे प्रज्ञापारमिताओं में अभिव्यक्त किया गया है, और (३) परमार्थविनिश्चय धर्मचक्रप्रवर्तन जो उक्त सूत्रों में सन्निहित है तथा योगाचार का प्रतिपादक है। तिब्बती सूत्रों के बाद शास्त्रीय युग में योगाचार विज्ञानवाद का प्रवेश हुआ जिसे मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु आदि आचार्यो ने पुष्पित और फलित किया। इनके बाद और भी भेद-प्रभेद दिखाई देते हैं।

मैत्रेयनाथ और असंग-योगाचार-विज्ञानवाद के प्रस्थापक के रूप में मैत्रेय नाथ का स्मरण किया जाता है। श्वां च्वाँग के अनुसार मैत्रेय ने योगाचारशास्त्र,

---

१. शमथविपश्यनायुगनद्धवाहो मार्गो योग इति योग लक्षणम्। शमथ इति समाधिरुच्यते। विपश्यना सम्यग्दर्शन लक्षणा। यथा युगनद्धौबलीवर्दौ वह वस्तथा यो मार्गः सम्यग्दर्शनवाही स योगः। तेनाचरतीति योगाचार उच्यते। ब्रह्मसूत्र, २.२.२८ पर भाष्य।

महायान सूत्रालंकार, मध्यन्त विभंगशास्त्र आदि ग्रन्थ असंग को तुषित लोक में दिये। अतः ये रचनायें असंग के गुरु मैत्रेयनाथ की होनी चाहिए। तारानाथ और बु-दोन परम्परा के अनुसार मैत्रेय ने असंग को निम्नलिखित पांच ग्रन्थ दिये—अभिसमयालंकार, सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग तथा महायानोत्तरतन्त्र। मैत्रेयनाथ और असंग का समय तृतीय–चतुर्थ शताब्दी माना जाता है।

मैत्रेय के ग्रन्थ प्रज्ञापारमिताओं पर आधारित हैं। अभिसमयालंकार के देखने से यह लगता है कि मैत्रेय माध्यमिक मत पर भी किञ्चित् दृष्टि रखते थे शायद इसीलिए उसे योगाचार-माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है।[1] महायान सूत्रालंकार २१ अधिकारों में विभक्त है—महायानसिद्धि, शरणगमन, गोत्र, चित्तोत्पाद, प्रतिभक्ति, तत्व, प्रभाव, परिपाक, बोधि, अधिमुक्ति, धर्मपर्येष्टि, देशना, प्रतिपत्ति, अवदनाशासन, सोपायकर्म, पारमिता, पूजा-सेवा-प्रमाण, बोधिपक्ष, गुण और चर्याधिकार। उत्तरतन्त्र माध्यमिक-प्रासंगिक ग्रन्थ है। इसमें बुद्ध, धर्म, संघ, गोत्र, बोधि आदि का विवेचन किया गया है। असंग, हरिभद्र, वसुबन्धु तथा विमुक्तिसेन ने इस पर टीकायें लिखी है। अभिसमय का तात्पर्य है तत्व का संदर्शन करना—साक्षात्कार करना। यही इसका योगाचारानुसार प्रतिपाद्य विषय है। इसके अतिरिक्त असंग को प्रज्ञापारमिता साधना,[2], गुह्यसमाज[3], मध्यान्तानुगमशास्त्र[4] आदि ग्रन्थों का भी प्रणेता माना गया है।

• **असंग** मैत्रेयनाथ के शिष्य थे। मूलतः वे कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणकुलीन परिवार के थे। पुरुषपुर उनका मूल निवासस्थान था। उनके दो सहोदर और थे—वसुबन्ध और विरिंचिवत्स। ये सभी प्रारम्भ में सर्वास्तिवादी थे, बाद में असंग के प्रयत्न से वे महायान में दीक्षित हो गये। कहा जाता है कि असंग ने कुक्कुटपाद पर्वत पर कठोर तपस्या कर मैत्रेयनाथ का दर्शन प्राप्त किया था

---

१. ऐक्टा ओरियन्टेलिया, १९३१, पृ. ८३, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४०७.
२. साधनमाला, भाग १, पृ. ३२१
३. गुह्यसमाजतन्त्र भूमिका—डॉ॰ भट्टाचार्य, पृ. XXXIV
४. तुची, जी. अनिमद्वेरसाइन्स इण्डिके, II JASB. भाग, २६, १९३०, पृ. १२९.

और उनके पांच ग्रन्थ भी मिले थे। बाद में असंग ने अभिधर्मसमुच्चय लिखा। तत्त्वविनिश्चय, उत्तरतन्त्र और संधिनिर्मचनसूत्रों पर टीकायें भी लिखी। असंग की अन्य रचनाओं में महायानसम्परिग्रह, अभिधर्मसमुच्चय एवं योगाचार भूमिशास्त्र योगा- चार–विज्ञनवाद की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। महायान संग्रह का चीनी अनुवाद बुद्ध-शान्त ने ई. ५३१ में तथा परमार्थ ने ई. ५३३ में प्रस्तुत किया था। योगाचारभूमिशास्त्र के ५ विभाग हैं—बहुभूमिकवस्तु, विनिश्चयसंग्रह, वस्तुसंग्रह, पर्यायसंग्रहह तथा विवरणसंग्रह। अभिधर्म की दृष्टि से यह ग्रन्थ मननीय है।

वसुबन्धु—वसुबन्धु असंग के अनुज थे। उनका समय ई० की पंचम शताब्दी (ई० ४२०–५००) मानी जाती है। एक अन्य परम्परा उन्हें ई० ३५० का भी बताती है। समय की तरह वसुबन्धु के दीक्षा गुरु के विषय में भी मतैक्य नहीं। बुदोन, परमार्थ और श्वांच्वांग की परम्परायें क्रमशः संघ-भद्र, बुद्धमित्र और मनोरथ को असंग का दीक्षा गुरु बताती हैं। कहा जाता है कि बुद्धमित्र को सांख्याचार्य विन्ध्वास ने शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इस पराजय का प्रतिकार करने के लिए असंग ने परमार्थसप्तति नामक ग्रन्थ लिखा। जैसा हम जानते हैं, प्रारम्भ में बसुबन्ध सौत्रान्तिक वैभाषिक मतानुयायी थे, परन्तु बाद में असंग के अनुरोध से वे महायानी परम्परा में योगाचार-विज्ञान-वाद में दीक्षित हो गये। अभिधर्मकोष उनकी प्रथम परम्परा का ग्रन्थ है और मध्यान्त विभागसूत्रभाष्य, त्रिस्वभावनिर्देश, विज्ञप्तिमात्रताविंशतिका, त्रिंशिका पंचस्कन्ध प्रकरण, व्याख्यायुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण, सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वज्रच्छे-दिका, प्रज्ञापारमिताशास्त्र तथा आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि ग्रन्थ द्वितीय परम्परा से सम्बद्ध हैं।

वसुबन्धु के सभी ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों से अप्रभावित नहीं रहे। फिर भी वे विज्ञानवाद के प्रस्थापक आचार्य कहे जा सकते हैं। विज्ञप्तिमात्रता, धर्मधातु और शून्यता समानार्थक शब्द हैं। 'धर्मों का विज्ञान-संसर्ग अभिधर्म का विज्ञानवाद है। यह विज्ञप्तिमात्रता नित्य है। अवतंसक, लंकावतार आदि सूत्रों में विज्ञानवाद के बीज मिलते हैं जिन्हें मैत्रेय, असंग ने पुष्पित किया है पर उन्हें फलित करने का श्रेय निश्चित ही वसुबन्ध को दिया जायगा।

वसुबंधु के प्रधान शिष्य चार थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ तथा दिङ्नाग। स्थिरमति ने त्रिंशिकाभाष्य, मध्यान्त विभंगसूत्रभाष्य टीका, अभिधर्मकोषव्याख्या, अभिधर्मसमुच्चय, काश्यपपरिवर्त व्याख्या तथा वसुबन्धु

की अन्य रचनाओं पर व्याख्यायें लिखी हैं। स्थिरमति के शिष्यों में पूर्णवर्धन, जिनमित्र तथा शीलेन्द्रबोधि के नाम उल्लेखनीय हैं। विमुक्तिसेन की अभिसमयालंकार पर व्याख्या प्रसिद्ध है। स्थिरमति माध्यमिक और विज्ञानवाद के मध्यगामी पथिक थे।

दिङ्नाग—वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्र के पिता कहे जाते हैं। वे दक्षिण के कांजीपुरम् के समीपवर्ती सिंहचक्र ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। उनका समय ई. ४४५ से ५७५ के बीच रखा जा सकता है। उनके प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—अभिधर्मकोषमर्मप्रदीप, अष्टसहस्त्रिका-पिण्डार्थ, त्रिकाल परीक्षा, आलम्बन परीक्षा, हेतुचक्रसमर्थन, न्यायमुख, प्रमाण-समुच्चय आदि। इनमें प्रमाणसमुच्चय सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त दार्शनिक ग्रन्थ माना गया है। दिङ्नाग के योगदान को हम निम्न विशेषताओं में देख सकते हैं।

(१) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रिविध भेद।

(२) सभी (प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष एवं अनुमान) मे किया जाना।

(३) पञ्च अवयवों प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय तथा निगमन में अन्तिम दो अवयवों को निरर्थक सिद्ध करना। उन्होंने अनुमान को अधिक महत्व दिया।

ईश्वरसेन और **शंकरस्वामी**—दिङ्नाग के शिष्यों में ईश्वरसेन और शंकर स्वामी प्रधान शिष्य थे। शंकर स्वामी ने हेतुविद्या न्यायशास्त्र और न्याय-प्रवेशतर्कशास्त्र नामक दो ग्रन्थों की रचना की। चीनी भाषा में उनका अनुवाद भी हुआ है।

धर्मपाल—वसुबन्धु के शिष्य थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—आलम्बन प्रत्यय-ध्यान शास्त्रव्याख्या, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या, और शतशास्त्रव्याख्या। उनका समय सप्तम शती है।

धर्मकीर्ति—बौद्धन्याय को समालोकित करने का श्रेय धर्मकीर्ति को है। उनकी अगाध विद्वत्ता और तीक्ष्ण तर्कशीलता स्पृहणीय है। उनका जन्म दक्षिणवर्ती त्रिमलय में हुआ था। पिता का नाम कोरुनन्द था।[१] वे धर्मपाल के शिष्य थे। धर्मपाल ई० ६४२ तक रहे अतः धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दी माना जाना चाहिए। डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने यह समय ई० ६२९–

---

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग १, पृ. ५४; दर्शन दिग्दर्शन, पृ. ७४१.

६८५ तक रखा है।[1] धर्मकीर्ति के प्रधान ग्रंथ हैं—प्रमाणवार्तिक (स्ववृत्ति सहित), न्यायबिंदु, प्रमाणविनिश्चय, संतानांतरसिद्धि, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सम्बंधपरीक्षा एवं चोदना प्रकरण। इन ग्रंथों में प्रमाणवार्तिक अधिक अध्ययन का विषय बना। इस पर देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, धर्मोत्तर, आनंदवर्धन ज्ञानश्री, प्रज्ञाकरगुप्त आदि आचार्यों ने टीकायें लिखीं हैं।

धर्मकीर्त्ति का प्रभाव जैनाचार्य अकलंक पर अधिक पड़ा। उन्होंने धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए उनका तर्कपूर्वक खण्डन किया। उद्योतकर आदि आचार्यों की भी आलोचना के वे पात्र बने। विज्ञप्ति मात्रता को उन्होंने और भी व्यवस्थित किया। प्रमाण लक्षण में अभ्रान्त पद का सन्निवेश किया। स्वसंवेदन का समर्थन किया।[2] बौद्धदर्शन में उनका यह योगदान नितान्त मौलिक था।

प्रज्ञाकरगुप्त—आचार्य प्रज्ञाकरगुप्त का समय अष्टम शताब्दी का प्रथम चरण माना जाना चाहिए। विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द, वादिराज, वादिदेव सूरि आदि जैनाचार्यों ने प्रज्ञाकरगुप्त को उद्धृत किया है। वे धर्मकीर्ति के उत्तरवर्ती काल के समकालीन आचार्य थे। अकलंक ने भी उनके ग्रन्थों का आलोडन किया था। प्रमाणवार्तिकालङ्कार प्रज्ञाकरगुप्त का प्रधान ग्रन्थ है। विनीतदेव प्रज्ञाकरगुप्त के शिष्य माने जाते हैं। बुदोन परम्परानुसार विनीतदेव के ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—समयभेदोपरचनाचक्र, न्यायबिन्दुटीका, हेतुबिन्दुटीका, वादन्याय व्याख्या, सम्बन्धपरीक्षा टीका, आलम्बनपरीक्षा टीका और सन्तानान्तरसिद्धिटीका। यमारि (नवमी शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकालंकारटीका भी यहां उल्लेखनीय है।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्य और उनके ग्रन्थ और उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ देवेन्द्रबुद्धि अथवा देवेन्द्रमति (सप्तम-अष्टम शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकटीका, शंकरानन्द की प्रतिबन्धसिद्धि, अपोहसिद्धि, सम्बन्धपरीक्षानुसार और प्रमाणवार्तिकटीका, जिनेन्द्र बुद्धि अथवा जितेन्द्रबोधि की प्रमाणसमुच्चयटीका, कल्याणरक्षित (अष्टम–नवम शताब्दी) का अन्यापोहसिद्धि, ईश्वरभङ्गकारिका, सर्वज्ञसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षाकारिका और बाह्यार्थ सिद्धिकारिका, रविगुप्त (अष्टम शताब्दी) की प्रमाणवार्तिकवृत्ति, अर्चट (धर्माकरदत्त) (अष्टम शताब्दी प्रथम चरण) की हेतुबिन्दुटीका, क्षणभङ्गसिद्धि, और प्रमाण-

१. सिद्धिविनिश्चय टीका, भाग १, भूमिका पृ. २७.

२. वही, पृ. २७-८

द्वैतसिद्धि, शान्तभद्र (७२५ ई.) की न्यायबिन्दुटीका, दुर्वेकभिक्षु की न्याय-बिन्दुटीका टिप्पण, कर्णकगोमिन् (अष्टम सदी का प्रथम चरण) की प्रमाण-वार्तिक वृत्ति, धर्मोत्तर (सप्तम सदी का अन्तिम चरण) की प्रमाण परीक्षा, अपोहप्रकरण, परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि, हरिभद्र (दशम सदी) का अभिसमयालङ्कारालोक, प्रज्ञापारमिताटीका आदि। इन ग्रन्थों और उनके प्रणेताओं के योगदान ने विज्ञानवादीय शाखा को अत्यन्त समृद्ध किया है। दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से भी ये बहुत महत्वपूर्ण हैं। जैन और जैनेतर आचार्यो पर भी इनका प्रभाव दिखाई देता है। उसका अध्ययन अपेक्षित है।

शून्यवाद अथवा माध्यमिक साहित्य

माध्यमिक सम्प्रदाय की विशेषता है कि वह हीनयान द्वारा मान्य सत् और असत् के बाद एक अनिर्वचनीय तत्व को भी स्वीकार करते है। उनके अनुसार समस्त पदार्थ जगत् स्वभावतः शून्य है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस सिद्धान्त को बौद्ध साहित्य में पुद्गलनैरात्म्य, धर्नैरात्म्य अथवा स्वभावशून्यता कहा जाता है। प्रज्ञापारमितासूत्रों का यही अभिधेय है। इसे बोधिसत्व सिद्धान्त भी कहा जाता था।

नागार्जुन—नागार्जुन शून्यवाद-माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रस्थापक और व्यवस्थापक आचार्य थे। उनका जन्म-स्थान कुमारजीव (ई० ४०५) के अनुसार विदर्भ और सुआन-च्वांग के अनुसार दक्षिण कोल था। चीनी परम्परा, महामेघसूत्र और बुदोन परम्परा में नागार्जुन का जन्म क्रमशः बुद्ध परिनिर्वाण के ७००, ४०० और ४०० वर्ष बाद हुआ। आचार्य जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न थे। दाक्षिणात्य ब्राह्मण होने के कारण वे वेदों के मार्मिक अध्येता तो थे ही, साथ ही कालान्तर में बौद्धभिक्षु बनने पर उन्होंने तीन माह में ही समूचा त्रिपिटक हृदयस्थ कर लिया था। एक कुशल चिकित्सक और रसायनशास्त्रज्ञ होने के कारण बौद्धधर्म के मर्म को समझने में उन्हें द्रविड़-प्राणायाम नहीं करना पड़ा। विद्याधारी होने से उन्हें महायान सूत्र उपलब्ध हुआ। उनकी शायद यही शून्यवाद की प्रस्थापना की भूमिका होगी।

नागार्जुन का कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत अधिक रहा है। धान्यकटक-श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंड, गुन्टुर) उनकी प्रचार-भूमि रही है। इनके समय के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं। तारानाथ के अनुसार वे कनिष्क के समकालीन थे। तिब्बती परम्परा इनका समय २१२–४८२ ई० मानती है। परन्तु उनकी

समसामयिकता यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६–१९६ ई०) के साथ अधिक युक्तिसंगत है। सातवाहन राजाओं का भी नागार्जुन के साहित्य में उल्लेख मिलता है। अतः उनका समय द्वितीय-तृतीय शताब्दी माना जा सकता है। प्रभावाधिक्य और लोकप्रियता होने के कारण ही शायद नागार्जुन का जीवनकाल विविध परम्पराओं में ३०० और ६०० वर्षों तक रहा हो। समस्त परम्पराओं के देखने से यह स्पष्ट है कि नागार्जुन का जीवन महायान के 'अतिरेक्य' वैशिष्ट्य से आपूर है। तान्त्रिक आचार्यों के रूप में भी वे प्रसिद्ध हैं। सत्य है कि वे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी आचार्य थे।

नागार्जुन एक कुशल लेखक और विद्वज्जनप्रेमी व्यक्ति थे। आर्यदेव को शिष्यत्व प्रदान करने के लिए उनकी परीक्षा का प्रकार बेजोड़ था। नागार्जुन के लगभग २० ग्रन्थों में उस व्यक्तित्व की विद्वत्ता और गहन तर्कप्रवीणता द्रष्टव्य है। चीनी अनुवाद में उनके २० ग्रन्थ सुरक्षित हैं। बुनियो नांजियो ने कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया है—माध्यमिक कारिका (माध्यमिक शास्त्र), दशभूमिविभाषाशास्त्र, महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, उपायकौशल्य, प्रमाणविध्वंसन, विग्रहव्यावर्तनी, चतुःस्तव, युक्तिषष्टिका, शून्यता सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पाद हृदय, महायानविंशक और सुहृल्लेख। प्रायः इन सभी ग्रन्थों पर चीनी अनुवाद उपलब्ध होता है। ये सभी रचनायें शून्यतावाद की प्रतिष्ठापना में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता हैं। इनमें मुख्य रचनायें हैं—महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, माध्यमिककारिका और विग्रहव्यावर्तनी। यहाँ संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के आधार पर जगत को शून्यात्मक बताने का सफल प्रयत्न किया है।

नागार्जुन का नाम चौरासी सिद्धों में गिना जाता है। महा० राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें सोलहवां सिद्ध कहा है और काञ्ची का ब्राह्मण तथा सरहपाद का शिष्य बताया है। ब्लू एनल्स में उन्हें दक्षिण में गुह्यसमाज का संस्थापक माना गया है (२, पृ. ७५३)। कुमारजीव ने चीनी भाषा में ई० ४०५ में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया है। अतएव नागार्जुन का समय इसके पूर्व ही माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से चौरासी सिद्धों में उल्लिखित नागार्जुन कोई और ही होंगे।

आर्यदेव और उनके ग्रन्थ

आचार्य आर्यदेव शून्यवाद के अन्यतम आचार्य हैं। उनके विषय में देश देशान्तरों में अनेक परम्परायें प्रसिद्ध हैं। बुदोन परम्परा के अनुसार आर्यदेव का जन्म सिंहल में हुआ था। चन्द्रकीर्ति की भी यही मान्यता है। तत्कालीन

राजा के सान्निध्य में आर्यदेव तरुण हुए, प्रव्रजित हुए और वहीं से दक्षिण भारत में आकर नागार्जुन से दीक्षा ग्रहण की। इस प्रसंग में एक घटना उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने शिष्यत्व दीक्षा देने के पूर्व आर्यदेव की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने आर्यदेव के समक्ष आपूर जलपात्र भेजा। आर्यदेव ने उसमें सूचिका (सुई) डालकर उसे वापिस कर दिया। आपूर जलपात्र नागार्जुन के ज्ञानोदधि का प्रतीक है और सूचिका-भेद आर्यदेव द्वारा उसमें किये गये अवगाहन का द्योतक है। यह प्रतीकात्मक पद्धति दोनों आचार्यों के व्यक्तित्व का सदर्शन है।

इसी प्रकार एक अन्य घटना विश्रुत है। दक्षिण में आर्यदेव के समय में महेश्वर की एक रमणीक स्वर्ण-प्रतिमा थी। उसके विषय में यह जनश्रुति थी कि उसके समक्ष अभिव्यक्त कामना फलदायी होती थी। इस जनश्रुति को मात्र वञ्चक सिद्ध करने के उद्देश्य से उन्होंने उसका एक नेत्र भंग कर दिया और अहंकाराभाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वतः अपना नेत्र भी विनष्ट कर लिया। इसी घटना से सम्बद्ध एक अन्य परम्परा भी प्रसिद्ध है। बुदोन के अनुसार आर्यदेव नालन्दा गये। वहां मातृचेट नामक माहेश्वर से शास्त्राथ किया और सद्धर्म की रक्षा की। श्रीपर्वत से नालन्दा जाते हुए आर्यदेव ने वृक्ष-देवता को अपना एक नेत्र समर्पित कर दिया। एक नेत्र न होने कारण उन्हें 'काणदेव' कहा जाता था।

कहा जाता है कि नेत्र-विहीन होने पर भी वे सहस्रनेत्रवान् से अधिक ज्ञानी थे। श्वां-च्वांग के अनुसार परवर्ती बौद्धधर्म में नागार्जुन, अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध अथवा कुमारलात ऐसे चार प्रतिभाशील आचार्य हुए है जिन्हे "संसार को आलोकित करने वाले चार सूर्य" कहा जा सकता है। आर्यदेव निश्चित ही कुशल तार्किक और प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। चतुःशतक आदि ग्रन्थों में उनकी विद्वत्ता का दर्शन होता ही है।

आर्यदेव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। पीछे हम आचार्य नागार्जुन का समय चतुर्थ शताब्दी के पूर्व निश्चित कर चुके हैं। आर्यदेव नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे। अतः उनका समय भी लगभग यही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ और प्रमाण इसके पक्ष में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

१—तारानाथ, सुम्पा, ब्लू एनल्स एवं चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति ने चौरासी सिद्धों का विवरण प्रस्तुत किया है। उसमें नागार्जुन को सोलहवां और आर्यदेव (कर्णरिपा) को अठारहवां सिद्ध बताया है। साधारणतः इन सिद्धों का काल ८ से १२वीं शताब्दी माना जाता है। परन्तु इस प्रकार समय का निर्धारण

सम्भव नहीं। यह अधिक सम्भव है कि परवर्ती बौद्ध साहित्य और दर्शन के विकास में जिन आचार्यों का योगदान अधिकाधिक हुआ होगा उनकी गणना सिद्धों में कर ली गई होगी। अतएव चौरासी सिद्धों की रचना एक समूचे विकास का परिणाम है, एक काल का नहीं। नागार्जुन और आर्यदेव को जीवनियों का अनुवाद कुमारजीव ने ई० ४०५ में किया है। अतएव इनका समय तृतीय शताब्दी का द्वितीय-तृतीय चरण होना चाहिए।

२—आर्यदेव के चतुःशतक को देखने से यह स्पष्ट है कि उसकी भाषा और शैली उपरोक्त काल से उत्तरवर्ती नहीं। भाषा की सरलता और सहजता ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों की विशेषता है। यह विशेषता वहां द्रष्टव्य है।

३—सांख्य, जैनादि दर्शनों की खण्डन परम्परा में आर्यदेव का योगदान भी उक्त काल के बाद का नहीं दिखाई देता है।

इन सभी कारणों से आर्यदेव को तृतीय शताब्दी का दार्शनिक माना जाना चाहिए। डॉ० लालमणि जोशो ने उनको आठवीं शताब्दी का दार्शनिक स्वीकार किया है।[1] परन्तु उक्त तर्कों के आधार पर उनका मत तर्क संगत नहीं लगता। और न ही चौरासी सिद्धों के आर्यदेव और चतुःशतक के लेखक आर्यदेव के बीच अपृथगत्व दिखाई देता है।

आर्यदेव के नाम पर अनेक ग्रन्थों का उल्लेख आया है—माध्यमिक चतुश्शतिका, माध्यमिक हस्तबालप्रकरण, स्खलितप्रमथन युक्तिहेतुसिद्धि तथा ज्ञानसारसमुच्चय। डॉ० हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से आर्यदेव के एक अन्य ग्रन्थ की खोज की है। चूँकि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेखक का नामोल्लेख नहीं है फिर भी उन्होंने उसे आर्यदेव का ग्रन्थ माना है। उनके मतानुसार, ऐसा लगता है, वे शून्यवादी आर्यदेव एवं तान्त्रिक आर्यदेव को अपृथक् मानते हैं[2]। परन्तु यह उचित नहीं। नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव को तान्त्रिक आर्यदेव से नितांत भिन्न होना चाहिए। शून्यवादी आर्यदेव के चतुःशतक, चित्तविशुद्धिप्रकरण तथा हस्तबालप्रकरण नाम के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अन्तिम दो ग्रन्थों के विषय में मतैक्य नहीं, परन्तु हमारे मत से उनका लेखक नागार्जुन का शिष्य आर्यदेव ही होना चाहिए। चतुःशतक को बोधिसत्व योगाचारशास्त्र भी कहा गया है। जो इस बात का सूचक है कि यह ग्रन्थ बोधिसत्व सिद्धान्त और शून्यतावाद के बीच समन्वय-प्रस्थापन की मृदु भूमिका रही है।

---

१. स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इन्डिया, पृ० ३३६

२. बौद्धगानओ दोहा

(१) **चतुःशतक**—जैसा ग्रन्थनाम से स्पष्ट है, इसमें चार सौ कारिकायें हैं जो सोलह प्रकरणों में विभाजित की गई हैं। प्रत्येक प्रकरण पच्चीस कारिकाओं का है। ग्रन्थ के दो भाग हैं। स्वमतस्थापन एवं परमतखण्डन। दोनों भागों में आठ-आठ प्रकरण संनियोजित हैं। इन प्रकरणों परचन्द्रकीर्ति की व्याख्या भी उपलब्ध है। व्याख्या सहित अष्टम प्रकरण से सोलहवें प्रकरण तक के भाग का सम्पादन महा० डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य ने द्वितीय भाग के रूप में किया था जो १९३१ में विश्व भारती से प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व डॉ० परशुराम वैद्य एवं महा० हरप्रसाद शास्त्री ने भी इसी ग्रन्थ पर कार्य किया था। चतुःशतक के सोलह प्रकरणों के नाम एवं विषय इस प्रकार हैं—१. नित्यग्राहप्रहाणोपाय-सन्दर्शन, २. सुखग्राहप्रहाणोपाय; ३. [illegible]; ४. आत्मग्राह अथवा अहंकारप्रहाणोपाय; ५. बोधिसत्वचर्या; ६. क्लेशप्रहाणोपाय; ७. मनुमेष्टिसंभोग-विनिवेषप्रहोणोपाय; ८. शिष्यचर्या; ९. नित्यार्थप्रतिषेधभावनासंदर्शन; १०. आत्म-प्रतिषेध भावना; ११. कालप्रतिषेधभावना; १२. दृष्टिप्रतिषेधभावना; १३. इन्द्रि-यार्थप्रतिषेधभावना; १४. अन्तग्राहप्रतिषेधभावना; १५. संस्कृतार्थप्रतिषेधभावना, एवं १६. गुरुशिष्यविनिश्चय भावना संदर्शन। उत्तर भाग पर धर्मपाल ने भी व्याख्या लिखी थी। उसके अनुसार चतुःशतक के विषय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—धर्मशासन एवं विग्रहशतक। धर्मदास ने प्रत्येक कारिका के साथ दृष्टान्तों का संयोजन किया था।

(२) हस्तवालप्रकरण अथवा मुष्टिप्रकरण

बुनियों नान्जियों की सूची Catalogue of the chinese Translation of the Buddhist Tripitaka) में एक प्रति का उल्लेख है जिसका नाम है मुष्टिप्रकरण (?) शास्त्र (तालान्तरक शास्त्र)। इसका अंग्रेजी में अनुवाद "Shastra on the explanation of the first" नामक शीर्षक से किया गया है। इसे चीनी साहित्य में दिग्नाग (Gina) का कार्य बताया गया है और तिब्बती साहित्य में आर्यदेव का। Sir M.A. Stein के द्वारा Tun-huang से लायी गई प्रतियों में इस ग्रन्थ की भी तीन प्रतियाँ थीं जिन्हें आर्यदेव द्वारा रचित बताया गया है। चीनी प्रतियां परमार्थ (५५७–५६९ ई०) और ईत्सिंग (७०३ ई०) के समय की हैं। दोनों प्रतियों के अध्ययन से लगता है कि चीनी प्रतियों में उल्लिखित दिङ्नाग शायद व्याख्याकार रहा

होगा ।[1] इस ग्रन्थ में कुल छः कारिकायें हैं । प्रथम पांच कारिकाओं में संसार के मायावी स्वरूप का वर्णन और अन्तिम कारिका में परमार्थ का निरूपण है ।

(३) चित्तविशुद्धिप्रकरण

इस ग्रन्थ में वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध किया गया है और तान्त्रिक बातों की प्रस्थापना की गई है । इसमें वार और राशियों के भी नाम मिलते हैं । इन आधारों पर कुछ विद्वान उसे आर्यदेव का ग्रन्थ नहीं मानते । परन्तु यह ठीक नहीं । चतुःशतक में भी ये बातें किसी सीमा तक प्राप्त होती हैं । अतः यह ग्रन्थ चतुःशतक के लेखक आर्यदेव का ही होना चाहिए । बुस्तोन ने इसे "चित्तावरणविशोधन" नाम से उल्लिखित किया है ।[2]

प्रासंगिक और स्वातन्त्रिक शाखायें

नागार्जुन और आर्यदेव के प्रबल तर्कों से शून्यवाद की स्थापना हो चुकी थी फिर भी इसका विषय जनसाधारण को हृदयग्राह्य नहीं था । लगभग पञ्चम-षष्ठ शताब्दी में माध्यमिक सम्प्रदाय में मतभेद हुआ और फलतः प्रासङ्गिक और स्वातन्त्रिक शाखाओं का जन्म हुआ । बुद्धपालित और भावविवेक इन दोनों शाखाओं के क्रमशः संस्थापक माने गये है ।

प्रासङ्गिक मत के अनुसार सभी पदार्थ स्वभावतः शून्य हैं । वहाँ दृष्टान्त का कोई तात्पर्य नहीं, तथा अनुमान का कोई अर्थ नहीं । अतः स्वभावशून्यता के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है । चन्द्रकीर्ति संवृत्ति सत्य को लोकसंवृति और अलोकसंवृति के भेद से दो प्रकार का मानते हैं । प्रासंगिकमत की दृष्टि में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार संवृतिसत्य है परन्तु सापेक्षता के कारण वह स्वभावशून्य है । इस सिद्धान्त के विरोध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये जिनके समाधान के लिए स्वातन्त्रिक शाखा की स्थापना हुई । यह शाखा विज्ञानवाद से प्रभावित थी । इसमें परमार्थ पर विशेष ध्यान दिया गया । उसके दो भेद माने गये— पर्याय परमार्थ (अभिसंस्कृत) और अपर्याय परमार्थ (अनभिसंस्कृत) । सवृति के भी तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति के भेद से दो भेद कर दिये गये । ज्ञान भी परोक्ष और अपरोक्ष है । अपरोक्षज्ञान के माध्यम से ही परमार्थ का

---

१. थामस, एफ. डब्ल्यू. दी हेन्ड ट्रीटाईज, ए वर्क आफ आर्यदेव JRAS. (१६१८), पृ. २६७ ।

२. शास्त्री, हरप्रसाद, JASB. (१८६८) पृ. १७५

साक्षात्कार करना सम्भव होता है। ह्यून-श्वांग ने स्वातन्त्रिकों पर सांख्य का प्रभाव माना और तिब्बती आचार्यों ने उन्हें माध्यमिक सौत्रान्तिक कह दिया।[१]

बुद्धपालित के विषय में हमें अधिक ज्ञात नहीं। उन्होंने लगभग पञ्चम शताब्दी में नागार्जुन की माध्यमिक कारिका पर एक वृत्ति लिखी थी जो तिब्बती साहित्य में उपलब्ध है। उन्होंने चन्द्रकीर्ति के सप्तम शती की प्रथम-द्वितीय चरण में माध्यमिक कारिका पर 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति लिखी। उनके माध्यमिकावतार और चतुःशतक वृत्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। बुद्धपालित ने भावविवेक को खण्डित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। नागार्जुन के ये सफल व्याख्याकार सिद्ध हुए। **चन्द्रकीर्ति** धर्मपाल के शिष्य थे तथा भव्य और कमलसिद्धि के सान्निध्य में उन्होंने नागार्जुन का अध्ययन किया था। बुदोन परम्परा उन्हें दक्षिणवासी तथा अलौकिक शक्तियों का पुञ्ज मानती है। चित्रलिखित गाय का दोहन और विना स्पर्श किये पाषाण को स्वर्ण बना देना उनकी शक्तियों के विशेष रूप हैं। नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति प्रासंगिक सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य थे। इस सम्प्रदाय को "लोकप्रसिद्धि वर्गाचारि माध्यमिक" भी कहा गया है।

स्वातन्त्रिक शाखा के प्रधान आचार्य है **भव्य** अथवा **भावविवेक**। उन्होंने बुद्धपालित के सिद्धांतों का सूक्ष्म तर्कों से खण्डनकरने का प्रयत्न किया। ये धर्मपाल के समसामयिक और शीलभद्र के आचार्य है। अतः उनका समय छठी शताब्दी माना जा सकता है। महायान करतल रत्नशास्त्र, माध्यमिक हृदयकारिका, मध्यमार्थ संग्रह, तथा माध्यमिक कारिकाओं पर प्रज्ञाप्रदीप नाम की उनकी वृत्ति मिलती है। भावविवेक के बाद ज्ञानगर्भ ने माध्यमिक सत्यद्वय अथवा सत्यद्वयविभंग नामक ग्रन्थ लिखा। बुदोन परम्परा भावविवेक को योगाचार माध्यमिक सम्प्रदाय का आचार्य मानती है। तदनन्तर अवलोकित ने माध्यमिकशास्त्र पर भव्य द्वारा लिखित टीका पर प्रज्ञाप्रदीपटीका नामक अनुटीका लिखी। ज्ञानगर्भ और अवलोकित का समय आठवीं शताब्दी होना चाहिए।

शांतिदेव—शून्यतावाद के अन्यतम मूर्धन्य समर्थक आचार्य शान्तिदेव का समय सप्तम शताब्दी माना जाता है। तारानाथ के अनुसार सौराष्ट्र में उनका जन्म हुआ था। वे श्रीहर्ष के पुत्र शील के समसामयिक थे। धर्मपाल के वे शिष्य थे। बुदोन परम्परा में भिक्षु होने के पूर्व उन्हें शांतिवर्मन् कहा जाता

---

१. जोशी, लालमणि, स्टडीज इन दी बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया, पृ. २२१।

था। सौराष्ट्र के कल्याणवर्मन् के वे सुपुत्र थे। दक्षिण भारत भी उनका कार्य-क्षेत्र रहा है। मञ्जुश्री उनके आराध्यदेव थे। बुदोन और सुम्पाखान्पो परम्परायें शान्तिदेव को एवं भू-शू-कू को एक ही व्यक्तित्व मानती है। उन्होंने शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार ग्रन्थों का निर्माण किया। कुछ तन्त्रग्रंथ भी उनके नाम पर हैं। डॉ० हरप्रसाद शास्त्री भी भू-शू-कू को शान्तिदेव ही मानते है। शान्तिदेव का शिक्षा समुच्चय और बोधिचर्यावतार माध्यमिक सम्प्रदाय के अमूल्य ग्रन्थ हैं।

प्रज्ञाकरमति (सातवीं-आठवीं शताब्दी) ने शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर पञ्जिका लिखी। शिक्षा समुच्चय में उल्लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त इसमें अनेक ग्रन्थों और आचार्यों के नामों का उल्लेख है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है। शील भद्र (सातवीं शताब्दी) ने आर्यबुद्धभूमी व्याख्यान नामक ग्रन्थ लिखा जो तिब्बती भाषा में सुरक्षित है। सिंहरश्मि (षट्शास्त्र और प्रज्ञामूलशास्त्र के रचयिता) जयसेन, प्रज्ञागुप्त, भर्तृहरि (?) चन्द्र, चन्द्रगोमिन आदि आचार्यों का भी योगदान अविस्मरणीय है।

शान्तरक्षित का समय अष्टम शताब्दी माना जाता है। वे नालन्दा विद्यापीठ के अधिष्ठाता और बौद्धदर्शन के प्रमुख व्याख्याता रहे। उनका तत्वसंग्रह नाम का संस्कृत में लिखित ग्रन्थ सर्वत्र विश्रुत है। वेदान्त, सांख्य, जैन, वैशेषिक आदि सभी दर्शनों की समालोचना इस ग्रन्थ में की गई है। बौद्धदर्शन का यह महनीय ग्रन्थ है। तारानाथ के अनुसार शान्तरक्षित के अन्य ग्रन्थ हैं—म[illegible]वृत्ति, वादन्यायवृत्तिविपञ्चितार्थ, हेतुचक्रडमारु, तत्व-सिद्धि आदि।

शान्तरक्षित की कृपा से कमलशील को तिब्बत पहुँचने का निमन्त्रण मिला। वहां उन्होंने नागार्जुन-दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। कहा जाता है कि उनके व्यक्तित्व से ईर्ष्या करने वाले कुछ लोगों ने उनकी जीवन लीला को समाप्त कर दिया। उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—तत्वसंग्रह पञ्जिका, न्यायबिन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप, माध्यमिकालोक और भावनाक्रम। उन्हें आर्यसप्तशतिका प्रज्ञापारमिता टीका, आर्यवज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-टीका, प्रज्ञापारमिता हृदयनामटीका, दाकिनीवज्रगुह्यगीतिनाम महोपदेश एवं महामुद्रोपदेश वज्रगुह्यगीति नामक ग्रन्थों के भी लेखक के रूप में तिब्बती परम्परा में स्मरण किया जाते हैं। शान्तरक्षित और कमलशील के ग्रन्थो में माध्यमिक योगाचार के और तत्व उपलब्ध होते हैं। इस दृष्टि से शान्तरक्षित का महत्व और अधिक सिद्ध हो जाता है।

———

तान्त्रिक बौद्ध साहित्य

तन्त्र शब्द की निष्पत्ति तन् धातु से विस्तार अर्थ में हुई है। कालान्तर में इसी शब्द का प्रयोग बुनने के अर्थ में होने लगा। प्रतीकात्मक रूप से पुस्तक अथवा संग्रह के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद में इस शब्द का प्रवेश आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हुआ। अध्यात्म मानवीय और ईश्वरीय शक्ति से सम्बद्ध रहता है। मानव ईश्वरीय कृपा-प्राप्ति के उद्देश्य से इष्टदेव की विविध उपासना करता है। शक्ति विशेष को समन्वित करने के लिए उपासना की पद्धतियों में क्रमिक विकास होता जाता है। इस सन्दर्भ में ज्ञान की अपेक्षा क्रिया का महत्व अधिक बढ़ जाता है।

शक्ति की उपासना व्यक्ति की दुर्बलता की अनुभूति पर निर्भर करती है। उपासना दुर्बलताजन्य भावों को उद्दीप्त करने का मात्र आयास है। सब कुछ होते हुए भी व्यक्ति स्वयं को ईश्वर विशेष से हीन समझता है। फलतः उसकी उपासनाकर वह अपनी विपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न करता है। तन्त्र का जन्म यहीं होता है। सिन्धु सभ्यता के उत्खनन में मातृशक्ति का दर्शन, वैदिक साहित्य में ऋचायें और स्तोत्र, गीता-मनुस्मृति का जप-तप तथा योग एवं उपनिषद्, संहिता आदि की मन्त्रात्मक प्रवृति, जैन एवं बौद्ध संस्कृति के विविध स्तोत्र और मन्त्रप्रकार मानवीय प्रकृति को प्रस्तुत करने के उत्तम उदाहरण हैं। उपासना का सम्बन्ध कर्मो की निर्जरा करने से है। अतः तन्त्र का उपयोग कर्म के कठोर जाल से मुक्त होने के लिए किया गया। इस प्रक्रिया के मुख्य लक्षण हैं—ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीकप्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सांसारिक भोगों का सम्मान एवं उनका अध्यात्मिक उपयोग[1]।

बौद्धधर्म में तन्त्र की यह समूची पृष्ठभूमि उपलब्ध होती है। वहां मूलरूप में चेतसिक क्रियाओं का अभियोग स्मृति और साधना के सन्दर्भ में दिखाई देता है। तन्त्र का विकास होने पर उसे प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध करने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हुए। फलतः सेकोद्देसटीका (पृ. ३-४) में कालचक्र-

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४५७.

तन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में मन्त्रयान को दीपंकर बुद्ध द्वारा सञ्चालित माना। बाद में शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने उसे स्वीकार कर धान्यकटक पर्वत पर मन्त्रयान का उपदेश दिया। तिब्बती परम्परा भी इसे स्वीकार करती है। उसमें भगवान् बुद्ध के तीन धर्मचक्रप्रवर्तनों का उल्लेख हुआ है—ऋषिपत्तन, गृध्रकूट और धान्यपिटक। इसी प्रकार की अन्य परम्परायें भी मिलती है। यथा—साधनमाला में यह कहा गया है कि जांगुलि का साधन बुद्ध द्वारा किया गया,तथा वज्रसरस्वती का साधन बुद्ध के अनुसार कराया गया। ये सभी परम्परायें इतिहास संगत नहीं मानी जा सकतीं। भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार के साधन कभी नहीं अपनाये। आटानाटीयसुत्त जैसे कुछ सुत्त अवश्य त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं परन्तु उन्हें या तो प्रक्षिप्त माना जाना चाहिए अथवा अधिक से अधिक हम उन सुत्तों में तन्त्रयान के बीज पाने का उपक्रम कर सकते हैं।

तन्त्रयान का वास्तविक प्रारम्भ महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ है। उसमें एक पृथक् रूप से निबद्ध 'धारणीपिटक' इस बात का प्रमाण है कि तन्त्र-परम्परा महासांघिक सम्प्रदाय में अधिक लोकप्रिय थी। ललितविस्तार, समाधिराज, लंकावतार आदि सूत्रों में भी यह परम्परा दिखाई देती है। आन्ध्रक, वैतुल्यक आदि शाखाओं में 'मिथुन' को अध्यात्म से सम्बद्ध किया गया है। करण्डव्यूह में एक धारणी बुद्ध के विषय मे भी निबद्ध की गई है। अष्टसाहस्रिक प्रज्ञापारामिता, प्रज्ञापारमिताहृदय, प्रज्ञापारमिता एकाक्षरी आदि ग्रन्थ भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं !

प्रज्ञापारिमता एक देवी का रूप माना गया। नाग, यक्ष, गन्धर्व आदि के समान प्रज्ञा की भी उपासना की जाने लगी। नागार्जुन के धर्मसंग्रह में पाँच बुद्ध, चार देविया, अठारह लोकपाल और छः योगिनियों के नाम मिलते हैं। सुखावती व्यूह में अमिताभ और अमितायु का उल्लेख मिलता है। करण्डव्यूह मे उन्हे महेश्वर कहा है। स्वर्णप्रभास में चार ध्यानीबुद्ध और श्रीमहादेवी एवं सरस्वती के उल्लेख आये हैं। मैत्रेयनाथ का महायानसूत्रालंकार भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

महायन के तत्वों का विकास **वज्रयान** में हुआ। महायान के धारणी तन्त्रयान में मन्त्र बन गये। अवलोकितेश्वर एक महिमाशाली देवता के रूप में उपस्थित हुए। मैत्रेय और असंग के 'परावृत्ति' सिद्धान्त ने तन्त्रयान की भूमिका का कार्य किया। तन्त्रयान के मुख्य तत्व हैं - कुण्डलिनीयोग, मंत्र, यन्त्र, षट्कर्म, सिद्धियां, पंचमकार अधिकारभेद, हठयोग, गुरुशिष्ययोग आदि। नागार्जुन तिब्बती परम्परा के अनुसार तन्त्रयान के प्रतिष्ठापक थे। ये नागार्जुन माध्यमिक

आचार्य नागार्जुन से भिन्न होना चाहिए। इसी तरह आर्यदेव को भी इससे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि वज्रयान के ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प और गुह्यसामजतन्त्र में तन्त्र साधना का प्रारम्भिक रूप तो रहा है पर उसका विकसित रूप सप्तम शताब्दी के बाद ही मिलता है। आर्यदेव को सप्तम-अष्टम शताब्दी का आचार्य नहीं माना जा सकता। जैसा कि पहले हम देख चुके हैं, चौरासी सिद्धों में शून्यवादी आर्यदेव का सम्मिलन उनकी पूर्व लोक प्रियता का कारण रहा होगा।

वज्रयान के तान्त्रिक ग्रन्थों को चार वर्गों में विभक्त किया जाता है— क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतंत्र और अनुत्तर योगतंत्र। आदि कर्मप्रदीप, अष्टमी व्रतविधान, साधनमाला, साधनसमुच्चय आदि ग्रन्थ वज्रयान के प्रधान ग्रंथ हैं। यहां गुह्यसाधना का महत्व अधिक बढ़ा। तत्वरत्नावली, अद्वयवज्रसंग्रह भी इसी कोटि के ग्रंथ हैं। वज्रयान से **सहजयान** की उत्पत्ति हुई।

तारानाथ के अनुसार सरह और कम्पल ने हेवज्रतंत्र और अनुत्तरयोगतंत्र लिखे। ये दोनों तंत्र गुह्यसमाज के थे। इंद्रभूति की ज्ञानसिद्धि और पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि भी गुह्य समाज से सम्बद्ध ग्रंथ हैं। सरह के ग्रंथों में बुद्धकपाल-तंत्र पञ्जिका, बुद्धकपालसाधन, बुद्धकपालमण्डलविधि, त्रैलोक्यवशंकरालोकेश्वर-साधन, दोहाकोशगीति, दोहाकोशनामचर्यागीति, काव्यकोशामृतवज्रगीति आदि प्रमुख हैं। सिद्ध नागार्जुन के व्रजतारासाधन और एकजटासाधन ग्रंथ मिलते हैं। उनके अन्य ग्रंथ हैं—मंत्रालंकारसाधन, कक्षपुटपिण्डीकृतसाधन, गुह्यसमाज-मण्डलविधि, सेकचतुरप्रकरण, स्वभावसिद्धयुपदेश, वज्रयानस्थूलपत्ति, प्रज्ञापारमिताहृिदयसाधन, लोकेश्वरसाधन, नीलाम्बरोपसिद्धि, वज्रपाणिमण्डलविधि, हयग्रीव-साधन, धर्मधातुस्तोत्र, कालत्रयत्रयस्तोत्र, सत्वाराधनस्तव, प्रज्ञापारमितास्तोत्र, नरकोद्धार समाधिभाषाटीका आदि। इसी प्रकार अन्य सिद्धों का भी विपुल साहित्य मिलता है।[1] वह अधिकांश रूप में तिब्बती भाषा में सुरक्षित है।

सहजयान के बाद **कालचक्रयान** का उद्भव हुआ। यह समय लगभग दसवीं शताब्दी माना जा सकता है। कालचक्रतंत्र और उसकी टीका विमलप्रभा कालचक्रयान के प्रमुख ग्रंथ हैं। मञ्जुश्री और सुचंद्र इसके विशिष्ट आचार्य हैं।

हमने तांत्रिक साधना का यह अत्यंत संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। उसका साहित्य संस्कृत और अपभ्रंश में अधिक है। नागरी रूपांतर अभी कम हो सका है। फिर भी, जो जानकारी उपलब्ध है उससे बौद्ध-तंत्र-साहित्य निश्चित ही प्रभावक सिद्ध होता है।

---

१. स्टडीज इन बुद्धिष्ट कल्चर आफ इण्डिया, पृ. २०५-६

परिवर्त २

बौद्धदर्शन तथा उसका विकासक्रम

१. विकासक्रम

भगवान् बुद्ध अपने धर्म की स्थापना करने के उपरान्त आचार और विचार से उस कोमल पौधे को अविरत सिञ्चित करते रहे। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही उस पौधे को वृक्षाकार में बढ़ते ही देख लिया। तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में बौद्धधर्म की स्थापना ने निश्चित ही जनसमुदाय को एक नया दृष्टिकोण दिया। फलतः उसे लोकप्रिय बनने में अधिक देर नहीं लगी। वैदिक, जैन एवं जैनेतर विचार - धाराओं का आलम्बन लेकर सम्यक्सम्बुद्ध आगे बढ़े और खण्डन—मण्डन की परम्परा में उन्होंने अपना विशेष योगदान दिया।

गति और विकास जीवन का लक्षण है। जिन धर्मों में गति और विकास बना रहा, वे धर्म तो बचे रहे और जिन धर्मों ने तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को इस परिवर्तन से दूर रखा वे कालान्तर में नामशेष हो गये। बौद्धधर्म एवं दर्शन का विकास, जैसा हम अभी देख चुके है, जीवन के इस चिरन्तन तथ्य को अपने अंक में समेटे हुए चलता रहा। हीनयान और महायान जैसी शाखायें इसी विकास के ज्वलन्त परिणाम हैं।

'यान' शब्द मार्ग और बाहन का पर्यायार्थक है। मार्ग और बाहन प्रगति के प्रतीक हैं। प्रतीकात्मक रूप में यान शब्द का उपयोग वैदिक, जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में देखा जाता है। ब्रह्मयान और धर्मयान जैसे शब्द संयुक्त निकाय में प्रयुक्त हैं। सम्भवतः उन्हीं का आश्रय लेकर उत्तरवर्ती बौद्धधर्म की शाखाओं ने स्वयं को मूल धर्म से विभक्त करने के लिए उद्देश्य के आधार पर हीनयान एवं महायान की संज्ञा दी हो। महायानी आचार्यों ने अपनी परम्परा को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से समीक्षा की परिभाषा में मूल बौद्धधर्म और उसकी शाखाओं को हीनयान की संज्ञा दी तथा स्वयं को महायानी कहना-कहलाना स्वीकार किया। अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा ये दो नाम अधिक प्रचलित हुए है। एकयान, अग्रयान, बोधिसत्वयान तथा बुद्धयान महायान के पर्यायवाची शब्द हैं और श्रावकयान तथा प्रत्येकबुद्धयान हीनयान के नामान्तर हैं। तीन यान होते

हुए भी वास्तविक यान एक ही है और वह है महायान सद्धर्मपुण्डरीक । भगवान् बुद्ध उपाय कौशल के माध्यम से उपदेश दिया करते थे, हीन सत्वों को दिया गया उपदेश हीनयान कहलाता और महसत्वों को दिया गया उपदेश महायान कहलाता

हीनयान और महायान दर्शन में कुछ मूलभूत अन्तर है :—

(i) असंग ने आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ एवं काल के रूप में उक्त दोनों सम्प्रदायों में यह भेद व्यवस्थित किया है।

(ii) हीनयान में पुद्गलनैरात्म्य के चिन्तन के माध्यम से क्लेशावरण का विनाश किया जाता है परन्तु महायान में धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण का विनाश होता है।

(iii) हीनयान का उपदेश प्रथमतः पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के सम्मुख दिया गया और महायान का उपदेश अनन्त बोधिसत्वों के समक्ष गृध्रकूट पर्वत पर दिया गया।

(iv) महायान में बोधिसत्व समस्त संसार के निर्वाण प्राप्त होने के बाद ही स्वयं निर्वाण-प्राप्ति स्वीकार करते हैं, पर यह विचार हीनयान में नहीं।

(v) महायान के अनुसार बुद्धदेशना दो प्रकार की है—गुह्य एवं व्यक्त।

(vi) महायानी साहित्य में कल्पना का आधिक्य अधिक है।

(vii) महायानी बुद्ध अधिक लोकोत्तर हैं।

(viii) बुद्ध ने साधारण और सरल उपदेश हीनयानियों को तथा कठिन उपदेश महायानियों को दिया है।

(x) परमार्थतः यानों में भेद नहीं। एकात्मक होकर वे एक यान में ही समाहित हो जाता है।

(x) परावृत्ति योग महायान की विशेषता है।

(xi) महायान में दो प्रकार के सत्यों का आधार अधिक लिया गया है—संवृतिसत्य और परमार्थसत्य।

(xii) मूलतः दो काय थे—रूपकाय (भौतिक शरीर) तथा धर्मकाय (अध्यात्मिक शरीर)। महायान में सम्भोग अथवा निर्माणकाय (अवतारवाद) पर अधिक जोर दिया गया।

(xiii) स्थविरवाद का आदर्श अर्हत्व प्राप्ति था पर महायानी आदर्श बोधिसत्व हो गया। तथा अष्टाङ्गिकमार्ग के स्थान पर बोधिसत्वचर्या का विकास हुआ।

हीनयान और महायान के बीच यह सामान्य अन्तर हमने देखा। अब हम बौद्धदर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का विकासात्मक आधार पर अध्ययन करेंगे। और यह देखेंगे कि आर्यदेव का उस विकास में क्या योगदान रहा। यहां हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि बौद्धेतर, विशेषतः जैन, साहित्य में बौद्ध सिद्धान्तों को किस रूप में प्रस्तुत किया गया है।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ विभिन्न धर्मों की समालोचना करते हुए मानव को नैतिक भूमिका पर प्रस्तुत करने से हुआ है। यहां कुशल-अकुशल कर्मों की व्याख्या तथा सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों का प्रस्तुतीकरण किया गया। धर्म की इस कुशल-अकुशलमयी कर्मों की व्याख्या के सन्दर्भ में अनात्मवाद को उपस्थित किया गया। इसके बाद सब कुछ क्षणिक है, कुछ भी स्थायी नहीं, यह सिद्धान्त रखा गया। तदनन्तर क्षणभङ्गुर तत्वों को प्रतीत्य-समुत्पन्न मानकर संस्कृत धर्मों के साथ हेतु-प्रत्ययजन्य प्रतीत्यसमुत्पन्न माना गया। बौद्धदर्शन की दृष्टि में संसार में रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पृष्टव्य स्वरूप आयतन और वेदना, संज्ञा व संस्कार स्वरूप विज्ञान ये दो मूलतत्त्व हैं जिनमें मूलतः आत्मा जैसा कोई स्थायी क्रियाशील तत्त्व विद्यमान नहीं। शेरवात्स्की के अनुसार यह सम्पूर्ण मतवाद चार आर्यसत्यों में विभाजित है (१) जीवन एक अशान्त संघर्ष है, (२) उसकी उत्पत्ति पाप पूर्ण वासनाओं से होती है, (३) चिरन्तन शान्ति ही चरम अभीष्ट है, और (४) एक ऐसा मार्ग है जहां जीवन के निर्माण में सहायक समस्त संस्कार क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तन का यही उद्देश्य है[1]। अर्हत् - प्राप्ति एवं व्यक्तिगत निर्वाण की उपलब्धि को इस काल में चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया।

द्वितीयकाल में बौद्धधर्म बहुत्त्ववाद से हटकर मौलिक एकतत्वाद की ओर परिवर्तित हुआ। आरम्भिक वादों को सनात्मवाद अथवा निःस्वभाववाद (पुद्गलशून्यता) नाम दिया गया जबकि बौद्ध दर्शन को नैरात्म्यवाद से सम्पृक्त किया गया। पुरातन बौद्ध दर्शन में सभी धर्म परस्पर अपेक्ष्य और वास्तविक हैं जबकि नवीन बौद्ध दर्शन में समस्त धर्म परस्पर अपेक्ष्य न होने के कारण अवास्तविक हैं। यहाँ वास्तविक हेतुवाद का सर्वथा निराकरण किया गया है। अनुभूत वास्तविकता का सर्वथा प्रतिवाद न कर उसे आर्यसत्य के स्थान पर संवृतिसत्य और परमार्थसत्य के रूप में विभाजित कर दिया गया।

---

१. बौद्धन्याय, पृ० ६, प्रस्तावना

इसके बाद आरम्भिक बौद्ध दर्शन में जिन धर्मों को केवल निर्वाण में प्रसुप्त और साधारण जीवन में सक्रिय माना गया था, यहाँ चिरप्रसुप्त और उनकी सक्रियता को मात्र भ्रमात्मक प्रतीति माना गया।

हीनयान के आदर्श को स्वार्थपरक बताकर वैयक्तिक मुक्ति के स्थान पर अखिल प्राणि जगत की मुक्ति की परिकल्पना, पारमिता व महाकरुणा के अभ्यासपूर्वक धर्मकाय की स्थापना की पृष्ठभूमि में अमला प्रज्ञा के स्थान पर प्रज्ञापारमिता के रूप में ज्ञानकाय का समीकरण, बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व के स्थान पर उनके सम्भोग काय के रूप में ईश्वर कल्पना, परन्तुजगत्स्रष्टा के रूप में नहीं, एकत्ववाद की प्रतिस्थापना, तांत्रिक संस्कारो का ग्रहण व मूर्ति-पूजा का प्रचलन, तथा शून्यवाद का स्थापन ये विशेषतायें इस काल की रहीं।

बौद्धदर्शन के **तृतीयकाल** की विशेषता-न्यायशास्त्र में गहन अभिरुचि से स्पष्ट हुई। फलस्वरूप इसमें स्वसंवेदना की वैधता की स्वीकृति, प्रत्येक अस्तित्व की मानसिक कल्पनात्मक स्वीकृति और बौद्धधर्म का आदर्शवादी रूप, ईश्वर-बुद्धि के स्थान पर आलय-विज्ञान को एवं ईश्वरेच्छा के स्थान पर अनादिवासना को स्थापित किया गया[1]।

जैन साहित्य में बौद्धर्शन के उक्त तीनों कालों के रूप दिखाई दे जाते हैं। जैनाचार्यो ने बौद्ध दर्शन की शाखाओं को स्थूलतः चार भागों में विभाजित किया है—वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा योगाचार और माध्यमिक। प्रथम दो शाखायें हीनयान से सम्बद्ध हैं और बाद की दो शाखायें महायानी हैं।

वैभाषिक के अनुसार जैसा अभ्यन्तर ज्ञान प्रतीत होता है, वैसा ही बाह्य पदार्थ भी सत् है, क्योंकि बाह्य पदार्थ की शुद्धि के बिना ज्ञान मात्र से खान-पान, ग्रहण-त्याग इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकता **सौत्रान्तिकों** का मत है कि बाह्य पदार्थ हैं अवश्य परन्तु वे अतीन्द्रिय हैं। **वैभाषिक** खण्डन करते हैं कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानगम्य नहीं क्योंकि क्षणिक होने के कारण उनका इन्द्रिय - सम्पर्क होते ही प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति होने के पूर्व ही वे नष्ट हो जाते हैं। इस स्थिति में वे प्रत्यक्ष-ज्ञानगम्य नहीं हो सकते। वे तो ज्ञान के संवेदन पर कल्पनीय अथवा अनुमेय होते हैं। **योगाचार** के अनुसार बाह्यपदार्थ जैसी कोई वस्तु

---

१. वही, पृ. ९–१७

नहीं, क्योंकि उपलब्धि के समकाल में ही वे दृष्टिगोचार होते हैं। उपलब्धि बिना कोई भी पदार्थ नहीं दिखाई देता। अतः विज्ञान मात्र ही सत् है और दृष्ट अर्थ उसका आकार मात्र है। योगाचार मत ज्ञान को साकार मानता है। माध्यमिक सम्प्रदायी यह मानते हैं कि एक मात्र शुद्ध, स्वच्छ, निराकर ज्ञान ही सत् है और सभी दृश्यमान् साकार ज्ञान एवं बाह्य पदार्थ असत् हैं। क्योंकि उनके सत् होने में अनेक विरोध, और अनुपपत्तियां हैं—

अर्थो ज्ञान समन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते,
प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सुत्रान्तिकैराश्रितः ॥
योगाचारमतानुगैरभिहिता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते वत् मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां सविदम् ॥

बौद्धदर्शन के विकास का चतुर्थकाल है तान्त्रिक साधना का बढ़ाव। इस काल में बौद्ध विचारों का उतना अधिक विकास नहीं हुआ जितना अधिक बौद्ध आचार का। तान्त्रिक विचार धारा अपनी चरम स्थिति पर इसी काल में पहुंची। बौद्धधर्म का यह चरम विकास एक भ्रष्ट रूप में सामने आया और यही रूप उसके ह्रास का प्रमुख कारण बन गया। अतएव बौद्धधर्म के ह्रास को पृथक् काल निर्धारित नकर इसी में उसे गर्भित मान लिया गया।

२ बौद्धदर्शन के प्रमुखतत्त्व और उनकी व्याख्या

१. अव्याकृततावाद

बुद्ध कालीन समाज धार्मिक क्रान्ति के कगारों पर था। प्रचीन परम्पराओं से उन्मुक्त होकर चिन्तन करने का उसने बीड़ा उठा लिया था। बुद्धऔर महावीर का पथदर्शन यज्ञवाद की आधारशिला से विद्रोह करने की ओर विशेष था जिसे समाज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

---

१. ललित विस्तरा, पृ. २२३

बुद्धकालीन समाज की एक विशेष प्रवृत्ति थी कि वह तीर्थंकर, धर्मप्रवर्तक अथवा धर्मोपदेशक से आत्मा, ईश्वर और लोक के सन्दर्भ में प्रश्न पूछकर स्पष्ट उत्तर चाहता था। भगवान् बुद्ध को ऐसे अनेक प्रसंगों का सामना करना पड़ा। विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक रूप से उन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत कर उन प्रसंगों में और अधिक उलझना ही था। और फिर ऐसे प्रश्नों का उपयोग भी कोई विशेष अधिक नहीं था। अतएव भगवान् बुद्ध ने उनका कोई उत्तर न देना ही उचित समझा[1] और कहा कि तर्क की कसौटी पर कसकर ही मेरे वचनों का मूल्याङ्कन किया जाय[2]।

ऐसे उक्त प्रश्नों को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। इन अव्याकृत प्रश्नों की संख्या मूलतः दस है—

(१) सस्सतो लोको, (२) असस्सतो लोको, (३) अन्तवा लोको, (४) अनन्तवा लोको, (५) तं जीवं तं सरीरं, (६) अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं, (७) होति तथागतो परं मरणा, (८) न होती तथागतो परं मरणा, (९) होति च न च होति तथागतो परं मरणा; और (१०) नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा[3]। महायानी साहित्य में इनकी संख्या चौदह बतायी गई है। वहां लोक के सन्दर्भ में चार के स्थान पर आठ प्रश्न उपस्थित किये गये है[4]। शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद और उच्छेदवाद से बचने के लिए ही अव्याकृत प्रश्नों की स्थापना की गई थी[5]।

एक अन्य प्रकार से भी बुद्ध ने प्रश्नों को समाधानित करने का मार्ग खोजा और वह मार्ग चार प्रकार का बताया—(१) एकंस वाकरणीय,

---

१. न हेतं, पोट्ठपाद, अत्थसंहितं, न धम्म संहितं, नादि ब्रह्मचरियकं, न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति, तस्मा तं मया अव्याकतं, दी. ९.३.१६

२. तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्॥ ज्ञानसारसमुच्चय, ३१

३. दी. ९ ३. १६

४. दि बोधिसत्त्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. १३६.

५. मज्झिमनिकाय, अलगद्दूपमसुत्त

(२) पटिपुच्छा वाकरणीय, (३) ठापनोय, और (४) विभज्ज वाकरणोय[1]। इस आधार पर उन्होंने विभज्जवादिन् भी अपने आपको कह दिया इसी प्रकार बुद्ध ने अनेकांशिक आधार पर भी प्रश्नों का उत्तर दिया है (अनेकंसिका पि मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता)[2]। सम्भव है, उत्तर देने के दो प्रकार रहे हों--एकांशिक और अनैकांशिक । अन्तिम तीन भेद अनैकांशिक के होंगे ।

भगवान् बुद्ध का यह बौद्धिक चिन्तन दार्शनिक क्षेत्र में नितान्त व्यावहारिक था । आचार क्षेत्र में इसी चिन्तन को उन्होंने 'मज्झिम पटिपदा' के रूप में प्रयुक्त किया । विचार और आचार क्षेत्र में उक्त दोनों सिद्धान्तों ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की । समूचा बौद्ध साहित्य इसका प्रमाण है। उसमें परमार्थ तत्त्व को वाचाऽवाच्यम्' और अनक्षर धर्मश्रुति कहा गया है । चन्द्रकीर्ति ने इसी परमार्थ को 'आर्याणां तूष्णीभावः' लिखा है[3] और लंकावतार ने तो तथागत को सदैव मौन बता दिया है।

तथागत का अव्याकृततावाद निः सन्देह विवादग्रस्त दार्शनिक प्रश्नों से दूर रहकर अध्यात्मिक चिरन्तन शान्ति की प्राप्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। परन्तु उत्तर काल में उनका मौन भंग कर दिया गया और मूल बौद्ध सिद्धान्तों को समयानुकूल विकसित, परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप में उपस्थित किया गया ।

---

२. आर्यसत्य

आर्यसत्य बौद्ध चिन्तन की मूल भूमिका है। इसी की प्राप्ति हो जाने पर ही गौतम को बुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया।[4] आर्यसत्यों की ज्ञान-प्राप्ति के बाद साधक अष्टम जन्म ग्रहण नहीं करता । उस

---

१. एकसवचनं एकं विभज्जवचनापरे।
तति्यं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ठापये ।। अंगुत्तर, ४.५२

२. दी. ९.४.१९ ३. माध्यमिक वृत्ति, पृ. ५६

४. विसुद्धिमग्ग, १६. २१. ७. २६

साधक को संघ का उत्तम रत्न (रतनं पणीतं) कहा गया है । दर्शन प्राप्ति के साथ-साथ उसके तीन संयोजन (बन्धन) नष्ट हो जाते हैं— सत्काय दृष्टि (नित्य आत्मा का विश्वास), विचिकित्सा (संशय) तथा शीलव्रतपरामर्श (विविध प्रकार के व्रतों के कर्म काण्ड से चित्तशुद्धि की प्राप्ति में विश्वास) । वह चार दुर्गतियों और छः घोर पापों से निर्मुक्त हो जाता है[1] ।

आर्यसत्यों की संख्या भ० बुद्ध ने चार बताई है—दुःखसत्य, दुःख समुदयसत्य, दुःखनिरोध सत्य और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा सत्य । ये सत्य किसी से प्रच्छन्न नहीं हैं । नामरूप दुःखात्मक हैं । समूचा सांसारिक जीवन दुःखमय है । जन्म से मरण तक कहीं भी सुख नहीं । सम्पत्ति आदि का जो सुख है भी, वह मात्र सुखाभास है[2] । वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में लगभग समान रूप से दुःख के सन्दर्भ में विचार किया गया है । दुःख-समुदय में दुःख की उत्पत्ति के कारण बताये गये हैं । मुख्य कारण है तृष्णा । उसके तीन भेद हैं–कामतृष्णा, भवतृष्णा, और विभवतृष्णा । इसके अन्तर्गत प्रतीत्य-समुत्पाद अथवा निदान को परिगणित किया गया है । विभज्य-वादी परम्परा में भवतृष्णा को समुदय और शेष अन्य तृष्णाओं को सास्रव हेतु माना गया है । दुःखनिरोधसत्य में तृष्णा का पूर्णतः नाश और निर्वाण की प्राप्ति का उल्लेख है । विभज्यवादी मात्र तृष्णा के क्षय को निरोधसत्य मानते हैं और शेष क्षयों को केवल निरोधात्मक स्वीकार करते हैं । चतुर्थ सत्य में दुःख निरोध अथवा निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है । इसके अन्तर्गत शमथ और विपश्यना तथा बोधिपाक्षिक धर्मों का परिगणन होता है । आर्यसत्य के विकास का यह द्वितीय चरण है ।

३. बोधिपाक्षिक धर्म—भ. बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय भिक्षुओं से निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए बोधिपक्षीय धर्मों का पालन करना अवश्यक बताया था । ये धर्म संख्या में सैंतीस हैं[3] ।

१. चार स्मृति स्थान—साधक को काय, वेदना, चित्त और धर्म में अनुपश्यना करनी चाहिए । पालि साहित्य में कहा गया है कि भिक्षु को "सतो सम्पजानो समाहितो" होना चाहिए[4] । इसका तात्पर्य है कि भिक्षु अपने प्रत्येक कार्य में सजग रहे ।

---

१. सुत्तनिपात, २.१.८–१०. २. वही, ३-८. धम्मचक्कपवत्तन सुत्त, (संयुत्त.)
३. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त । ४. इतिवुत्तक, जागरियसुत्त ।

२. चार सम्यक् प्रधान—सत्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। (i) अनुत्पन्न अकुशल धर्मों की अनुत्पत्ति के लिए सम्यक् प्रयत्न करना, (ii) उत्पन्न अकुशल धर्मों के विनाश के लिए प्रयत्न करना, (iii) अनुत्पन्न कुशल धर्मों की प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर प्रयत्न करना, और (iv) उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति के लिए प्रयत्न करना।

३. चार ऋद्धिपाद—छन्द, वीर्य, चित्त और विमर्श।

४. पांच इन्द्रियां—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञा। इन्हें आध्यात्मिक विकास की सोपान मानी जा सकती हैं।

५. पांच बल—उक्त पांचों ही बल हैं। अंगुत्तर निकाय में स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, वीर्य और प्रज्ञा को पंचबल कहा गया है। श्रद्धा एवं समाधि को जोड़कर सात बल भी उल्लिखित हैं।

६. सात बोध्यंग—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, तथा उपेक्षा सम्बोधि प्राप्ति में सहायक हैं। पांच नीवरणों[1] के प्रतिकार के लिए इनकी विशेष उपयोगिता है।

७. आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि। ये आठों सम्यक् मार्ग प्रज्ञा, शील और समाधि स्कन्धों में विभाजित हैं। प्रथम तीन प्रज्ञा स्कन्ध में, चतुर्थ और पञ्चम शील स्कन्ध में तथा शेष समाधि स्कन्ध में अन्तर्भूत हैं।

संयुत्त निकाय में इन बोधिपक्षीय धर्मों का उक्त क्रम नही मिलता। वहां अष्टाङ्गिक मार्ग का उल्लेख सर्व प्रथम किया गया है। श्रीमती रिज डेविड्स ने अष्टाङ्गिक मार्ग को बुद्ध की मूल देशना का अंग माना है[2]। परन्तु डॉ. पाण्डेय ने अंगुत्तर निकाय के अष्टक निपात में तथा दीघनिकाय के संगीत सुत्त में उनका उल्लेख न होने से इस मान्यता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है[3]। किन्तु इतने से ही अष्टाङ्गिक मार्ग को मूल देशना से बहिर्भूत नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि चूंकि उसका अन्तर्भाव आर्यसत्य के अन्तर्गत हुआ है अतः उक्त स्थानों पर उसका

---

१. कामच्छंन्द, अभिध्या व्यायाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, एवं विचि-कित्सा।

२. शाक्य, पृ. ८९.

३. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ११७

परिगणन आवश्यक नहीं था। धम्मपद में इसी को निर्वाण प्राप्ति का मर्गा कहा है, अन्य को नहीं[१]। इस स्थिति में अष्टाङ्गिक मार्ग को धर्मदेशना का मूल भाग स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पालि साहित्य में प्राय: अष्टाङ्गिक मार्ग के क्रम पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सम्भव है इसका कारण उसकी अधिकाधिक लोकप्रियता और उपयोगिता रही हो।

---

३. अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद

निरात्मवाद बुद्ध का एक सफल क्रान्तिकारी प्रयोग है। जिस युग में आत्मा आदि के अस्तित्व अथवा नास्तित्व के सन्दर्भ में व्यक्तित्व को परखा जाता था उस युग में ऐसे ज्वलन्त प्रश्नों पर मौन हो जाना अथवा अनत्त कहकर उसका विश्लेषण करना निश्चित ही एक नया चिन्तन था। तीर्थिक आत्मवाद को लेकर परस्पर अवगुण्ठित और विवाद ग्रस्त होरहे थे। तथा सारा जन समुदाय भी उनके इस बौद्धिक कलह से संत्रस्त और विपथगामी हो रहा था[२]। इस कटुता जन्य परिस्थिति का सूक्ष्मान्वेक्षण कर बुद्ध ने आत्मा की सर्वप्रथम यह व्याख्या की कि चूंकि यह समूचा जगत अनित्य, भयावह और दु:खकारी है अतएव इसे अनात्म (अपना नहीं है) मानो। ज्ञान-प्राप्ति का यही साधन है[३]। अज्झत्तचिन्ती, अज्झत्तं सुखं अनुयुञ्जय्य, अत्तकाम, अत्तानं गवेसे पयाथ, अन्धकारेण ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ, अत्तदीपा विहरथ आदि उपदेशों में बुद्ध ने यही उपदेश दिया है। इसके बाद अत्तभाव की परवर्ती व्याख्या अहं भाव भी है जिसका परित्याग निर्वाणोन्मुख भिक्खु के लिए अपरिहार्य बताया गया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने संसार से वैराग्य जागृत करने के लिए दुक्खसमुदयनिरोध की भावना से अनात्मवाद की स्थापना की थी। इसीलिए दु:खसमुदय का मूल कारण तृष्णा का निरोध हो जाने से प्रतिसंख्या ज्ञान की उत्पत्ति बतायी है। ५ स्कन्ध, १२ आयतन, और १८ धातु इन ३६ धर्मों

---

१. ऐसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया ········ २०. २—३

२. दीघनिकाय-ब्रह्मजाल सुत्तं, सामञ्ञफलसुत्त आदि, सूयगडंग, प्रथम अध्याय।

३. अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो मनसिकरोतो आणं उप्पज्जति पटिसम्भिदामग्ग, २. १००-१०१.

४. उदान, ४.१

को तथागत ने अनात्मा माना और उनसे आसक्ति तथामोहाच्छन्नता को दूर करने का आदेश दिया है[1]। अनात्मवाद के विकास का यह **प्रथम चरण** है।

जन समुदाय को आत्मवाद की ओर से विमुखकर भगवान् बुद्ध का उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित करने का यह सफल प्रयत्न था। मूलतः विवादास्पद और अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व के प्रति व्यक्ति के इस आत्मास्तित्वाद को उसके दुराग्रह का प्रतीक बनाया गया। जनता को सद्यः आकर्षित करने का भी यह श्लाघ्य उपाय था कि मूलभूत समस्या के अनुमान गम्य बाह्य पक्ष को तटस्थ भाव से अवलोकन कराया जाय एवं अदृश्य पदार्थ की ओर परम्परागत बंधी दृष्टि को झकझोरकर अपनी ओर उसे खींच लिया जाय। इसी दृष्टि से भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद की जड़ों को हिलाकर उससे ममत्व बुद्धि को हटानें का सचिन्तित अभिमत व्यक्त किया। बुद्ध ने इसके परिपोषण के लिए यहां तक कह दिया कि "जो यह मानता है कि यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता है, अनुभवगम्य है, दुष्कर्मों का फलभोक्ता है, नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, यह उसका बालधर्म है (अयं भिक्खवे, केवलो परिपूरो बालधम्मो)[2]। अपने विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अनेक आकर्षक उपमायें भी प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ—हे पोट्ठपाद ! जो व्यक्ति जनपद कल्याणी को तो चाहता है पर उसके रूप, रंग, वर्ण, कद, निवास, नाम आदि को नहीं जानता, उसका आचरण जिस प्रकार प्रभाव रहित और उपहासास्पद है उसी प्रकार आत्मा के गुण धर्म से अपरिचित यज्ञ यागादि करने वाले व्यक्ति का कथन भी निन्दास्पद होता है। अतः परिपूर्ण जानकारी के बिना किसी पदार्थ के विषय में कहना उचित नहीं[3]।

इन उपमाओं आदि के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध ने आत्मा के स्वरूप से परिचित हो जाने के बाद ही उसके विषय में अपना मत व्यक्त करने का उपदेश दिया था। यह कथन इससे और प्रमाणित हो जाता है जब वे तथागत (आत्मा) के अस्तित्व, अनस्तित्व, जन्म-मरण आदि को अनैकांशिक धर्म कहते है।

---

१. मज्झिमनिकाम, ३.५.६ २. मज्झिमनिकाय, १.१.२

३. दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त

साथ ही यह भी कहते हैं कि यह मान्यता न सार्थक है, न ध उपयोगी है, न निर्वेद के लिए है और न वैराग्य के लिए है। अपरिचि स्थिति के ये सब परिणाम है। बुद्ध द्वारा पुनर्जन्म और कर्म व स्थिति स्वीकार किये जाने से आत्मा की असत् स्थिति स्वतः कमजो हो जाती है। अनात्मवाद के विकास का यह **द्वितीय चरण** है।

उक्त कथनों से यह तथ्य निकलता है कि भगवान् बुद्ध ने आत्म के अस्तित्व को मूलतः अस्वीकार नहीं किया था प्रत्युत अनासक्त भा को उद्दीप्त करने के निमित्त अनत्त अथवा अनात्म शब्द का प्रयोग किय था। इस लक्ष्य में और दृढ़ता लाने के लिए उन्होंने अव्याकृतता ए मज्झिमा पटिपदा के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को न तो स्वीका किया था और न ही उसका प्रतिषेध किया था[1]। शाश्वतवाद औ उच्छेदवाद से दूर रहकर आत्मा का यह चिन्तन श्रमण संस्कृति क परम्परा के विपरीत नहीं था।

इसके बाद का विकास रहा आत्मा के अस्तित्व को व्यावहारि दृष्टिकोण से तो स्वीकार करना परन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से उसक निषेध करना। पोट्ठपाद से बुद्ध ने यही विचार व्यक्त किया[2]। अनत्तलक्खण सुत्त[3] में आत्मा को पञ्चस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्वरूप माना। संयुत्तनिकाय में पञ्चस्कन्धों के समवायात्मक रूप क सम्मुतिसच्च की दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया परन् परमत्थसच्च से उसको अस्तित्वहीन माना[4]। अर्थात् प्रज्ञप्ति सत् से उसक अस्तित्व है और द्रव्यसत् से उसका नास्तित्व है। इस सन्दर्भ में मिलिन्दपञ्ह में ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनान्डर) और नागसेन का संवाद भी द्रष्टव्य है। यहां नागसेन ने अनात्मवाद को पुद्गल नैरात्म्य के रूप में प्रस्तुत किया है—परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति। वात्सीपुत्रीय भी इसी प्रकार पुद्गलवादी हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा पुद्गल स्कन्धों से न भिन्न है

---

१. संयुत्त. (रो.) भा. ४, पृ. ४००; सुत्तनिपात का अट्ठकवग्ग.

२. दीघनिकाय, पोट्ठपादसुत्त. ३. विनय पिटक, महावग्ग

४. यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति॥ मिलिन्दपञ्ह,
पञ्चम लक्खणसुत्त.

और न अभिन्न है। यदि भिन्न अथवा अभिन्न होता तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित होता। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। पुद्गलवादी आत्मवाद की स्वीकृति को धर्मीशून्य धर्म के साथ संगत नहीं कर सके। अनात्मवाद के विकास का यह **तृतीय चरण** है।

बौद्धधर्म में आत्मा के स्थान पर 'सन्तान' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह सन्तान चित्त चैतसिक धर्मो से उत्पन्न होकर 'प्राप्ति' नामक संस्कार विशेष से परस्पर सम्बद्ध हो जाता है। नागसेन ने एवं महाकवि अश्वघोष[१] ने इसे 'दीपशिखा' के उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पुनर्जन्म के प्रश्न का समधान भी इस दृष्टान्त से किया गया है। अनात्मवाद के स्थान पर निरात्मवाद शब्द का जन्म भी इसी काल कीदेन है। इस सिद्धान्त के विकास का यह **चतुर्थ चरण** है।

पञ्चस्कन्ध वाद अथवा सन्ततिवाद की स्थापना करने पर अनेक प्रश्न चिन्ह खड़े हुए। स्थिर आत्मा के अभाव में कर्मफल का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्मान्तरग्राहित्व, जातिस्मरण आदि का होना क्या, कहां और कैसे बनेगा? ये गूढ़ एवं स्वाभाविक प्रश्न बौद्धधर्म के अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद को और भी जटिल बना देते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यम प्रतिपदा के माध्यम से इन प्रश्नों का समाधान खोजने का प्रयत्न अवश्य हुआ है परन्तु उसमें सन्तोषप्रद सफलता दिखाई नहीं देती।

फलतः विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई और उसने अलयविज्ञान की स्थापनाकर चिन्तसन्तति को ही संसार का कारण मान लिया। आत्मा के स्थान पर चित्त की स्थापना करने से निरात्मवाद के विपरीत उपस्थित प्रश्नों को समाधानित करने का पुनः प्रयत्न किया गया। कर्म मे विनिर्मुक्त होने पर चित्त में सम्बोधि रूप प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति और तदनन्तर निर्वाण की प्राप्ति स्वीकार की गई। चित्त की उस अवस्था को अनिर्वचनीय कहा गया है। विकास का यह **पञ्चम चरण** है।

इस सन्दर्भ में वसुबन्धु वात्सीयपत्रीय के पञ्चस्कन्धवाद का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि यदि आत्मा समुदाय मात्र है, भावान्तर नहीं तो वह आत्मा नहीं है और यदि वह सांख्यों के पुरुष के समान है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं। यदि पुद्गल चक्षुविज्ञान से जाना जाता है तो वह संज्ञा मात्र है, वस्तु सत् नहीं। और चूंकि पुद्गल

---

१. सौन्दरानन्द, १६.२८-२६

विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय नहीं, इसलिए उसका अस्तित्व भी नहीं। आत्मा तो मात्र हेतु-प्रत्यय जनित धर्म है। वात्सीपुत्रीय का प्रश्न है कि इस अवस्था में बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे माना जायगा ? वसुबन्धु इसका उत्तर देते हैं कि सभी पदार्थो को जानने वाले के अर्थ में हम बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं मानते। बुद्ध तो ज्ञान की सन्तति विशेष का सूचक है और वही सर्वज्ञ है। वात्सीपुत्रीय पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि अवक्तव्य पुद्गल नहीं तो बुद्ध भगवान् आत्मा के अस्तित्व के विषय में विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक उत्तर स्पष्टतः क्यों नहीं देते ? संसरण करने वाला कौन होगा ? जातिस्मरण अथवा प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा ? वसुबन्धु इन सभी प्रश्नों के उत्तर के लिए सन्तानवाद का सहारा लेते हैं। वैभाषिक सस्वभाववादी और बहुधर्मवादी हैं। वे किसी भी पदार्थ को शाश्वत नहीं मानते सन्तान से उनका तात्पर्य रूपी-अरूपी स्कन्धों से है जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्तमान होते हैं और जिस सन्तान का पूर्व हेतु कर्म है। बीज-सन्तान के परिणाम के अति प्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति होती है[1]।

वसुबन्धु ने विंशतिका में "चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्" कहकर महायान में त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र स्वीकार किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध हो जाता है। वस्तुतः अर्थ असत् है। अर्थ के रूप में दिखाई देने वाला यह विज्ञान ही है। शुआनच्वांग ने त्रिंशिका पर 'एक सिद्धि' नाम की मौलिक टीका लिखी है। उसमें भी उन्होंने आत्मग्राह और धर्मग्रह की परीक्षा की है।

नागार्जुन की माध्यमिक कारिका और आर्यदेव का चतुःशतक तथा इन दोनों पर चन्द्रकीर्ति की टीकायें शून्यवाद (माध्यमिक सम्प्रदाय) की प्रस्थापना करती हैं। उन्होंने आत्मा के प्रतिषेध में स्वतन्त्र प्रकरण लिखे हैं। माध्यमिक कारिका में नागार्जुन ने यह फलितार्थ प्रस्तुत किया है कि भगवान् बुद्ध ने न आत्मा का उपदेश दिया और न अनात्मा का—

आत्मेत्यपि प्रज्ञयित मनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धै र्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्[2] ॥

अनात्मवाद के विकास का यह **षष्ठ चरण है**।

---

१. बौद्धधर्म–दर्शन, पृ २४३–२४६
२. माध्यमिक कारिका, १८.६

४. प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद (पालि-पटिच्चसमुप्पाद) बौद्धधर्म और दर्शन का मूल सिद्धान्त है। इसकी गहनता, व्यापकता और सूक्ष्मता समूचे बौद्ध सहित्य में द्रष्टव्य है। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोधि प्राप्ति के प्रथम याम में पूर्वजन्मज्ञान, मध्यमयाम में दिव्य चक्षुत्व और अन्तिम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार किया[१]। अनन्तर विमुक्ति सुख के अनुभूत-काल की अन्तिम रात्रि के प्रथम याम में उन्हें "इसके होने से यह उत्पन्न होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न होता है" यह ज्ञान, मध्यमयम में "इसके असद्भाव से यह नहीं होता, इसके निरुद्ध होने से यह निरुद्ध हो जाता है" यह अनुलोमात्मक और प्रति लोमात्मक अभि-ज्ञान उत्पन्न हुआ था[२]। इससे स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य है—कारण के सद्भाव में उत्पत्ति और कारण के असद्भाव में उत्पत्ति का अभाव—इमस्मि सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मि असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति[३]।

प्रतीत्य (प्रति +इ गतौ×ल्यप्) अर्थात् कारण पूर्वक समुत्पाद (उत्पत्ति) होना प्रतीत्य समुत्पाद है—हेतु प्रत्यय सापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्य समुत्पादार्थः। इसी प्रकार "पच्चय सामग्गिं पटिच्च समं सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्च समुप्पादो" भी कहा गया है। अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्य समुत्पादार्थः[४]। इसे बौद्ध दर्शन का एक गम्भीर सिद्धान्त माना गया है। धर्म, बुद्ध और प्रतीत्यसमुत्पाद की एकाकारता से भी इस सिद्धान्त का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वान प्रतीत्यसमुत्पाद को बुद्ध की मूल देशना में सम्मिलित नहीं करते। आदेर एवं फ्रांके ने इसे उत्तर कालीन प्रक्षिप्तांश बताया है[५] जबकि श्रीमती रिज डेविड्स इसके प्रस्थापक का नाम कल्पित मानती हैं[६]।

---

१. विनय पिटक, महावग्ग

२. विनय पिटक, महावग्ग, १.१.३. विसुद्धिमग्ग, १७-६, ललितविस्तर, पृ. २८६, इस सन्दर्भ में प्रतीत्य समुत्पाद का नाम नहीं है। परन्तु वहां उसके स्थान पर शून्यतानुपलम्भ निर्वाण, शब्द दिया गया है। इसी से स्पष्ट है कि यहां प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण को पृथक् नहीं माना गया।

३. मज्झिमनिकाय, ३.२.५

४. माध्यमिक वृत्ति, पृ. ९

५. ओरिजन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. ४०६

६. शाक्याज्, पृ० १३८-४८

परन्तु ये मत स्वीकार्य नहीं हो सकते क्योंकि तथागत ने सम्बोधिकाल में इसका साक्षात्कार किया था। तदुपरान्त बुद्ध ने इसे मूल देशना में सम्मिलितकर चतुरार्यसत्य के अन्तर्गत इसकी गणना की थी और मज्झिमपटिपदा के नाम से इसे परिचित कराया था।

बुद्ध का यह प्रतीत्यसमुत्पाद शाश्वतवाद, अहेतुवाद, विषमहेतुवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अक्रियावाद, नास्तिकवाद आदि सिद्धान्तों के खण्डन का प्रतीक है। हेतुओं पर निर्भरता, ईश्वर-निर्माण अथवा भवितव्यता की अस्वीकृति एवं दुःख परम्परा का निरोध-प्रदर्शन इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य था। "जो धर्म (पदार्थ) हैं। उनके हेतु को तथागत ने कहा है और उनके निरोध को भी उन्होंने बताया है। महाश्रमण का यही मत है।" यह कथन प्रतीत्य समुत्पाद की सुन्दर व्याख्या उपस्थित करता है।[1] यही इसका **प्रथम चरण** है।

प्रतीत्यसमुत्पाद में परतन्त्रता दिग्दर्शित है। माध्यमिकों के शून्यता पक्ष का यह आधार स्तम्भ रहा है। डॉ० पाण्डेय के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और माध्यमा प्रतिपदा में विवर्तवाद का विकसित रूप देखा जाता है। उनका यह भी मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो पुरुषार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यवहारिक पक्ष है जो ससार में कार्यकारण नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दुःख का मूल कारण संसार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्या ग्रस्त चित्त के लिए दुःखात्मक संसार चक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है।[2]

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादश निदानों पर आधारित है अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास। उदान और विसुद्धिमग्ग में भी इन्हीं बारह कारणों-निदानों-का उल्लेख मिलता है। ये बारह निदान अनुलोम और प्रतिलोम के माध्यम से क्रमशः दुःखसमुदय और दुःखनिरोध का निरूपण करते हैं। इन अंगों का निरूपण अनेक प्रकार से मिलता है—

---

१. ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो, एवं वादी महासमणो॥ विनय० महावग्ग।
यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं, वही।

२. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ८३

कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत,[1] कहीं एक से बारह[2], कहीं सात से बारह[3], कहीं बारह से एक[4], कहीं आठ से एक, कहीं तीन से बारह, और कहीं पाँच से आठ निदानों का वर्णन किया गया है।[5] इन उद्धरणों से ऐसा लगता है कि तथागत ने विभिन्न समयों में दुःखोत्पत्ति के कारणों को विविध रूप से प्रस्तुत किया था और उन सभी उपदेशों में से उक्त बारह निदानों को संकलित कर दिया गया। यह समूचा संकलन महानिदान सुत्तन्त में उपलब्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का यह द्वितीय चरण है।

प्रतीत्य समुत्पादवाद के अर्थ के उद्घाटक मूलतः तीन सूत्र हैं—(१) इसके होने पर यह होता है (अस्मिन् सति इदं होति), (२) कोई भी पदार्थ यथार्थ उत्पन्नत्व नहीं है, केवल प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व होता है, और (३) समस्त धर्म निर्व्यापार होते हैं। अर्थात् समस्त संस्कृत पदार्थ हेतु-प्रत्यय जनित होते हैं।

हेतु वचन, अवयव, कारण, मूल का नाम है और जो धर्म जिस धर्म की स्थिति अथवा उत्पत्ति का कारक होता है वह उसका प्रत्यय कहा जाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभव आदि शब्द अर्थ से एक हैं और व्यञ्जन से भिन्न हैं।[6] स्थविरवाद में (राग, द्वेष, और स्नेह) हेतु की अवस्थाओं को विकृत करते हैं और प्रत्यय की धर्म उत्पत्ति अथवा निर्वृत्ति में उपकारक होता है।

स्थविरवाद में राग, द्वेष और स्नेह ये तीन हेतु हैं जो चित्त की अवस्थाओं को विकृत करते हैं और चौबिस प्रत्यय हैं जो धर्म की उत्पत्ति अथवा निवृत्ति में उपकारक होते हैं। चौबीस प्रत्यय हैं-हेतु,आरम्भण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात, अञ्ञमञ्ञ, निस्सय, उपनिस्सय, पुरेजात, पच्छाजात, आसेवन, कम्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, झान, मग्ग, सम्पयुत्त, अत्थि, विगत, और अविगत। सर्वास्तिवाद में चार प्रत्यय (आलम्बन, समनन्तर, अधिपति, और सहकारी), छः हेतु (कारण, सहभू, सम्प्रयुक्त, सभाग, विपाक, और सर्वत्रग), तथा चार फल (निष्यन्द, पुरुषकार, अधिपति, और विसंयोगफल), स्वीकार किये गये हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृ० ३६६-६७ २. उदान और विसुद्धिमग्ग,
३. निदानसंयुक्त, ४. निदानसंयुक्त और उदान
५. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ३९०
६. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७

बौद्धधर्म में दुःख प्राप्ति का मूल कारण कर्म माना गया है, यद्यपि वहां अन्य कारणों का भी उल्लेख मिलता है, जैसे पित्त, श्लेष्म, वात, सन्निपात, ऋतु, और विषम।[1] यहां भी प्रतीत्य-समुत्पाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भव-चक्र हेतु-प्रत्यय के द्वादश निदानों पर अधारित है। इसका प्रधान कारण चतुरार्यसत्य सम्बन्धी अज्ञान (अविद्या) है।[2] बौद्ध दर्शन में अविद्या से बन्ध तथा विद्या से मोक्ष माना जाता है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःख रूप सभी पदार्थों को नित्य, सात्मक, शुचि, और सुख रूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से रागादिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार तीन प्रकार के हैं—पुण्योपग (शुभ), अपुण्योपग (अशुभ) और आनेञ्ज्योपग (अनुभय-रूप)। वस्तु की प्रतिविज्ञप्ति को विज्ञान कहते हैं। इन संस्कारों के कारण वस्तु में इष्ट, अनिष्ट प्रतिविज्ञप्ति होती है, इसीलिए संस्कार विज्ञान में प्रत्यय अर्थात् कारण माना जाता है। इस विज्ञान से नाम अर्थात् चार अरूपी स्कन्ध वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, तथा रूप अर्थात् रूपस्कन्ध-पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु उत्पन्न होता है। इस पञ्चस्कन्ध को नामरूप कहते हैं। विज्ञान से ही नाम और रूप को नामरूप संज्ञायें मिलती हैं। अतः इन्हें विज्ञान-सम्भूत कहा गया है। इस नामरूप से ही चक्षु आदि पांच इन्द्रियां और मन ये षडायतन होते हैं। अतः षडायतन को नामरूप प्रत्यय कहा है। विषय, इन्द्रिय और विज्ञान के सन्निपात को स्पर्श कहते हैं। छह आयतन - द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान-तन्तुओं को जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श के अनुसार वेदना अर्थात् अनुभव होता है। वेदना के बाद उसमें होने वाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है। उन-उन अनुभवों में रस लेना, उनका अभिनन्दन करना, उनमें लीन रहना तृष्णा है। तृष्णा की वृद्धि से उपादान होता है। यह इच्छा होती है कि मेरी यह प्रिया मेरे साथ सदा बनी रहे, मुझमें सानुराग रहे और इसीलिए तृष्णातुर व्यक्ति उपादान करता है। इस उपादान से ही पुनर्भव अर्थात् परलोक को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है। इसे भव कहते हैं। यह कर्म मन, वचन और काम इन तीनों से उत्पन्न होता है। इससे परलोक में नये शरीर आदि का उत्पन्न होना जाति है। शरीर स्कन्ध का पक जाना जरा है और उस स्कन्ध का विनाश मरण कहलाता है। इसीलिए जरा और मरण को जाति प्रत्यय बताया है। इस प्रकार यह द्वादशाङ्ग

---

१. अंगुत्तर निकाय (रोमन) भाग ३, पृ० १८६

२. मज्झिमनिकाय, १,१,६

वाला चक्र परस्परहेतुक है। इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य अर्थात् एक को निमित्त बनाकर अन्य का समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। इसके कारण यह भवचक्र बराबर चलता रहता है। जब सब पदार्थों में अनित्य, निरात्मक, अशुचि और दुःख रूप तत्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। फिर अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष माना गया है।[1]

इन द्वादश निदानों में प्रथम दो निदान अतीत भव से, तीन से दस तक निदान वर्तमान भव से और शेष अन्तिम दो निदान अनागत भव से सम्बद्ध हैं। इस तरह ये सभी प्रत्यय अन्योन्याश्रित हैं। योगाचारवादियों ने बारह निदानों का सम्बन्ध केवल दो जन्मों के साथ माना है। प्रथम से दस तक के निदानों का सम्बन्ध एक जन्म से और शेष दो निदानों का सम्बन्ध द्वितीय जन्म से स्वीकार किया गया है। उन्होंने निदानों के चार विभेद किये हैं[2]—

	१.	बीज उत्पादक शक्ति	— अविद्या, संस्कार
वर्तमान	२.	बीज	— विज्ञान-वेदना
	३.	बीजोत्पादन सामग्री	— तृष्णा, उपादान तथा भव
भविष्य	४	व्यक्त कार्य	— जाति, जरा मरण

प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का यह **तृतीय चरण** है।

उत्तर कालीन बौद्ध अचार्यो ने प्रतीत्य समुत्पादवाद का सैद्धान्तिक पक्ष दार्शनिक रूप से विकसित किया। आचार्य बुद्धघोष ने इसकी विविध प्रकार से मीमांसा करते हुए शून्यता रूपी अनात्मवाद की सिद्धि का आधार माना है।[3] सर्वास्तिवाद के अनुसार प्रतीत्य-समुत्पाद के चार भेद हैं—क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेक जन्मिक), सांबन्धिक (हेतु-फल सम्बन्ध युक्त) और आवस्थिक (पंचस्कन्धिक बारह अवस्थायें)। विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पादको आलय विज्ञान के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वहां अलयविज्ञान सांक्लेशिक बीजों का संग्रह स्थान, मूलविज्ञान, कर्मस्वभाव अथवा कारण-

---

१. तत्त्वार्थ वार्तिक, १.४६, हिन्दी सार, पृ० २७१-२, तुलनार्थ देखिये—विसुद्धिमग्ग, १७ वां परिच्छेद, शिक्षा समुच्चय, पृ० २१६, बोधिचर्यावतार पं० पृ० ३६८, माध्यमिक का० पृ० ५६४,

२. उपाध्याय, बलदेव-बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० ७७

३. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद १७

स्वभाव भी है। उसे न शाश्वत और न उच्छिन्न प्रत्युत सन्तति-मूलक स्वीकार किया गया है। श्‍यानच्वांग ने प्रतीत्यसमुत्पाद को आलयविज्ञान का स्वभाव होने के कारण सस्वभावी (हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति रूप) माना है। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ गतिशील विश्व माना गया है।[१] प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का यह **चतुर्थ चरण** है।

हीनयान में प्रतीत्य समुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष को उद्घाटित किया गया परन्तु महायान ने उसके पारमार्थिक पक्ष को प्रधानता दी। **नागार्जुन ने** शून्यता की सिद्धि में प्रतीत्य समुत्पाद को ही आधार माना है। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य नित्य एकान्तवाद अथवा अनित्य-एकान्तवाद से नहीं प्रत्युत नित्यानित्य-विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। यह शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद् अशाश्वत-अनुच्छेदवाद को प्रस्तुत करता है।[२]

आर्यदेव ने भी स्वभावशून्यता की सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से की। चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि जो प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है वह अज्ञात है क्योंकि उसकी उत्पत्ति स्वभावतः नहीं होती। जो प्रत्यय के आधीन होता है वह शून्य कहा जाता है। संसार को दुःखों से मुक्त करना महाकारुणिक बुद्ध का उद्देश्य है जिसकी सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद के अविरुद्ध पदार्थों के निःस्वभावत्व को दिखाने से होती है।[३] यहां प्रतीत्य समुत्पाद के प्रति अपनी गहरी आस्था व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जैसे सूर्य की किरणों से निरस्त तिमिर द्वारा चिरकाल में भी आकाश काला नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार गम्भीर, उदार, और अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सूर्य-किरण द्वारा समस्त वादियों के समय (सिद्धान्त) रूपी अन्धकार खण्डित हो जाते हैं।[४]

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि माध्यमिक वृत्ति में चन्द्रकीर्ति ने 'प्रतीत्य' शब्द के 'इत्य' शब्द में समुत्पाद के साथ वीप्सार्थक (प्रति-प्रति इत्यानां समुत्पादः = पुनः पुनः विनाशशील = भावों का उत्पाद) समास स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क है कि जहां देशना में अर्थ को स्वीकार

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४४६ त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका २, ५, ८, १५; विशेष देखिये—अभिधर्मकोश, तृतीय कोश।

२. माध्यमिक कारिका, १५-१०, २४.१८; बौद्धागमार्थ संग्रह, पृ० १६४

३. चतुःशतक, १६.२३ वृत्ति

४. वही, १६.२५ वृत्ति

किया गया है और उस अर्थ का ज्ञान ऐकेन्द्रिय से होना बताया गया है वहां यह वीप्सार्थता असंगत हो जायगी। जैसे "चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानं" में चक्षुरिन्द्रिय हेतुक ज्ञान है और वह एकार्थक है अतः वहां वीप्सार्थ की पौनपुण्यता कैसे संभव होगी! इसके विपरीत चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद को प्राप्त्यर्थक माना है। इस मान्यता में अर्थ विशेष अङ्गीकृत हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यर्थता सम्भव है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद को सकारणता और परिवर्तनशीलता के साथ ही सापेक्षता का भी प्रतीक माना है—हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः (पृ० ५)। नागार्जुन की दृष्टि में यही प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यवाद है—यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे (माध्यामिक कारीका)[1]।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ चन्द्रकीर्ति की दृष्टि से "इदं प्रत्ययता" नहीं क्योंकि इसमें 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद' में गर्भित अर्थ का अभिधान नहीं है। उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद में उत्पाद और निरोध का सन्दर्भ अवश्य है पर वहां नेयार्थता (मोक्ष साधन) और नीतार्थता (फल रूप मोक्ष) कराते हुए उन्होंने निःस्वभावता को सिद्ध किया है। समूचे माध्यमिक शास्त्रों ने इसी सन्दर्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण किया है। पदार्थों को तीनों कालों में निःस्वभाव बताते हुए उन्हें उत्पाद और निरोध से रहित अतएव मृषार्थक प्रदर्शित किया है। उनकी दृष्टि में प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य ही निःस्वभाव हो गया। निःस्वभावका अर्थ है स्वभाव से अनुत्पन्न पदार्थ। ऐसा पदार्थ स्वप्न सदृश, शून्यतात्मक, और अनात्मक होता है। जिसकी उत्पत्ति कारण पूर्वक होती है वह स्वतन्त्र रूप से नहीं होता। चूंकि स्वरूप स्वतन्त्र नहीं होता इसलिए उसके स्वयं का अस्तित्व नहीं होता। पदार्थ को शून्यतात्मक मानने का यही कारण मुख्य है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी पदार्थों का अभाव है। प्रतीत्य समुत्पन्न वस्तु तो माया केस मान है। निःस्वभाव होने से भाव दर्शन भी विपरीत हो जाता है। इसलिए भाव स्वभावत्व वादियों की दृष्टि में प्रतीत्य समुत्पादाभाव और शाश्वतोच्छेद दृष्टिदोष उपस्थित हो जाते हैं।

भाव स्वभावत्व वादियों के मन में प्रतीत्य-समुत्पाद विषयक मान्यता होते हुए भी वस्तुतः उसका यथार्थ रूप उसमें नहीं मिलता। जिस प्रकार व्यवहार से अनभिज्ञ बालक प्रतिबिम्ब में सत्यता के अध्यारोप

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४५२ विशेष देखिये—अभिधर्म विनिश्चय सूत्र।

से यथावत् अवस्थित स्वभाव शून्यता के खण्डन से सस्वभावत्व प्रतीति में प्रतिबिम्ब की कल्पना को नहीं जानता उसी प्रकार भावस्वभावत्व वाद में प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार किये जाने पर भी स्वभावतः शून्यात्मक पदार्थ के निःस्वभावत्व को ग्रहण न करने के कारण और असत् स्वरूप को सत्स्वरूप रूप से ग्रहण करने के कारण शून्यात्मक पदार्थ को स्वीकार नहीं करते।[1]

प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से पदार्थ के निःस्वभावत्व की सिद्धि प्रतीत्य समुत्पाद के विकास का **पञ्चम चरण** है। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही निःस्वभावत्व स्वीकारकर लिया गया है[२]। निःस्वभावत्व के ज्ञान से राग का कारण, संसार का बीज रूप विज्ञान सर्वथा निवृत्त हो जाता है। इसी रीति से श्रावकों की, अनुत्पन्न धर्म के कथन करने की सामर्थ्य वाले बुद्धों की तथा बोधिसत्वों की संसार से निवृत्त होने की व्यवस्था की गई है। प्रतीत्य समुत्पाद और निर्वाण का यह पारस्परिक सम्बन्ध विशेष महत्वपूर्ण है। प्रतीत्यसमुत्पाद इदम्प्रत्ययता एवं सापेक्षता का सूचक है परन्तु निर्वाण का अध्यात्मिक लक्ष्य संसारण के कारणों का निरोधकर परमार्थ की प्राप्ति का संकेत करना है।

इसी प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा शून्यता का उपयोग उत्तरकाल में गुह्य साधना के क्षेत्र में बहुत अधिक हुआ। वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रपाणि तथागत आदि सभी इस शून्यता के प्रतीक हैं। वज्र शब्द को भी शून्यतार्थक माना गया। प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का यह **षष्ठ चरण** है।

---

५. मध्यम मार्ग

प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग (मज्झिम पटिपदा) का अन्वेषण किया। यह शाश्वतवाद और उच्छेदवाद अथवा कामसुखल्लिकानुयोग और अत्तक्लमथानुयोग के बीच का पथ है जिसका उपदेश बुद्ध ने भिन्न-

---

१. वही, पृ० ४६०
२. चतुःशतक, १४. २३ वृत्ति.

भिन्न अवसरों पर अपने अनुयायियों को दिया था।[1] चन्द्रकीर्ति की दृष्टि में मध्यमा प्रतिपद् दोनों अन्तों का मध्य है—अरुच्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनायात, अनिकेतन और अविज्ञप्तक"[2]। श्री मती रिज डेविड्स ने मज्झिम पटिपदा को अनित्यता और परिवर्तन का उपदेश माना है।[3] परन्तु यह तथ्यसंगत प्रतीत नहीं होता। बुद्ध ने पदार्थ जगत् का अस्तित्व "है भी और नहीं भी है" ऐसा स्वीकार नहीं किया प्रत्युत उसे "न सत् एवं न असत्" माना है। प्रतीत्य समुत्पाद में इसी सूत्र को हम विकसित अवस्था में पाते हैं।

---

६. कर्मवाद

बौद्धधर्म एक मनोवैज्ञानिक धर्म है। मनोविज्ञान की आधार शिला पर वह प्राणि-जगत को कम्मदायाद, कम्मयोनि, और कम्मपटिसरण कहता है।[4] कर्म ही पुनर्जन्म का मूल कारण है। सद्गति और असद्गति का आधार कर्म को माना गया है। यही उसका विपाक है—

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती॥

कर्म मूलतः दो प्रकार के हैं—चित्तकर्म (मानसिक कर्म) और चेतसिक कर्म (काय और वचन से उत्पन्न कर्म)।[5] इनमें चित्तकर्म प्रधान हैं।[6] कर्म पहले 'कृत' होते हैं और फिर 'उपचित' होते हैं। कर्म करने की पृष्ठ भूमि में चित्त भावना का आधार हुआ करता है अर्थात् भावों की शुद्धि-अशुद्धि पर कर्म-प्रकृति निर्भर रहती है। संकल्प (प्रयोग), संकल्प

---

१. सयुक्त निकाय, २, १, १५-१७; धम्मचक्कपवत्तनसुत्त

२. प्रसन्नपदा मा० का०, पृ० २६९ ३. बुद्धिज्म, पृ० ९४

४. कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीतताया ति, मज्झिम. ३.४५

५. चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा—अङ्गुत्तर निकाय

६ मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया-धम्मपद

के अनुसार सामग्री का एकत्रीकरण (मौल प्रयोग), संकल्प को कार्य रूप में परिणत करना (मौल कर्म पथ), और अनुवर्तन (पृष्ठ) ये कर्म की परिपूर्णता के चार सोपान दृष्टव्य हैं। सर्वास्तिवादियों के अनुसार चेतना चित्तसहगत धर्म हैं। हमारा ध्यान कभी अनित्य और अशुभ को अशुभ समझता है (योनिशो मनसिकारो) और कभी इसके विपरीत भी हो जाता है (अयोनिशो मनसिकारो)। कुशल और अकुशल कर्मों का सम्बन्ध इन दोनों प्रकार के ध्यानों से होता है। लोभ, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल मूल हैं तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, निर्वेद, विराग आदि कुशल मूल हैं। पिटक में कहीं कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण-शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल के भेद से कर्मों का विभाजन मिलता है और कहीं कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के रूप में षडभिजातियों अथवा लेश्याओं का वर्णन मिलता है। यह लेश्या-प्रकार जैन एवं अजीविक से सम्बद्ध होना चाहिए। कर्मवाद का यह **प्रारम्भिक** रूप है।

बुद्ध की दृष्टि में कर्म एक प्रकार का चित्त संकल्प है जिसे उन्होंने 'चेतना' शब्द कहकर व्यवहृत किया है[1]। उसे वे न तो वैदिक सिद्धान्त के समान अदृष्ट शक्ति मानते हैं और न जैनों के समान पौद्गलिक मानते हैं। बल्कि वे उसे अनादि और अविच्छिन्न परम्परा में घटित एक घटना मात्र मानते हैं। उनके अनुसार स्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता प्राणी स्वयं होता है, अन्य नहीं। यह कर्मफल पांच प्रकार का है—अधिपतिफल (कारण हेतु से निवृत्त फल), निष्यन्दफल (सास्रव कर्मों का फल), विसंयोग-फल (मोह एवं क्लेश का उच्छेदक और पुरुषकर्मफल (सहभू और सम्प्रयुक्तक हेतु जन्य)। कर्म विपाक दुर्विज्ञेय और दुर्लंघ्य है। तृष्णा से अभिष्यन्दित होकर कर्म विपाक देते हैं। कर्मवाद के विकास का **द्वितीय चरण** है

सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) परम्परा में अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न का अस्तित्व है अतः कर्म अपने विपाक फल को क्रियाकाल में आक्षिप्त करता है और कर्म के अतीत होने पर विपाक का दान करता है। चन्द्रकीर्ति इसे अस्वीकार करते हैं और कर्म को क्रिया काल में निरुद्ध बताकर कर्ता के

---

१. चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा।
तस्यानेकविधो भेदः कर्मणः परिकीर्तितः॥
तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतं।
चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत्तु कायिकवाचिकम्॥ मध्यमक, १७.२-३,

चित्तसन्तान में 'अविप्रणाश' नामक द्रव्य का उत्पाद बतलाते हैं[१]। सौत्रान्तिक अतीत और अरूपी संस्कृत (प्राप्ति) नामक धर्मो के अस्तित्व को नहीं मानते। वे बाह्यार्थ और चित्त सन्तान का निषेध नहीं करते किन्तु कर्म और कर्म विपाक को चित्त में अहित होना बताते हैं। वे विज्ञानवादी रूप के अस्तित्व को नहीं मानते। कर्मवाद के विकास का यह तृतीय चरण है।

कर्म संसरण का मूल कारण होता है[२] और संसरण का अर्थ है संसार में जन्म-मरण ग्रहण करना। भगवान् बुद्ध को अपने शिष्यों के पुनर्जन्म के विषय में ज्ञान था। उनका यह ज्ञान उनके स्वसंवेद्य अनुभव का परिणाम था।[३] भिक्षुणी ऋषिदासी, जैसी महाकाश्यप और सारिपुत्र जैसे भिक्षु भी पूर्वजन्म सम्बन्धी ज्ञान से परिपूर्ण थे। धम्मपद का "ग्रहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न कहासि' कथन पुनर्जन्म से ही सम्बन्धित है। वर्णवाद भी कर्म पर आधारीत है। इसलिए भगवान् ने कर्म प्रतिशरण होने के लिए कहा है। बुद्ध, धम्म और कम्म में कोई अन्तर नहीं। तथागत तो मात्र मार्ग दर्शक हैं।[४] उत्तम कार्य करते हुए उन्होंने सदैव आत्मसंयमो होने का उपदेश दिया।[५] आर्यदेव ने भी यह स्पष्ट किया है कि संसार से मोह होना दुःख का मूल कारण है।[६] उत्तम गति में भी अनिष्ट कर्म फल से दरिप्रता, दुर्बलता आदि जैसी विडम्बनायें बनी रहती हैं।[७] वहां सम्पत्ति से मान और उससे अधःपतन होता है।[८] यही सब पुनर्जन्म का कारण और फल है।

आत्मा के अस्तित्व को अस्वोकार करना और पुनर्जन्म को स्वीकार करना ये दोनों परस्पर विपरीत तत्व प्रतीत होते हैं। सति केवट्ट पुत्त नामक भिक्षु के मन में भी इसी प्रकार की अनेक शङ्कायें रही होगीं।[९] भगवान् ने उनका समाधान किया था और बताया था कि विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न है। प्रथम का अन्तिम विज्ञान निलीन होता है और द्वितीय जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न होता है। अत एव न तो वही जीव बना रहता है और

---

१. माध्यमिक वृत्ति, १७२३; बौद्धधर्म दर्शन , पृ० ३७२

२. चतुःशतक, ७.४

३. विनयपिटक, महावग्ग; मज्झिमनिकाय, १.३.१

४. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता, धम्मपद, २०.४.

५. दीघनिकाय, महाप्परि निब्बाणसुत्त,

६. चतुःशतक, ८.१३

७. वही, ७.७.

८. वही, ७-१६

९. संयुत्त निकाय, १२-७

न अन्य जीव ही उत्पन्न होता है। मिलिन्दपञ्ह में नागसेन और मिलिन्द के बीच हुए संवाद में भी यही बात कही गई है। मिलिन्द के प्रश्न पर नागसेन ने कहा कि जिस प्रकार शैशवावस्था से बढ़ता हुआ वही व्यक्ति वृद्धावस्था तक पहुंचता है। हम दोनों अवस्थाओं में रहने वाले व्यक्ति को एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न नहीं कर सकते। उसी प्रकार पुनर्जन्म में जन्मा व्यक्ति न पूर्व जन्म से भिन्न है और न अभिन्न (न च सो न च अञ्ञो)। धर्मों के निर्बाध प्रवाह से, उनके संघात रूप में आ जाने से एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है। यह उत्पाद और निरोध युगवत्‌वत् प्रतीत होता है। अतएव न तो वह वही है और न उससे भिन्न ही है। यह नाम-रूप के द्वारा कुशल-अकुशल कर्म करता है और उन कर्मों के द्वारा एक अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है। वही संसरण करता है और कर्म के निःशेप हो जाने पर यह संसरण बन्द हो जाता है।[1]

बौद्धधर्म में साधारणतः आत्माका प्रतिषेध किया गया है। उसके विपरीत उत्पन्न प्रश्नों का समाधान दो प्रकार से हुआ है। प्रथमतः पुद्‌गलवादी हैं जिन्होंने पुद्‌गल (आत्मा) को स्कन्धों से न भिन्न माना है और न अभिन्न है प्रत्युत उसकी उपलब्धि पंच-विज्ञान काय और मनोविज्ञान से स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में पुद्‌गल एक वस्तु-सत् है, एक द्रव्य है, किन्तु स्कन्धों से उसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार वह न नित्य है और न अनित्य है। दूसरा समाधान यह है कि जिसे लोक में आत्मा आदि कहते हैं, वह एक सन्तान (सन्तति) है जिसके अंगों का हेतु-फल-सम्बन्ध है। मृत्यु से इसका उपच्छेद नहीं होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियों में नवीन कर्म समूह का विपाक प्रारम्भ होता है। इसमें वाक्‌चातुरी है, किंतु एक पहेली है। जिस सन्तति की कल्पना बौद्ध करते हैं, उसमें आत्मा के सब सामर्थ्य पाये जाते हैं।[2]

नागार्जुन ने कर्म को भी निःस्वभाव मान लिया है। उनका मन्तव्य है कि यदि कर्म स्वभावतः होता तो वह शाश्वत और अकृत होता। पर वह शाश्वत और अकृत होता नहीं, अन्यथा अकृताभ्यागम दोष की प्रसक्ति होगी। सिद्धान्त में दृढ़ता लाने के लिए कर्म के कारण क्लेश को भी नागार्जुन ने

---

१. मिलिन्द पञ्ह, लक्खणपञ्ह

२. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृ. ३८५–६.

निःस्वभाव मान लिया। आदेव ने भी नागार्जुन के मन्तव्य का समर्थन किया है।[1] इसे कर्मवाद के विकासका हम चतुर्थ चरण कह सकते हैं।

---

७. निर्वाण

निर्वाण आध्यात्मिक साधना की वह चरम सीमा है जहाँ समस्त कर्मास्रवों का क्षय हो जाता है। वह स्थिति अतीन्द्रिय परम सुखकारी है[2]। इतिवुत्तक (सुत्त. ४३) में निर्वाण को अतर्कावचर ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, अशोक और विरज पद माना है। त्रिपिटक में प्रायः सर्वत्र उसे स्वसंवेद्य स्वीकार दिया गया है। थेर-थेरी गाथा में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के मनोहारी अनुभव संकलित हैं। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोध काल में उसका स्वयं साक्षात्कार किया था। थेर गाथा में विविध स्थलों में निर्वाण को अभव, शान्त और अमृत पद माना गया है। यह अमृत पदरूपा निर्वाण, राग, द्वेष और मोह के क्षय से प्राप्त होता है।[3] तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा है।[4] निर्वाण इसी जन्म में प्राप्त होता हैं। इसी को सोपधिशेष निर्वाण कहा गया है। इस निर्वाण पद को अच्युत भी कहा गया है।[5] अर्थात् एक बार निर्वाण प्राप्त होने पर वहां से च्युत होने का प्रश्न ही नहीं। सोपधिशेष निर्वाण प्राप्ति के लिए साधक को लोभ, ईर्ष्या, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, अह्री तथा अनुत्ताप इन दस क्लेशों का आत्यन्तिक विनाश करना पड़ता है। इस प्राप्ति के चार सोपान हैं—स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत्व। यह एहिपस्सक धम्म है और इसका सम्बन्ध जीवन की अवस्था से निर्वृत होना है। निरुपधिशेष निर्वाण जीवन की उस निर्वृत अवस्था के बाद की अवस्था का नाम है। प्रथम अनुभूति से सम्बन्धित और स्कन्ध सहगत निर्वाण है और द्वितीय अतीत से सम्बन्धित स्कन्ध विनिर्मुक्त निर्वाण है।

---

१. चतुःशतक, ७.१८–२३.

२. निब्बाणं परमं सुखं, मज्झिम; २. ३. ५

३. रागक्खयो; दोसक्खयो, मोहक्खयो, इदं वुच्चति निब्बाणं,—संयुक्त, जम्बू, संयुत्त.

४. तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुच्चति—सुत्तनिपात, पारायण वग्ग,

५. दिट्ठधम्माभिनिब्बुता–उदान, पाटिलिगामियवग्ग।

६. अद्दस्सं विरजं निब्बाणं परम च्युतं—थेरीगाथा, ९७.

परमपद निर्वाण की प्राप्ति संस्कारों के पूर्ण शमन से होती है। वह एक ऐसा आयतन है जहां पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आकिञ्चन्य, लोक, परलोक, चन्द्र, सूर्य, च्युति, स्थिति, आधार आदि नहीं हैं।[१] उसे असंस्कृत, सत्य, पार, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अद्भुत, विशुद्ध, द्वीप और तृण रूप माना है।[२] निर्वाण को अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत भी कहा गया है।[३] दूसरी ओर बुद्धघोष ने निर्वाण को निषेधात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है कि यहां मात्र दुःख है, दुःखित कोई नहीं, मात्र क्रिया है, कारक कोई नहीं, मात्र निर्वाण है, निर्वृत कोई नहीं, मात्र मार्ग है, मार्गानुगामी कोई नहीं। निर्वाण पदमच्चुतमच्चन्तं असङ्खतमनुत्तरं। निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो॥ दर्शन के विकास का यह प्रथम चरण होगा।

दुक्खमेव हि न च को पि दुक्खितो
न कारको किरिया च विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुन
मग्गं अत्थि गमको न विज्जति॥

निर्वाण की उक्त परिभाषाओं एवं स्वरूपों से यह स्पष्ट है कि सामान्यतः स्थविरवाद में निर्वाण सकल दुःखों का अभाव रूप है। उसे चित्त-चेतसिक क्रियाओं का चरम निरोध तथा अभावात्मक स्वीकार किया गया है। निर्गुण उसे एवं, अनिर्वचनीय विशेषण भी दिये जाते हैं। साधक इसे प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त करता है।[४] निर्वाण की अजात और अभाव रूप स्थिति में उसे प्रतीत्य समुत्पन्न कैसे कहा जाय और अनात्मवाद का समर्थन कैसे होगा, ऐसे प्रश्न दार्शनिकों और चिन्तकों के मन में प्रायः उठते रहे हैं। अश्वघोष ने इन प्रश्नों का समाधान बड़ी कुशलता पूर्वक किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, प्रत्युत तैलक्षय से वह केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रज्ञावान् व्यक्तित्व कहीं नहीं जाता, मात्र क्लेशक्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

---

१. उदान, पाटलिय वग्ग २. विसुद्धिमग्ग, ८.२४८.

३. इतिवुत्तक, अञ्ञात सुत्त। अभिधम्मत्थ संगहो (६.६८) में कहा है—

पदमच्चुतमच्चन्तं सङ्खतमनुत्तरं।
निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो॥

४. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ ३२६-३३

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्" ।।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।[1]

अकलङ्क ने भी बौद्धों के निर्वाण की परिभाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने एक स्थान पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों के निरोध को मोक्ष कहा है—रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानपञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः ।[2] और दूसरे स्थान पर निर्वाण को सर्वथा अभावात्मक बताते हैं। मोक्ष की इस परिभाषा के खण्डन के प्रसंग में उन्होंने कहा कि प्रदीप का निरन्वय विनाश असिद्ध है। दीपक रूप से परिणत पुद्गल द्रव्य का भी मुक्त जीवों की तरह विनाश नहीं होता। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। जैसे हथकड़ी-बेड़ी आदि से मुक्त देवदत्त का स्वरूपावस्थान देखा जाता है उसी तरह कर्मबन्ध के अभाव से आत्मा का स्वरूपावस्थान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं।[3] निर्वाण विचार के विकास का यह **द्वितीय चरण** है।

पुंसे के अनुसार आरम्भ में बौद्धधर्म आत्मा, पुनर्जन्म और निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। बाद में धर्म-नैरात्म्य की भावना और मद-निर्मदन के लिए नैरात्म्यवाद की स्थापना हुई। इसके दो रूप हुए—पुद्गलवाद और सन्ततिवाद। किन्तु पुनर्जन्म में जो विश्वास था, वह नष्ट नहीं हो सका। जो सन्ततिवाद के मानने वाले हैं उनमें कोई निर्वाण को वस्तु-सत् मानते हैं। यह दूसरे सौत्रान्तिक और पुब्बसेलिय हैं। इनमें हम स्थविरों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। पहली कोटि में विभज्जवादी, सर्वास्तिवादी, और वैभाषिक हैं अर्थात् आभिधार्मिक प्रायः पहले मत के हैं। 'पुब्बसेलिय' निर्वाण को वस्तु-सत् नहीं मानते (बुद्धघोष के अनुसार)। स्थविरों का भी मत है कि निर्वाण का अस्तित्व नहीं है। प्रज्ञप्तिमात्र होने के कारण उन्होंने निर्वाण को स्थापनीय प्रश्नों मे समाहित किया है[4]। वैभाषिक इसे स्वीकार नहीं करते।

---

१. सौन्दरानन्द, १६. २८-२९
२. तत्त्वार्थवार्तिक, १, १, ८
३. वही, १०, ४, १७
४. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २९३

पुद्गलवादियों के अनुसार निर्वृत स्थिति में भी पुद्गल (आत्मा) का अस्तित्व है। वात्सीपुत्रीय इसे स्कन्धों से न सम्बद्ध मानते हैं और न पृथक्। विज्ञानवाद ने पुद्गल के स्थान पर एक विशुद्ध 'प्रभास्वर चित्त' की कल्पना की है। पांच अथवा आठ पुद्गलवादी, चार महासंधिक निकाय एवं विभज्जवादी निर्वाण के इस स्वरूप को स्वीकार करते हैं। इसके विकास का यह **तृतीय चरण है**

सौत्रान्तिक निर्वाण को क्लेश-जन्म का अभाव रूप मानते हैं पर **वैभाषिक** उसे प्रतिसंख्या-निरोध कहते हैं। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण एक नित्य, असंस्कृत धर्म एक पृथक् भूत सत् है और वह अचेतन तथा प्रतिसंख्या-निरोध (सांसारिक आश्रवों का क्षय रूप) है।[1] सौत्रान्तिक वैभाषिकों के उक्त मत से सहमत नहीं। वे निर्वाण को क्लेश क्षय रूप तो मानते है परन्तु अचेतन अवस्था नहीं मानते। वे भगवान् का धर्मकाय स्वीकार करते हैं और निर्वाण को एक अभावात्मक स्थिति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हीनयान की ये दोनों शाखायें—वैभाषिक और सौत्रान्तिक-निर्वाण को नितान्त अभावात्मक मानती है।[1] निर्वाण दर्शन के विकास का यह **चतुर्थ चरण है।**

महायानी परम्परा में निर्वाण का कुछ और विकास हुआ। हीनयान दर्शन में मात्र पुद्गलनैरात्म्य की कल्पना थी जिससे क्लेशावरण का उच्छेद होता है पर महायान दर्शन में उसके अतिरिक्त धर्मनैरात्म्य की भी कल्पना की गई जिसके ज्ञान से ज्ञेयावरण दूर होता है। सत्काय दृष्टि (आत्मदृष्टि) राग-द्वेष का कारण है[2] अतः उसे दूर करने के लिए पुद्गलनैरात्म्य की भावना आवश्यक है। तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए ज्ञेयावरण को दूर करना अपेक्षित है जो शून्यता ज्ञान (धर्मनैरात्म्य) से सम्भव है। दोनों आवरणों के दूर होने से ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यह निर्वाण शब्दतः अनिर्वचनीय है। कल्पना का अपनयन हो जाने पर ही निर्वाण प्राप्य है। महायान में बुद्ध का धर्मकाय स्वीकार किया गया और मानव जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् प्राप्ति न मानकर बुद्धत्व प्राप्ति स्वीकार किया गया। योगाचार बाह्य जगत् का आभास मात्र

---

१. द्रव्यंसत् प्रतिसंख्यानिरोधः— सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यवत् इति वैभाषिकः —अभिधर्मकोश, व्याख्या, पृ० १७।

२. सत्कायदृष्टि प्रभवानशेषान्, क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्म निषेधमेव॥
माध्यमिकावतार ६.१२०, मा० वृत्ति, पृ० ३४०

मानकर वस्तुसत्ता का प्रतिषेध करता है वह एक आलयविज्ञान को मानता है जो सर्वधर्मो में बीजवत् सांक्लेशिक कारण रूप से आलीन रहता है। उसे विपाक विज्ञान भी कहते हैं। वह ज्ञेय पदार्थों का आश्रय है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में आलयविज्ञान का वही स्थान है जो आत्मा और जीवितेद्रिय दोनों का मिलकर अन्य वादों में है।[1] इसे हम निर्वाण के स्वरूप के विकास का **पञ्चम चरण** कह सकते हैं।

हीनयान और महायान दर्शन में निर्वाण के स्वरूप में कुछ सामान्य विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं और कुछ विशिष्ट विशेषतायें। **सामान्य विशेषतायें** इस प्रकार हैं—

१. निर्वाण निष्प्रपञ्च और अनिर्वचनीय है। असंस्कृत धर्म होने के कारण वह उत्पाद, विनाश एवं परिवर्तन से दूर है।

२. निर्वाण स्वसंवेद्य है।

३. अष्टाङ्गिक मार्ग का परिपालन निर्वाण-प्राप्ति का साधन है।

४. व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध होता है।

५. अर्हत् निर्वाण निम्न कोटि का है और बुद्ध का ज्ञान तथा शक्ति लोकोत्तर है।

६. त्रिकालवर्ती बुद्धों के लिए यह एक और समान है।

दोनो दर्शनों में सम्मत निर्वाण के स्वरूप की तुलनात्मक विशेषताओं की दृष्टि से उनका **विचार वैभिन्य** इस प्रकार देखा जा सकता है—

हीनयान	महायान
१. बहुधर्मवादी	१. अद्वयवादी
२. संस्कृत धर्म वस्तु-सत् हैं।	२. धर्म संस्कृत (परापेक्ष) होने के कारण स्वभावशून्य हैं।
३. राशि अवयवी प्रज्ञप्ति सत् हैं और केवल धर्म वस्तु है।	३. धर्म शून्य है और केवल धर्मता (धर्मकाय) वस्तु सत् है।
४. पुद्गल नैरात्म्य है। केवल संस्कार सहभू है।	४. धर्मनैरात्म है और धर्मकाय है।
५. धर्म संस्कृत एवं असंस्कृत में विभक्त हैं और दोनों वस्तु सत् हैं।	५. वस्तु सत् कोई नहीं। दोनों शून्यता के आधीन हैं।

६. संस्कृत वस्तु प्रतीत्य समुत्पन्न है।	६. निरपेक्ष ही वस्तु है, परापेक्ष नहीं
७. प्रतीत्यसमुत्पादवाद	७. शून्यता धर्म समानार्थक है।
८. परिनिर्वृत तथागत नित्य और अचेतन वस्तु है।	८. तथागत स्वभावतः नहीं, धर्मतः है।
९. निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	९. सुखात्मक तथा अनिर्वचनीय है।
१०. निर्वाण प्राप्त (उपलभ्य) है।	१०. निर्वाण अप्राप्त (अनुपलभ्य) है।
११. निर्वाण लोकोत्तर दशा है।	११. निर्वाण लोकोत्तरतम दशा है।
१२. विमुक्ति काय प्राप्त करते हैं।	१२. धर्म काय और सर्वज्ञत्व प्राप्त करते हैं।
१३. सोपधिशेष (प्रति संख्या-निरोध) और निरुपधिशेष (अप्रति-संख्यानिरोध) ये दो रूप हैं।	१३. इनके अतिरिक्त प्रकृतिशुद्ध और अप्रतिष्ठित ये निर्वाण के दो भेद और हैं।
१४. निर्वाण और संसार में धर्म-समता नहीं।	१४. निर्वाण और संसार में धर्म समता है।
१५. पदार्थ सत् है।	१५. पदार्थ का प्रपञ्च मायिक तथा मिथ्या है।
१६. क्लेशावरण से ही निर्वाण मिलता है।	१६. निर्वाण के लिए क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनों से मुक्त होना अपेक्षित है।

शून्यवाद के संस्थापक आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण को न भाव माना, न अभाव और न भाव-अभाव। उन्होंने उसे अप्रवृत्तिमात्र स्वीकार किया है। निर्वाण को भाव मानने पर उसका जरा-मरण, संस्कृतत्व तथा हेतु-प्रतीत्यजन्य मानना पड़ेगा परन्तु निर्वाण में ये विशेषतायें नहीं है। अभाव

यदि मानते हैं तो उसे अनित्य मानना होगा। यदि उभय है तो संस्कारों का आत्मलाभ तथा उनका नाश दोनों को ही निर्वाण कहा जाता है।

आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने भी निर्वाण को अभावात्मक माना है। उन्होंने कहा है कि जैसे दुःख, दुःख समुदय, और दुःखनिरोध ये तीनों आर्यसत्य हैं वैसे ही क्लेशक्षय लक्षण स्वरूप मोक्ष नहीं है। क्योंकि उससे कुछ भी लाभ नहीं। बन्ध्य और मोक्ष इन दोनों का भी अवयव स्वभाव नहीं मिलता यदि इसका कुछ उपयोग मान भी लिया तो उससे अनुमित सत्व ही होगा और यह है नहीं। अतएव इसका सद्भाव नहीं है।

"समस्त स्कन्धों का नाश, जन्म-मरण का क्षय, विराग, निरोध निर्वाण है।" इस प्रकार के आगम प्रमाण से निर्वाण में स्कन्ध सर्वथा नहीं होते। पुद्गल भी नहीं होता। यदि निर्वाण में स्कन्ध होते तो पुद्गल भी होता। तब उनके होने पर निर्वाण की प्राप्ति में सूत्र-विरोध होगा और निर्वाण संसार से बाहर नहीं होगा। इस कारण उस निर्वाण में निर्वाणभूत कुछ भी नहीं मिलता। इसलिए कहा है—'यत्र दृष्टं हि निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत्।" यहां निर्वाण को न आधार माना गया और न आधेय। निराधार आधेय के अभाव से निर्वाण का अभाव सिद्ध हो जाता है।

मुक्त अवस्था में ज्ञान के अस्तित्व की कल्पना करना भी निरर्थक है। भव-हीन व्यक्ति के लिए ज्ञान के सद्भाव का कोई तात्पर्य नहीं। वह कोई भी पदार्थ अच्छी तरह से अनुभूति में नहीं ला पाता। क्योंकि उसके हेतुफलात्मक सारे विकार समूह प्रशान्त हो चुके। इसलिए मुक्त आत्मा में मोक्ष ज्ञान युक्त नहीं।

मुक्तावस्था में आत्मा का भी अस्तित्व नहीं, अन्यथा आत्माश्रित ज्ञान-शक्ति का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा और ज्ञानशक्ति ज्ञान सत्ता रूप है। आत्मा के अभाव में ज्ञान शक्ति निराश्रित हो जाती हैं। ज्ञान शक्ति निराश्रित हो जाने से भव भावना भी निवृत्त हो जाती है।[1] बौद्ध दर्शन में निर्वाण का यह विशेष स्वरूप है। इसे हम निर्वाण के विकास का **षष्ठ चरण** कह सकते हैं।

---

१. चतुःशतक, ६-२०-२५

८. ईश्वर कल्पना

दार्शनिक क्षेत्र में ईश्वरका स्वरूप आज भी विवाद-ग्रस्त प्रश्नके रूपमें खड़ा है। सृष्टिके प्रारम्भ से ही दार्शनिकों ने प्रस्तुत प्रश्न को अपने ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। ये प्रयत्न स्थूल रूपसे दो अंगोंमें विभाजित किये जा सकते हैं—श्रमण प्रयत्न और श्रमणेतर प्रयत्न। श्रमण संस्कृति के आचार्यों ने ईश्वर को ईश्वर रूपमे न मानकर उसे पथप्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया है। ईश्वर का कार्य यहाँ स्वयंकृत कर्म करते हैं। श्रमणेतर संस्कृति में ईश्वर को सृष्टिकर्ता-हर्ता और साथही सुखदु-:खदाता के रूप में अङ्गीकार किया गया है। बौद्धधर्म-दर्शन श्रमण संस्कृति की अन्यतम शाखा है। उसमें ईश्वरवाद को कम्मवाद के रूप में उपस्थित किया गया है।

१ **ईश्वर-कल्पना की उत्पत्ति**—पथिकसुत्त में ईश्वर निर्माणवाद का खण्डन करते हुए भगवान् बुद्ध ने ईश्वर-कल्पना की उत्पत्ति बतायी है[1]—

वहुत समय के वाद इस लोक का प्रलय होता है। प्रलयके बाद आभास्वर ब्रह्मलोकवासी वहाँ दीर्घकाल तक रहते हैं। तदनन्तर पुनः प्रलय होता है और एक शून्य (सुञ्ञं) ब्रह्म विमान प्रकट होता है। आभास्वर ब्रह्मलोक से कोई प्राणी आयु अथवा पुण्य-क्षय हो जाने के कारण च्युत होकर ब्रह्मविमान में उत्पन्न होता है। कुछ समय बाद दूसरे प्राणी भी इसी प्रकार वहाँ उत्पन्न हो जाते हैं। जो प्राणी वहाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसके मनमें यह विचार आता है—मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, अनभिभूत, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्य में उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पिता हूँ। मैंने ही इन प्राणियों को उत्पन्न किया है। मेरे ही मन में सर्व प्रथम यह विचार आया था अहो, दूसरे प्राणी यहाँ आवें। अत; मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ उत्पन्न हुए हैं। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए उनके भी मनमें यह विचार उत्पन्न होता है कि यह ईश्वर कर्ता, पिता, ब्रह्मा, महाब्रह्मा है, इसने ही हम लोगों को उत्पन्न किया है।

जो प्राणी पहले उत्पन्न होता है वह अधिक आयुवान् और अधिक सम्मानित होता है। और जो पश्चात् उत्पन्न होता है वह अल्पायुवान् और अपेक्षाकृत कम सम्मानित होता है। यही कारण है कि पश्चात् उत्पन्न होने वाला प्राणी उस काया को छोड़कर इस लोक में आता है। यहाँ आकर प्रव्रजित हो जाता

---

१. दीघनिकाय, सूत्रसंख्या २४

हैं। और चित्त समाधि प्राप्त करने पर अपने समाहित चित्त में जात्यस्मरण करता है—जो यह ब्रह्मा है। जिस ब्रह्मा ने हमें उत्पन्न किया है वह नित्य ध्रुव और शाश्वत, निर्विकार है तथा जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, अनित्य अध्रुव, अल्पायु और मरणशील हैं।

यो खो सो भवं ब्रह्मा महाब्रह्मा०, येन मयं भोत्ता ब्रम्हुना निम्मिता, सो निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसमं तथेव ठस्सति, ये पन मयं अहुम्हा, तेन भोत्ता। ब्रम्हुना निम्मिता, ते मयं अनिच्चा, अद्धुवा, अप्पायुका चवनधम्मा तथता आगता ति।[1]

बासठ मिथ्यादृष्टियों के प्रसंग में भगवान् बुद्ध ने आत्मा और लोक को अंशतः अनित्य माननेवाले इस सिद्धान्त को एकच्चसस्सतवाद कहा है।[2] वहां पर भी लगभग इन्हीं शब्दों में ईश्वर की उत्पत्ति का कथन किया गया है। इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् बुद्ध की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता मानसिक सत्ता है। यद्यपि उसका सृष्टिकर्ता के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है।

२. **ईश्वर का स्वरूप अवक्तव्य है**—प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में ईश्वर का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं हो सका। उसने थोड़ा-बहुत अवक्तव्य का स्थान ले लिया है। चूल सकुलदायी सुत्तन्त में उदायी लोक के पूर्वान्त विषय में अपने आचार्य के विचार भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित करता है—जिस वर्ण से प्रणीततर दूसरा वर्ण नहीं, वह परम वर्ण है—यस्मा भन्ते, वण्णा अञ्ञो वण्णो उत्तरितरो वा पणीततरो वा नत्थि सो परमो वण्णो ति। भगवान् से "वह कौन-सा वर्ण है जिससे प्रणीततर वर्ण दूसरा नहीं" उदायी ने अपना पूर्व कथन ही दुहराया। भगवान् ने तब कहा—तुम कितना ही प्रयत्न करो, उस वर्ण को, नहीं बतला सकते—तं च वण्णं न पञ्ञोपेसि।[3]

यहाँ जो परमवर्ण कहा है और जिसके स्वरूप का वर्णन सामर्थ्य के बाहर समझा गया है वह ईश्वर के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इससे लगता है भगवान् बुद्ध ने ईश्वर का स्वरूप भी अवक्तव्य मानने का संकेत किया है, यद्यपि अव्याकृत प्रश्नों में इसका कोई स्थान नहीं हैं।

---

१. वही ३, १, ८, ३९-४०

२. वही १, ३, ३८

३. मज्झिम. २, २९, ३

ईश्वर का स्वरूप अन्धवेणी के समान है—वस्तुतः ईश्वर का यथार्थ स्वरूप कोई जान नहीं सका। परम्परा से जिसे हमने ईश्वर की गद्दीपर आसीन कर दिया उसी को ईश्वर मानते चले आये। प्रत्यक्ष दर्शन किसी ने नहीं किया। भगवान् बुद्ध इसलिए पूछते हैं—वसिष्ठ, त्रैविद्य ब्राह्मणों में क्या एक भी ब्राह्मण है जिसने ब्रह्मा का स्वयं साक्षात्कार किया हो—"किं पन वासेट्ठ, अत्थि कोचि तेविज्जानं ब्राह्मणानं एको ब्राह्मणो पि येन ब्रह्मा सक्खिदिट्ठो !" उदायीका उत्तर नकारात्मक होता है। बुद्ध पुनः प्रश्न करते हैं—वशिष्ठ, क्या त्रैविद्य ब्राह्मणों के पूर्वज मन्त्रकर्ता, और मन्त्रप्रवक्ता ऋषि थे जिनके कि गीत, प्रोक्त, समीहित पुराने मन्त्र को आजकल त्रैविद्य ब्राह्मण अनुगान-अनुभाषण करते हैं, भाषित का अनुभाषण करते हैं, वाचे का अनुवाचन करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु। उन्होंने भी क्या यह स्वीकार किया है—जहाँ ब्रह्मा है, जिसके साथ ब्रह्मा है, जिस विषय में ब्रह्मा है, हम उसे जानते हैं, हम उसे देखते हैं ? बुद्ध ने इसका निष्कर्ष निकालकर कहा कि त्रैविद्य ब्राह्मणों में एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं जिसने ब्रह्मा का साक्षात्कार किया हो। इति किर वासेट्ठे, नत्थि कोचि तेविज्जानं ब्राह्मणानं एको ब्राह्मणो पि येन ब्रह्मा सक्खिदिट्ठो। जिसने जिसका स्वयम् साक्षात्कार न किया हो अथवा कोई भी उसे नही पा सका हो उसके अस्तित्व को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है !

इस प्रकार बुद्ध ने त्रैविद्य ब्राह्मणों के कथन को अप्रामाणिक घोषितकर ईश्वर एवं ईश्वर द्वारा प्रवेदित वेद को अमान्य किया है। वे ईश्वर मानने वालों की परम्परा को अन्ध वेणी के समान समझते हैं। जैसे अन्धों की पंक्ति एक दूसरे से सम्बद्ध रहती है पहले वाला भी नहीं देखता, बीच वाला भी नहीं देखता और पीछे वाला भी नहीं देखता। उसी प्रकार ईश्वरवादी भी अदृष्ट स्वभावी ईश्वर का अस्तित्व साक्षात्कार किये बिना ही परम्परावशात् स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन में ईश्वर कल्पना का यह प्रारम्भिक रूप रहा होगा।

सुख, दुःख आदि ईश्वरकर्तृक नहीं—तित्थायतन सुत्त में भगवान् बुद्ध ने ईश्वर के प्रति कुछ और सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये हैं। वहाँ वे कहते हैं कि सुख दुःख आदि ईश्वकर्तृक नहीं हो सकते अन्यथा प्राणातिपात, अदिन्नादान, अब्रह्मचर्य, मुसावाद, पिशुनवाचा, परुषवाचा, आदि सभी को ईश्वरकर्तृक मानना पड़ेगा। और इन सबको ईश्वरकर्तृक मानना एक छल हो

होगा। यह हमें अकर्मण्य बना देगा।

तत्र, भिक्खवे, ये ते समण ब्राह्मणा एवं वादिनो एवं दिठ्ठिनो यं किं चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं इस्सर निम्मानहेतु त्याह एवं वदामि-तेना हायस्मन्तो पाणातिपातिनो इस्सर निम्मानहेतु इस्सरनिम्मानं खो पन भिक्खवे, सारतो पच्छागच्छत न होति छन्दो वा वायामो वा इदं वा करणीयं इदं वा अकरणीयं ति। इति करणीया-करणीये खो पन सच्चतो थेततो अनुपलब्भियमाने मुट्ठस्सतीनं विहरतं न होति पच्चतं सहधम्मिको समणवादो।[१]

कर्मवाद और ईश्वर-कल्पना—कर्म वाद बौद्ध धर्म की विशेषता है। जिस कर्म को भगवान् ने गहकारक माना है (गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि)[२] उसे ही सुख-दुःख का कारण भी स्वीकार किया है। संसारमें गरीबी और अमीरी के बीच जो खाई बनी हुई है ऊंच-नीच दरिद्र-धनवान, मे जो दो किनारे निर्मित हैं उन सभीका मूल कारण हमारे कर्म हैं।[3] इसीलिये माणवक को भगवान् ने कहा था कि प्राणी कर्मस्वक हैं, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं—

कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीन-पणीतताया' ति।[४]

जहाँ प्राणियों को धर्मदायाद और कम्मदायाद बनने के लिये कहा गया है वहीं यह भी कहा है कि संसाररूपी अगाध समुद्रमें परिभ्रमण करानेवाला प्रतीत्यसमुत्पाद भी कर्मचक्र ही है। कर्मसे विपाक (फल) उत्पन्न होता है और विपाक कर्म से उत्पन्न होता है। कर्मसे पुनर्जन्म होता है और यही भव-भ्रमण कराने में कारण है।

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती॥[५]

कर्म को संसारका कारण स्वीकार करने पर ईश्वरको सृष्टिकर्ता-हर्ता अथवा सुख दुःखदि के दाता रूपमें माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती इसलिए भगवान् ने स्वयंको न सर्वज्ञ माना हैं[६] और न ईश्वर। उन्होंने तो अपने

१ अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, ३. ७. १.
२ धम्मपद ११. ६   ३ मज्झिमनिकाय, चूलकम्मविभंग-सुत्तन्त.
४ वही   ५ विभङ्ग, पृष्ठ ४२६.
६. मज्झिमनिकाय, तेविज्जवच्छगोत्त।

आपको पथप्रदर्शक अथवा दीपक के रूपमें स्वीकार किया है। बाकी परिश्रम तो प्राणी को स्वयमेव करना पड़ेगा। स्वयंकृत परिश्रमके बिना और कोई तारक नहीं हो सकता।[1] "अत्त दीपो भव" भी इसीलिये कहा गया है।

यहां यह दृष्टव्य है कि बौद्धदर्शन में सभी दुःखों का कारण पूर्व कर्म नहीं माना गया। कुछ लौकिक कारण भी होते हैं जिनसे दुःख-प्राप्ति होती है। नागसेन ने दुःख के आठ कारण बताये हैं—वात, पित्त, कफ, संनिपात, ऋतु परिणाम, विषमाहार, उपक्रम और कर्म विपाक। वात का प्रकोप दस कारणों से होता है—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अति भोजन, बहुत देर तक खड़े रहना, अधिक श्रम करना और दौड़ना। कर्म फल से भी वात होता है। पर वात के उक्त नौ कारण इहलौकिक हैं। उनसे पूर्वजन्म का कोई सम्बन्ध नहीं। इसी लिए नागसेन ने कहा—न सब्बा वेदना कम्मविपाकजा अप्पं कम्मविपाकजं, बहुतरं अवसेसं। सयुत्त निकाय में भी कहा गया है—ये ते समण ब्राह्मणा एवं वादिनो य कि चायं पुरिसपुग्गलो पटिसवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं पुब्बकतहेतुहि। यं सामं तं अतिधावन्ति तस्मा तेसं समणब्राह्मणानं मिच्छाति वदामि।[2] इसके बावजूद कर्म को संसार का कारण तो माना ही गया है। इस मान्यता से किसी को विरोध नहीं। कर्मवाद की यह नयी व्याख्या है। बौद्ध दर्शन में ईश्वर कल्पना के विकास का यह **तृतीय चरण** है।

प्रतीत्य समुत्पाद और ईश्वर कल्पना—प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा हेतु प्रत्यय सापेक्षता भव भ्रमण करने के कारणों को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का साधन है। परन्तु शून्यवाद तक आते-आते बौद्ध दर्शन ने पदार्थों की सृष्टि में इस नियम को मिथ्या कह दिया। नागार्जुन इस मत के प्रस्थापक आचार्य कहे जा सकते हैं। उनके अनुसार उत्पन्न–नष्ट होने वाले पदार्थों में कार्यकारण भाव की स्थापना करना संभव नहीं है। वस्तुतः कहीं कोई पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होता है, न परतः (दूसरे से), न स्वतः और अहेतु से उत्पन्न होता है। इसे हम अजातिवाद कह सकते हैं।

> न स्वतो, नापि परतो, न द्वाभ्यां, नाप्य हेतुतः।
> उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥[3]

शान्तिदेव ने ईश्वरवाद की आलोचना करते हुए बौद्धेतर दर्शनिकों के मन्तव्यों का खण्डन किया है। नैयायिकों के अनुसार जगत् का कारण ईश्वर

---

१. तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता। धम्मपद २०.४.
२. मिलिन्दपञ्ह, पृ-१३५-६
३. माध्यमिक कारिका, १.१.

है। पर प्रश्न है कि वह ईश्वर है क्या? यदि पृथिवी आदि महाभूत ईश्वर हैं तो ईश्वर के स्थान पर महाभूतों को ही ईश्वर क्यों नहीं मानते? महाभूत ईश्वर हो नहीं सकते क्योंकि महाभूत अनेक अनित्य, अचेतन, अदेवता, लंघ्य और अशुचि रूप हैं जबकि ईश्वर एक, नित्य, चेतन, देवता, अलंघ्य और शुचि रूप है। फिर ईश्वर किसकी सृष्टि करना चाहता है? यदि आत्मा की सृष्टि करना चाहता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि आत्मा और ईश्वर दोनों नित्य हैं। नित्य ईश्वर द्वारा नित्य आत्मा की सृष्टि करना तर्क संगत नहीं। पृथ्वी आदि का स्वभाव नैभाषिक दर्शन में नित्य माना जाता है। ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादि है। आदिमान् सुख–दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं। तब सृष्टि के लिए ईश्वर का बचा क्या? यदि सृष्टि करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति अथवा सामग्री की अपेक्षा है तो फिर उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। यदि ईश्वर बिना इच्छा से सृष्टि करता है तो वह पराधीन है और अपनी इच्छा से करता है तो इच्छाधीन है। इसी प्रसंग में शान्तिदेव ने मीमासकों और सांख्यों के सिद्धान्तों की भी आलोचना की है।[१]

अजातिवाद के प्रतिपक्षी त्रैकाल्यवादी सर्वास्तित्वादियों के अनुसार पदार्थ हेतु-प्रत्यय द्वारा अनागत से वर्तमान में और वर्तमान से अतीत में चला जाता है। काल-परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति और भंग है। वस्तुतः पदार्थ की सत्ता रहती है। वह परमार्थ सत् ही है।[२] यह सर्वास्तिवादी सिद्धान्त ईश्वर कल्पना के विकास का **चतुर्थ चरण** है।

परन्तु शून्यवाद की दृष्टि से यह मत ठीक नहीं क्योंकि पदार्थ किसी दूसरी जगह से न आता है, न ठहरता है, और न कहीं अन्यत्र चला जाता है। जिसे परमार्थ सत् कहा गया है वह वस्तुतः माया और भ्रम है। यही शून्यवाद है। है।[3] ईश्वर कल्पना के विकास में शून्यवाद के इस सिद्धान्त को हम **पञ्चम चरण** के रूप में नियोजित कर सकते हैं।

त्रिपिटकके ईश्वर सम्बन्धी इस मन्तव्यको सर्वास्तिवादी और महायानी आचार्यों ने बौद्ध संस्कृत दार्शनिक साहित्यमें अधिक विकसित और गंभीरता से प्रस्तुत किया है। वसुबन्धुने अभिधर्मकोश[४] और स्फुटार्थ में[५], शान्तिदेवने बोधि-

---

१. बोधि चर्यावतार, ९, ११७–१४३.

२. अभिधर्म कोश, ५-२५-६;

३. बोधिचर्यावतार, ९-१४३–१५२

४. अभिधर्मकोष–५. ८.

५. स्फुटार्थ, पृष्ठ ४४५–६

चर्यावतारमें [1] और शान्तरक्षित ने तत्वसंग्रहमें [2] गंभीर तर्क उपस्थित कर ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व और सुख - दुःख-दातृत्व शक्ति का भरपूर खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त ईश्वरवाद के खण्डन में बौद्ध अचार्यों के निम्नलिखित कुछ और प्रबल तर्क उद्धरणीय हैं।[3]

१. पृथ्वी आदि कार्य घट की तरह किसी बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित हैं, यह ठीक नहीं। क्योंकि समस्त जगत् का कर्ता सर्वज्ञ, नित्य ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाला, अशरीरी, बुद्धिमान् माना जाता है, पर घटादि का कर्ता अल्पज्ञ और सशरीरी होता है। प्राचीन महल आदि के कर्ता का स्मरण तो होता है परन्तु पृथ्वी आदि का नहीं। वस्तुतः समस्त जगत् तो कारण सामग्री से स्वतः उत्पन्न होता है।

२. ईश्वर तो अत्यन्त दयालु और परोपकारी माना जाता है। यदि वह जगत् का कर्ता होता तो दुःखदायक शरीरादि की रचना नहीं करता। धर्म-अधर्म से उसके ये कार्य माने जावें तो ईश्वर-कल्पना से ही क्या लाभ ?

३. ईश्वर का सद्भाव किसी प्रामाण से भी सिद्ध नहीं। ज्ञानादि की प्रतीति नित्यता रूप से भी कहीं भी नहीं होती। ज्ञानादि को शरीर के द्वारा ही सम्पाद्य माना जाता है।

भारतीय दर्शनों में न्याय-वैशेषिक और वेदान्ती ईश्वर वादियों में प्रमुख हैं। तथा सांख्य, जैन, बौद्ध और चार्वाक ईश्वरवाद के विरोधी हैं। पक्ष और प्रतिपक्ष में इनके तर्क लगभग समान दिखाई देते है।

बौद्धदर्शन के उक्त तर्क जैन दर्शन के बहुत समीप हैं। यद्यपि जैन दर्शन ने ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व आदि रूपों के खण्डन में और भी तीखे और गहन तर्कों का उपयोग किया है परन्तु दोनों का लक्ष्य एक होने के कारण चिन्तन में समानता दिखाई देती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक भी था।

---

१. बोधिचर्यावतार, ९, ११७–१५५

२. तत्वसंग्रह, ईश्वरपरीक्षा ७२–८७ पुरुष परीक्षा १५५, १६०.

३. न्या. कु. च. पृ. ९७ आदि; प्रमेयक. मा पृ.२६६ आदि। न्या-वा-ता-टी; पृ-५९८ आदि; जैन न्याय पृ. १७७-१८८.

६ त्रिकायवाद

त्रिकायवाद बौद्ध दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। स्थविरवादी विचारधारा के अनुसार भगवान् बुद्ध पूर्णतः मानव थे। उनमें मानवीय हीनतायें भी थीं। शनैः शनैः उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को मानवोत्तरीय बनाया गया। त्रिकायवाद इसी का दिग्दर्शक है।

पालि साहित्य में बुद्ध के दो कायों का उल्लेख मिलता है—रूप काय तथा धर्म काय। रूप काय बुद्ध का भौतिक शरीर था तथा धर्म काय उनके द्वारा प्रवेदित उपदेश की संज्ञा थी। धर्म काय का ही विशेष महत्व था और उसे ही वास्तविक काय का स्वरूप प्रदान किया गया।

काय-कल्पना का विकास **महासांघिक सम्प्रदाय** से प्रारम्भ हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता महायान का आरम्भिक ग्रन्थ है। उसमें उक्त दो कायों का ही विशेष उल्लेख है। प्रथम काय में बुद्ध के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर गर्भित हैं। विज्ञानवादियों ने इसी विचार को त्रिकाय कल्पना के रूप में विकसित किया। उसी स्थूल रूप काय को निर्माण काय तथा सूक्ष्म रूपकाय को संभोग काय नाम दिया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में बुद्ध के व्यक्तत्व को चमत्कृत रूप अवश्य प्रदान किया गया परन्तु वहां पूर्ण दार्शनिक विकास दिखाई नहीं देता। ललित विस्तर और अभिधर्मकोश इसके प्रमाण हैं।

१. **रूपकाय**—स्थविरवाद में रूपकाय मानवीय व्यक्तित्व से आपूर है। संयुक्त निकाय में इसी को पूतिकाय कहा गया है। सर्वास्तिवादी साहित्य में यही साश्रव और महासांघिक तथा सौत्रान्तिक में अनाश्रव के रूप में निर्दिष्ट है। कालान्तर में रूपकाय ही निर्माण काय कहा जाने लगा। उसमें बुद्ध का अवतार मात्र उपाय कौशल प्रदर्शन के निमित्त था। **वैतुल्यकों** की मान्यता थी कि बुद्ध संसार में जन्म ग्रहण नहीं करते, वे तुषित लोक में निवास करते हैं और जनहित के लिए संसार में आते हैं। प्रातिहार्य प्रदर्शन इस इस काय का वैशिष्ट्य है। असंग के अनुसार शिल्प, जन्म, अभिसंबोधि तथा निर्वाण दर्शन और परार्थ सिद्धि निर्माण काय की मुख्य विशेषतायें हैं—

> शिल्पजन्नमहाबोधि सदा निर्वाण दर्शनैः।
> बुद्ध निर्माण कायोऽयं महामायो विमोचने॥ महायान सूत्रा, ९-६४

२, **धर्मकाय**—धर्मकाय मूलतः बुद्ध के उपदेश से सम्बद्ध है। महापरिनिब्बाणसुत्त में कहा गया है कि भ. बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय आनन्द से कहा कि आनन्द मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्म ही मेरे वाद तुम्हारा शास्ता होगा

(यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो सो वो ममच्चयेन सत्था)[१]। वक्कलि का सन्दर्भ भी इस प्रसंग में स्मरणीय है। बुद्ध ने वक्कलि से कहा कि "जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है (यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति)।[२] यही धर्म और बुद्ध की एकाकारता धर्मकाय की विशेषता है।

धर्म काय की प्राप्ति आश्रवक्षय का परिणाम है। इससे चार सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं—ज्ञान संपत्, प्रहाणसंपत्, प्रभावसंपत् और रूपकाय संपत्। महायान में धर्म काय को ही वास्तविक काय स्वीकार किया गया है। यह धर्मता प्रतीत्य-समुत्पाद का ज्ञान है जो दुर्ज्ञेय है।[३] इसलिए इसे प्रपञ्चहीन और शुद्ध काय कहा गया है। महायान सूत्रालंकार मे इसका उल्लेख स्वभावकाय के रूप मे किया गया है। इसे सम, सूक्ष्म तथा निर्माणकाय और संभोगकाय का हेतु भी कहा गया है।[४] धर्मकाय वचन-अगोचर है और उसके निश्चय में प्रज्ञापारमिता भी एक आधारभूत कारण है।

माध्यमिक (शून्यवादी) परम्परा में संसार की सिद्धि तथागत की सिद्धि पर निर्भर है। चूंकि तथागत निःस्वभाव हैं अतः संसार भी निःस्वभाव है। इस तरह समूचा जगत् उनकी दृष्टि में निःस्वभाव और मायोपम बन जाता है।[५]

विज्ञानवाद (योगाचार) में शून्यता को 'वस्तुमात्र' माना है, जिसे 'चित्तविज्ञान' और 'आलयविज्ञान' की संज्ञा दी गई है। यह आलय विज्ञान प्रवृत्ति रूप साश्रव धर्मों तथा निवृत्ति रूप अनाश्रव धर्मों के कारणों का भण्डार है। यह सब चित्त की प्रतिकृति है। अतः धर्मकाय आलय विज्ञान का अधार है। यही तथता, भूततथता, धर्मधातु आदि नामों से भी अभिहित है।[६]

---

१. दीघ. २-३. २. संयुत्त निकाय

३. धर्म तो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता चाप्य विज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥ चतुःशतक, ३०९

४. समः सूक्ष्मश्च तच्छिष्टः कायः स्वाभाविको मतः।
संभोगविभुताहेतु र्यथेष्टं भोगदर्शने॥ ६,६२.

५. माध्यमिक सूत्र, २२. १६ ६. त्रिंशिका, ३०, पृ. ४३

संभोगकाय—स्थविरवाद में मूलतः संभोगकाय की कल्पना नहीं दिखती। बुद्ध के लोकोत्तरवादी व्यक्तित्व के साथ संभोगकाय की विचार-धारा प्रबल होती जाती है। महायानी साहित्य के प्रायः सभी ग्रन्थ बुद्ध के भास्वर शरीर का विविध प्रकार से वर्णन किया करते हैं। महाकरुणा इसका आधार है। संसारी प्राणियों को असहाय देखकर बोधिसत्व यह प्रणिधान करता है कि जब तक वह समस्त संसारियों को मुक्त नहीं कर देता तब तक वह स्वयं मुक्त नहीं होगा। गृद्धकूट पर्वत पर बुद्ध का यह संभोगकाय प्रारम्भ हुआ। उनके ललाट से असंख्य किरणें निकलती हैं जिनसे सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है। अमिताभ आदि बुद्धों की यही विशेषता है। पर संभोगकाय बोधिसत्वों का शरीर है और स्वसंभोगकाय बुद्ध से सम्बन्धित है। स्वसंभोग काय में चार प्रकार के ज्ञान होते हैं—आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षणा और कृत्यानुष्ठान। संभोगकाय बोधिसत्वों का सूक्ष्म शरीर माना गया है।

दार्शनिक दृष्टि से धर्म काय शून्यता है। इसे अलक्षण विज्ञान भी कहा गया है। संभोगकाय धर्म काय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप में विकास मात्र है। यही चित्त जब दूषित होकर पृथग् जन के रूप में विकसित होता है तब वह निर्माण काय कहलाता है।[1]

१०. बोधिसत्वचर्या

अर्हत् का आदर्श बुद्धत्व अथवा सम्यक् संबोधित्व से पीछे रह गया। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्व स्वयं को तथा सारे जगत् को परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठित करने का महाकारुणिक प्रयत्न करता है। बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति, पारमिता की प्राप्ति और बोधिचित्त की उत्पत्ति करता है। तदर्थ वह अनुत्तर पूजा (वन्दना, पूजन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना) और त्रिशरण-गमन करता है।[2]

११. त्रियान

यान शब्द भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन है। उसका प्रयोग विविध प्रसंगों पर मार्ग और वाहन के अर्थ में होता रहा है। बौद्ध ग्रंथों में भी इन्हीं अर्थों में वह प्रयुक्त हुआ है। स्थूल रूप से हीनयान और महायान इसके दो भेद हैं। इनकी विशेषताओं में से तीन यानों का उद्भव हुआ—श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान और सम्यक्सम्बुद्धयान। श्रावकयान हीनयान है। श्रावक का चरम उद्देश्य अर्हत् की प्राप्ति करना है। सोतापत्ति, सकदागामि,

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन,—आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १२१
२. देखिये बोधिचर्यावतार

अनागामि और अर्हत् ये चार भूमियां श्रावक को पार करनी पड़ती हैं। हीनाधिमुक्ति उसके हीनयान में कारण है।[1] प्रत्येकबुद्ध वह जो बिना किसी गुरु की सहायता के और जगत् को उपदेश दिये बिना ही निर्वाण प्राप्त करता है। सम्यक्सम्बुद्धयान अथवा बोधिसत्वयान में बोधिसत्व समस्त संसार को मुक्त करने के प्रयत्न में रहता है उसे स्वयं की चिन्ता नहीं रहती। परोपकार वृत्ति की यह चरम साधना है। उपायकौशल्य इसका माध्यम है।[2] यानों की संख्या यहां तीन होते हुए भी उसे मूलतः एक ही माना गया है।[3] अतः महायान को एकयान और अग्रयान भी कहा गया है।

१२. आवेणिकधर्म

बुद्ध के वैशिष्ट्य को आवेणिक कहा जाता है। ऐसे आवेणिक धर्म अठारह माने गये हैं—१० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान एवं महाकरुणा। कालान्तर में महायान में इनकी संख्या १४० तक पहुंच गई—३२ लक्षण, ८० अनुलक्षण, ४ सर्वाकार विशुद्धि, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ आरक्षण, महाकरुणा, असम्प्रमोषधर्मता, वासना समुद्घात, तथा सर्वाकारवरज्ञान।[4]

१३. भूमियां

भूमियां साधक की आध्यात्मिक जाग्रति की प्रतीक हैं। स्थविरवाद में ऐसी चार भूमियां स्वीकार की गई हैं—सोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत्। सोतापत्ति में साधक अष्टाङ्गिकमार्ग की साधना करता है। इस साधना से यह निश्चित हो जाता है कि साधक सम्बोधि को अवश्य प्राप्त करेगा। इसके लिए उसे अधिकाधिक सात जन्म और ग्रहण करना पड़ेंगे। सकदागामि में छः प्रकार के कामावचर-क्लेशों का प्रहाण होता है और मात्र एक बार कामधातु (पृथ्वी) में जन्मग्रहण शेष रहता है। अनागामि तीसरी अवस्था है जहां साधक नौ प्रकार के क्लेशों को दूर करता है और कामधातु में पुनः उत्पन्न नहीं होता। चतुर्थ और अन्तिम अवस्था है अर्हदावस्था की प्राप्ति। इस अवस्था में साधक समस्त आश्रवों का क्षय कर लेता है।

उत्तरकाल में महायान दर्शन में दश भूमियां स्वीकार की गईं—प्रमुदिता,

---

१. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२ २. सद्धर्म पुण्ड० पृ० २.६६

३. एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते तृतियं हि नैवास्ति कदाचि लोके।
अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यद् याननानात्वपदर्शयन्ति ॥ वही २.५४
बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथः।
एकं हि कार्यं द्वितीयं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ॥ पृ० ४६.

४. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४५

विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेद्या। इन भूमियों में बोधिसत्त्वचर्या को अधिकाधिक परिशुद्ध किया जाता है। त्याग, करुणा, समता आदि दस धर्मों की प्राप्ति, ऋजु, मृदु, शम आदि दस चित्ताशयों का विकास, संयोजनों का क्षय, तथा बोधिपाक्षिक धर्मों का विकास, होता है। फलतः बोधिसत्व बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है।

१४. पारमितायें

स्थविरवाद में पारमिता को "पारमि" कहा गया है। बोधिसत्व पूर्णत्व प्राप्ति के लिए उनकी साधना करता है। मूलतः पारमिताओं की संख्या दस मिलती है—दान, सील, नेक्खम्म, पञ्ञा, विरिय, खन्ति, सच्च, अधिट्ठान, मेत्ता और उपेक्खा। समूचा जातक साहित्य पारमिताओं पर आधारित है। महासांधिक सम्प्रदाय ने इसे और अधिक महत्व दिया। फलतः महायान ने भी इसे अङ्गीकार कर लिया। वहां संख्या कुल छः रह गई—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इस परम्परा में ललित विस्तार, दिव्यावदान बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थ आते हैं। महायान में ही एक और अन्य परम्परा मिलती है। वहां उक्त छः पारमिताओं के साथ उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान जोड़कर दस की संख्या भी पूरी कर दी गई है। इस परम्परा में दशभूमिकसूत्र आदि ग्रंथ आते हैं। पारमिता-प्राप्ति पुण्यसंभार का परिणाम बताया गया है।

परिवर्त ३

बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त

१–वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) दर्शन

साधारणतः बौद्ध दर्शन की चार शाखायें हैं—वैभाषिक और सौत्रान्तिक, तथा माध्यमिक और विज्ञानवाद। इनमें प्रथम दो हीनयानी दर्शन हैं और शेष दो महायान से सम्बद्ध हैं। कनिष्क कालीन (७८ ई०) यह वैभाषिक अथवा सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय त्रैकाल्यवादी और आभिधार्मिक के नामों से भी जाना जाता है। यह सिद्धान्त अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्या, निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध आदि के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसके चार भेद हैं—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, और अवस्थान्यथिक। इनके क्रमशः चार प्रधान आचार्य हैं—भदन्त धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, एवं बुद्धदेव।

भदन्त धर्मत्रात अतीत, प्रत्युत्पन्न तथा अनागत कालवर्ती एक ही पदार्थ में भावों की विविधता के साथ मूल भाव को अपरिवर्तनीय मानते हैं। **घोषक** एक ही धर्म में तीनों कालों के लक्षणों का स्थायित्व मानते हैं। **वसुमित्र** अवस्था अथवा कर्म के आधार पर तीनों कालों में विभेद स्थापित करते हैं तथा बुद्धदेव एक ही समय में तीनों कालों की प्रस्तुति निर्धारित करते हैं। इन सिद्धान्तों में बुद्धदेव का मत वैभाषिकों में विशेष लोकप्रिय हुआ।

धर्म—धर्म का तात्पर्य है—भाव, सत् अथवा वस्तु। वैभाषिकों ने धर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसीलिए वे सर्वास्तिवादी कहलाये। उनके मत में सभी धर्मो की सत्ता यद्यपि पृथक् है परन्तु उनके संघात से जगत् के निर्माण की कल्पना की गई है। धर्म की सूक्ष्मतम व्याख्या निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में द्रष्टव्य है—

ये धर्म्मा हेतुप्रभवा हेतुं तषां तथागतो ह्यवदत् ।
अवदच्च यो निरोधो एवंवादी महाश्रमणः ॥

अर्थात् प्रत्येक धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न होता है और उसका निरोध होता है। डॉ० शेरवात्सकी ने धर्मता के स्वरूप के विश्लेषण में उसकी प्रमुख विशेषताओं का अकलन किया है—धर्मता। नैरात्म्य, क्षणिकत्व, संस्कृतत्व, साश्रव—अनाश्रवत्व, सङ्क्लेश-व्यवदानत्व, दुःखनिरोध और निर्वाण।[1] वैभाषिक सम्प्रदाय में धर्म का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म।

१. संस्कृत धर्म—परस्पर सापेक्ष भाव से उत्पन्न हों (सामेत्य कृतं संस्कृतम्)। ये प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण विनाश शील अतएव दुःख और दुःख समुदित हैं। संसरण के मूल कारण भी यही हैं। इन्हें अध्व, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक भी कहा है।

संस्कृत धर्म के मूलतः चार लक्षण हैं—जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता। इन लक्षणों के कारण इन धर्मों का हेतु-प्रत्यय जन्य उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व और व्यय होता है। अतएव पर्यायान्तर से जाति-जाति, स्थिति-स्थिति आदि रूप से उन मूल धर्मों के चार अनुलक्षण होते हैं। सौत्रान्तिक इन लक्षणों को पृथक् पृथक् न मानकर उन्हें प्रज्ञप्ति सत् स्वीकार करते हैं। संस्कृत धर्म तीन प्रकार के होते हैं—स्कन्ध, आयतन और धातु।

(i) **स्कन्ध**—नाम और रूप के भेद से स्कन्ध दो प्रकार के हैं। ये क्रमशः मानसिक और भौतिक अवस्थाओं के संसूचक है। नाम के अन्तर्गत संज्ञा, वेदना, एवं "संस्कार आते हैं तथा रूप के अन्तर्गत रूप और विज्ञान समाहित होते हैं। इनके समुच्चय को सत्व अथवा आत्मा कहा जाता है जो मात्र प्रज्ञप्ति-सत् है, द्रव्यसत् नहीं। ये अनित्य, दुःख और अनात्म हैं—यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनिच्चं। सस्वभाववादी वैभाषिक बहुधर्मवादी होने के कारण शाश्वत वादी नहीं हैं। इसलिए जगत् की उत्पत्ति में वे ईश्वर को कारण नहीं स्वीकार करते।

(ii) **आयतन**—आयतन का अर्थ है—प्रवेश द्वार (आयं प्रवेशं तनो-

---

१. सेन्ट्रल कन्सेपसन आफ बुद्धिज्म, पृ. ७४-५; उपाध्याय, बलदेव बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ- १८२,

तीति आयतनम्) । इन्द्रिय तथा इन्द्रिय जगत् से सम्बद्ध विषय को आयतन संज्ञा दी गई है । वस्तु के ज्ञान के लिए आयतन का सहयोग अपेक्षित है । इन आयतनों की संख्या बारह है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श ये पांच इन्द्रियां तथा बुद्धि और उनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस स्पृष्टव्य तथा बाह्येन्द्रिय ग्राह्य विषय ।

(iii) **धातु**—उत्पत्ति के आश्रय अथा उपकरण को धातु कहा जाता है । ये धातु १८ हैं—पूर्वोल्लिखित छः इन्द्रियां और उनके छः विषय तथा छः विज्ञान—चाक्षुष, श्रावण, घ्राणज, रासन, स्पर्शज और मनोविज्ञान । धातु शब्द का प्रयोग बौद्धधर्म में लोक के अर्थ में भी हुआ है । यह लोक दो प्रकार का है—भौतिक और अभौतिक । भौतिक के दो भेद है—कामधातु और रूप धातु । कामधातु में उक्त १८ धातु, रूपधातु में गन्ध, रस, घ्राण, और जिह्वा को छोड़कर १४ धातु, और अरूप धातु में मात्र मन, धर्म तथा मनोविज्ञान धातुयें ही विद्यमान रहती हैं । स्कन्ध, धातु एवं आयतन को वैभाषिक द्रव्य-सत् कहते है परन्तु सौत्रान्तिक धातु को द्रव्य सत् एवं स्कन्ध तथा आयतन को प्रज्ञप्ति सत् स्वीकारते हैं । वसुबन्धु इन दोनों से भिन्न विचार वाले हैं । वे स्कन्धों को प्रज्ञप्ति सत् एवं आयतन और धातु को द्रव्य सत् मानते हैं ।

(i) **रूप**—संस्कृत धर्मों के चार अवान्तर भेद हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, और चित्त विप्रयुक्त । रूप के ११ भेद हैं—श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य, विषय और अविज्ञप्ति । रूप का स्वभाव अन्य पदार्थों का प्रतिघात करना है । परमाणु शब्द का प्रयोग स्थविरवादी परम्परा में उपलब्ध नहीं होता । वहां 'कलाप' शब्द अवश्य मिलता है जिसे हम सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त संघात-परमाणु के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं। सर्वास्तिवाद के अनुसार परमाणु के १४ भेद हैं—५ विज्ञानेन्द्रिय, ५ विषय, और ४ महाभूत । उपचय, संतति, जरता तथा अनित्यता उनके प्रधान लक्षण हैं। वस्तु त्रिकालवर्ती होने के कारण नित्य है और उसकी विभिन्न अवस्थायें ही अनित्य तथा क्षणिक हैं। इस सन्दर्भ में सर्वास्तिवाद में रूप परमाणु नित्य माना गया ! और उसमें पृथ्वी, अप, तेज और वायु रूप होने की सामार्थ्य भी स्वीकार की गई ।[1] जैन और सांख्य भी यही मानते हैं । सर्वास्तिवाद का यह परमाणु-समुदयवाद सांख्यों के प्रकृति-परिणामवाद से, जैनों के द्रव्य-पर्यायवाद से और

---

१ सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट्स, पृ. १२५-१३७

मीमांसकों के अवस्था–अवस्थातावाद से जितना अधिक सन्निकट है उतना ही अधिक दूर यह योगाचार के क्षणिकैकान्तन्वाद से है। परमाणु समुदाय की क्षणिकता को योगचार ने तर्क की भूमिका पर ले जाकर क्षणिकैकान्तवाद की कोटि में रख दिया और परमाणु की वास्तविक नित्यता को काल्पनिक सन्तान में सन्निहित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सर्वास्तिवाद और योगाचार का मार्ग अत्यन्त विरुद्ध हो गया। भगवान् बुद्ध के एक ही अनित्यता के उपदेश को एक ने समुदाय में घटाया तो दूसरों ने सर्व वस्तुओं में स्थापित किया। अश्वघोष ने इसी को भूत तथतावाद के रूप में प्रतिपादित किया और उसके दो रूप बताये—पारमार्थिक और सांकृतिक। पारमार्थिक रूप विश्व का परम तत्व कहा गया और व्यावहारिक भूततथता संसार के रूप बताये गये हैं यह रूप सिद्धान्त जैन धर्म के नैश्चयिक आत्मा के समान है। कुन्दकुन्दाचार्य का 'सत्' सिद्धान्त भी भूत तथतावाद के अधिक निकट है।[1]

इन्द्रियां आदि भी वैभाषिक मतानुसार परमाणु संघात जन्य हैं। उनमें चक्षु, श्रोत्र, और मन अप्राप्त अर्थग्राही हैं तथा घ्राण, जिह्वा, और काय प्राप्त विषयग्राही हैं। चक्षु आदि इन्द्रियां विषय को स्पर्श कर नहीं जानतीं। यदि चक्षु स्पर्शकर जानती तो उन्हें आंख में लगे अंजन का भी दर्शन–ज्ञान होता। परन्तु दर्पण में देखे बिना उसका दर्शन नहीं हो पाता। अतः चक्षु अप्राप्यवादी है। चक्षु को प्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि चक्षु आवृत वस्तु को नहीं देख सकती, इसलिए प्राप्यकारी है। वस्तुतः यह कथन उचित नहीं। कांच, अभ्रक, और स्फटिक से आवृत पदार्थों को भी चक्षु देख लेती है। चुम्बक दूर से ही लोहे को खींच लेता है। फिर भी वह किसी चीज से ढके हुए लोहे को नहीं खींचता। इसलिए जो आवृत वस्तु को ग्रहण न कर सके वह प्राप्यवादी होता है, ऐसा नियम बनाना ठीक नहीं।[2] इसी प्रकार श्रोत्र और मन भी अप्राप्य विषयी हैं।

इन्द्रियों की संख्या २२ बतायी गई है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काम, मन, पुरुष, स्त्री, जीवित, सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, आज्ञानमाज्ञातस्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय। रूप में वर्ण के १२ और संस्थान के ८ भेद होते हैं। शब्द के ८, गन्ध के ४,

---

१. न्यायावतार (टिप्प. पृ. २८२-२३) ; बौद्धधर्म दर्शन

२. तत्वार्थ राज वार्तिक; पृ-४८, न्या. कु. च. पृ-७५-८२, प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ. २२०, २९. जैन न्याय, पृ-५६

रस के ६ और स्पृष्टव्य के ११ प्रकार हैं। अविज्ञप्ति एक विशिष्ट कर्म प्रकार है। योगाचार के अनुसार रूप ११ ही हैं पर स्थविरवाद में उनकी संख्या २८ मानी गई है[1]

(ii) **चित...**बौद्ध दर्शन में चित्त और जीव (आत्मा) लगभग समानार्थक माने जाते हैं। स्थविरवाद, सर्वास्तिवाद और योगाचार उसे अनित्य, अस्थायी और अस्वतन्त्र पदार्थ ही मानते हैं। आलम्बनों के भेद से चित्त के ७ प्रकार हैं—मनस् , चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वा विज्ञान, काय विज्ञान और मनोविज्ञान।

(iii) **चैत्त अथवा चैतसिक धर्म**—चित्त और चैत्त धर्म अन्योन्याश्रित है। ये मुख्यत: ६ प्रकार के हैं और अवान्तर भेद से ४६ प्रकार के हैं।

(क) **चित्तमहाभूमिक धर्म**—१० = वेदना, संज्ञा, चेतना, छन्द, स्पर्श, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष और समाधि। स्थविरवाद और विज्ञान वाद में इन धर्मों को सामान्य और विशेष धर्मों के रूप में विभाजित किया गया है।

(क) **कुशल महाभूमिक धर्म**—१० = श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, अपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिंसा और वीर्य। स्थविरवाद ने इसके २५ और विज्ञानवाद ने १० धर्म माने हैं।

(क) **क्लेश महाभूमिक धर्म**—६ = मोह, प्रमाद, कौसीद्य, अश्राद्धय, स्त्यान और औद्धत्य। स्थविरवाद में १४ अकुशल चैतसिक हैं जो क्लेश महाभूमिक धर्म की भावना से सम्बद्ध हैं।

(घ) **अकुशल महाभूमिक धर्म**—२ = आह्रीक्य और अनपत्रता

(ङ) **उपक्लेशभूमिक धर्म**—१० = क्रोध, म्रक्ष, मात्सर्य, ईर्ष्या, प्रदास, विहिंसा, उपनाह, माया, शाठ्य और मद। विज्ञानवाद में मूल क्लेशों की सूचियां मिलती हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि सर्वास्तिवाद में मूल क्लेश नहीं माने गये हैं।

(vi) **अनियतभूमिक धर्म**—८ = कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार, राग, द्वेष मान और विचिकित्सा।

४. **चित्तविप्रयुक्त धर्म**—इसके १४ भेद हैं—प्राप्ति, अप्राप्ति, निकाय, समागता, आसंज्ञिक, असंज्ञी-समापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवित, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता, नाम काय, पदकाय और व्यञ्जन काय। स्थविरवादियों ने इन धर्मों का उल्लेख ही नहीं किया।

---

१. विशेष देखिये—अभिधर्मकोश. द्वितीय कोश।

सौत्रान्तिकों ने भी उन्हें स्वीकार नहीं किया। योगाचार में भी स्थिति लगभग वैसी ही है। वहां चित्त विप्रयुक्तधर्मों को स्वतन्त्र न मानकर मानस व्यापार के अन्तर्गत मान लिया गया है। विप्रयुक्त धर्मों की कुल संख्या २४ स्वीकार की गई है।

२. **असंस्कृत धर्म**—जिन धर्मों में संस्कृत धर्मों के पूर्वोक्त लक्षण न पाये ज यं वे असंस्कृत धर्म कहलाते हैं। ये स्थायी, नित्य विशुद्ध और सत्य धर्म माने जाते हैं। स्थविरवाद में मात्र निर्वाण को असंस्कृत धर्म स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्वास्तिवाद में उनकी संख्या तीन दी गई है—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, और अप्रतिसंख्यानिरोध।

आकाश वह है जो न किसी से आवृत हो और न किसी को आवृत करे। स्थविरवादियों के अनुसार आकाश महाभूतों से उत्पन्न एक नित्य और अपरिवर्तन शील धर्म है। परन्तु सर्वास्तिवाद में उसे दिक् तथा वायु का पर्यायार्थिक माना गया है। **प्रतिसंख्यानिरोध** का अर्थ है प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों से पृथक्-पृथक् विसंयोग। साधक जब अपनी सम्यग् दृष्टि से आस्रव को उत्पन्न करने वाले किसी धर्म को परित्याग कर देता है तब उसे प्रतिसंख्यानिरोध धर्म की अर्थात् निर्वाण की उपलब्धि होती है। परन्तु जब बिना प्रज्ञा के ही सास्रव धर्म का निरोध होता है तब **अप्रतिसंख्यानिरोध** कहा जाता है। इस निरोध का फल अनुत्पाद ज्ञान है यह ज्ञान अव्युत्पाती होता है। ये तीनों धर्म स्वतन्त्र और नित्य हैं। अतः हेतु-प्रत्यय के बिना ही पदार्थों की सत्ता मानने के कारण वैभाषिकों को नानार्थवादी कहा जा सकता है।

सर्वास्तिवाद में काल के तीनों भागों का भी अस्तित्व माना गया है परन्तु सौत्रान्तिक मात्र वर्तमान काल को ही सत्य स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त विभज्यवादी वर्तमान और अतीत को सत्य मानते है। परन्तु शून्यवादी आचार्य काल का बिलकुल प्रतिषेध करते हैं।

परमाणुवाद

परमाणुवाद की मूलतः स्थापना सर्वास्तिवादियों के द्वारा हुई जिसे उत्तर काल में स्थविरवादियों ने भी स्वीकार की सर्वास्तिवाद में पांच विज्ञानेन्द्रियां

पांच विषय, तथा चार महाभूत ये परमाणु के चौदह भेद संघात-परमाणु कहलाते हैं। स्थविरवाद में इन्हीं को 'कलाप' संज्ञा दी गई है। उपचय, संतति, जरता और अनित्यता ये चार लक्षण कलापों के माने गये हैं।

सौत्रान्तिकों की दृष्टि में परमाणु रूप, गन्ध, रस और स्पृष्टव्य माना गया है। वैभाषिक इसे विनाशी स्वीकार करते हैं। शून्यवादी आर्यदेव ने भी परमाणु को अनित्य माना है। चन्द्रकीर्ति ने भी जगत् की उत्पत्ति का खण्डन करते हुए कहा कि अवयव परमाणु से बने अवयवी संसार भी परमाणु के ही परिमाण के न हों इसलिए कारणों में रहने वाले परमाणु को कार्य में नहीं माना जावेगा। अतएव परमाणुओं में सर्वात्मना संयोग न होकर उसके किसी एक अंश से संयोग नहीं होगा, वह हेतु नहीं होगा। इस तरह वह नाना रूप होने से चित्र के समान अनित्य हो जायगा। इसलिए कहा है— 'नाना नित्यो न जायते।' परमाणु का सर्वात्मना संयोग मानने पर सारा संसार परमाणुमात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा। परमाणु को निरवयव भी नहीं माना जा सकता अन्यथा उसमें गति नहीं हो सकेगी और फलतः परमाणुओं का परस्पर संयोग नहीं हो सकेगा। फिर घटादि कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? अतः परमाणु कोई द्रव्य है यह कहना उचित नहीं। निरवयवी होने के कारण परमाणु योगी द्वारा प्रत्यक्षगम्य भी नहीं है। परमाणु हेतु रूप भी नहीं अन्यथा बीज के समान द्वयणुकादिक द्रव्यों द्वारा विनष्ट माना जायगा। परमाणु की अनित्यता में यह भी एक कारण है कि जगत् में एक परमाणु में दूसरा परमाणु सर्वात्मना नहीं रहता। परमाणु का संश्लेष (संयोग) होने पर संश्लिष्ट घटों के समान वह नित्य भी नहीं होता। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध क्रमशः और युगपत् नहीं होते। उत्पत्ति आदि के न होने पर परमाणु का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।[1]

२. सौत्रान्तिक दर्शन

सौत्रान्तिकों को दार्ष्टान्तिक भी कहा गया है। संभव है उन्हें यह नाम इस शाखा के प्रस्थापक आचार्य कुमारलात के ग्रन्थ "कल्पनामंडतिका दृष्टा-

---

१. चतुः शतक, २१२-२१६; बौद्धधर्मदर्शन

न्तपंक्ति" के आधार पर दिया गया हो। यह सर्वास्तिवादियों की ही एक शाखा थी। इसका अपना कोई स्वतन्त्र साहित्य प्राय: उपलब्ध नहीं अत: हम बौद्ध-बौद्धेतर साहित्य में प्राप्त तत्सम्बन्धी सामग्री पर ही निर्भर हैं। इसके विशिष्ट सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

१. **बाह्यार्थ की सत्ता**—सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी सत्ता अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नहीं।

२. ज्ञान स्वसंवेदी है। विज्ञानवादी भी यही मानते हैं।

३. बाह्य वस्तु का अस्तित्व है पर उसके आकार के विषय में एक मत नहीं।

४. परमाणुओं में परस्पर स्पर्श नहीं होता। क्योंकि वे निरवयव हैं।

५. प्रत्येक वस्तु अनित्य, क्षणिक और विनाशशील है।

६. रूप का अर्थ वर्ण ही है। संस्थान को उसमें नियोजित नही किया जा सकता।

४. असंस्कृत पदार्थ द्रव्य सत् नहीं।

५. चित्त विप्रयुक्त धर्मों का अस्तित्व नहीं। वे प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

६. आयु को द्रव्य नहीं मानते।

७. संस्कृत लक्षण पृथक् नहीं, प्रज्ञात होते हैं।

८. अतीत-अनागत वस्तु-सत् नहीं।

९. अविज्ञप्ति का भी अस्तित्व नहीं।

१०. वितर्क, विचार, समाधि और अध्यात्म संप्रसाद परस्पर भिन्न नहीं।

११. न कोई इन्द्रिय दर्शक है, न कोई रूप दृश्य है, न कोई दर्शन क्रिया है, न कोई कर्ता है। हेतुफल-मात्र है।

१२. केवल ४३ धर्म हैं—

(i) रूप—८ = चार उपादान और चार उपादाय।

(ii) वेदना —३ = सुख, दु:ख, न सुख न दु:ख।

(iii) संज्ञा—६ – पांच इन्द्रियां तथा एक चित्त।

(iv) विज्ञान—६ = चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, काय, तथा मन।

(v) संस्कार—२० = दस कुशल, दस अकुशल।

१३. समाधि एकालम्बन चित्त-सन्तति है।

१४. चेतना मानस कर्म नहीं है।

२. **क्षणिकवाद्**—प्राय: प्रत्येक भारतीय दर्शन में किसी न किसी रूप-में संसार और सांसारिक पदार्थों को अनित्य अथवा क्षणभङ्गुर माना गया

है। बुद्ध ने "सब्बे धम्मा अनिच्चा, सब्बे भवा अनिच्चा, दुक्खा विपरिणाम-धम्मा",[१] तथा "यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं। एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चु राजा न पस्सति"[२] जैसे कथनों में इसी दर्शन की भूमिका को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भगवान् का यह उपदेश सत्व को संसार के मोह जाल से पृथक्कर उसे एक शान्त, अमृत और अविनाशी पद को प्राप्त कराना था।[३] इन भावों में बौद्धधर्म-की पूर्णतः अनित्यात्मक एवं क्षणिकात्मक प्रकृति का दर्शन नहीं होता।

तथागत के उक्त वचनों के माध्यम से उत्तरकाल में क्षणिकवाद का अत्यधिक दार्शनिक विकास हुआ। ईसा की लगभग ६वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक यह विकास स्पष्टः दृष्टिगत होता है। यद्यपि क्षणिकवाद बौद्धदर्शन-की चारों शाखाओं को मान्य है परन्तु दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि आचार्यों ने इसे परमार्थ तक पहुँचा दिया।

स्थविरवादी मात्र चित्त-चैतसिकों की क्षणिकता को स्वीकार करते थे। सर्वास्तिवादी—वैभाषिक बाह्य जगत् को भी किञ्चित् क्षणिक मानने लगे।[४] परन्तु सौत्रान्तिक पूर्ण क्षणिकवाद पर विश्वास करने लगे। इसलिए बहु पदार्थ-वादी बौद्धदर्शन कालान्तर में क्षणभंगतावादी दर्शन बन गया।

क्षणभंगवाद के अनुसार समस्त स्वलक्षण पदार्थ क्षणिक एवं परमाणुरूप हैं। वे अपने स्वभावानुसार जिस क्षण में उत्पन्न होते हैं उसी क्षण में विनष्ट हो जाते हैं।[५] इस तरह पूर्वक्षण विनष्ट होकर उत्तर क्षण को उत्पन्न करता और वर्तमान क्षण अस्तित्व में रहकर क्रमबद्धता बनाये रखता है। इस विनाश और उत्पत्ति में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रहती। अतः निर्हेतुक कहा गया है। इस स्थिति में सन्ततिपरम्परा बनी रहती है और कार्यकारण-भाव, अर्थक्रियाकारित्व, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवस्थाओं में व्यवधान नहीं आता।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, ४. १९-५.

२. धम्मपद, १३. ४ 		३. वही, २०. ५

४. 'संस्कृतं क्षणिकं यतः'—अभिधर्मकोश, ४. ४

५. यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥ प्रमेयरत्नमाला में उद्धृत, ४. १

परमार्थसत् के परीक्षण में अर्थक्रिया का विशेष महत्व है। वह क्रमशः अथवा युगपत् होती है। नित्य पदार्थों में ये दोनों प्रकार की क्रियायें सम्भव नहीं। पदार्थ में स्थिरता और स्थूलता का अभास हमारी मानसिक कल्पना और विभ्रम का फल है। चित्तक्षण भी इसी प्रकार वासना के आधारपर क्रमिकता बनाये रखता है। सभी पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होते हैं। उनमें शाश्वतता का मात्र भान होता है, वास्तविक प्रतीति नहीं। निर्वाण अवस्था में चित्तसन्तति निरास्रवत हो जाती है।

बौद्धों का यह क्षणिकवाद दार्शनिकों में अत्यन्त विवाद का विषय बना। बौद्धेतर विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की। जैन उन आलोचकों मे प्रमुख हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार परमाणुओं का पारस्परिक सम्बन्ध स्निग्धता और रुक्षता के कारण गुणात्मक परिवर्तन के रूप में होता है। वे ही परमाणु अपनी सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलरूपता धारण कर लेते हैं। पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय-नय से विनाशी होकर भी अपनी अविच्छिन्न संस्कृति की दृष्टि से कथञ्चित् ध्रुव भी है। यह सन्तति कार्यकारणपरम्परा पर निर्भर रहती है। सर्वथा क्षणिक पदार्थों में अर्थक्रिया भी सम्भव नहीं तब उनका निर्हेतुक होना कैसे सम्भव है ?

बुद्धने संसार की अनित्यता का प्रदर्शन करने की दृष्टि से इस क्षणवाद-की प्रतिष्ठा की थी परन्तु उत्तरकाल में उनकी इस मान्यता को दार्शनिक क्षेत्र में लाकर क्षणिकवाद, शून्यवाद, नैरात्म्यवाद जैसे वादों की प्रस्थापना कर दी गई।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों में प्रमुख भेद

वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)	सौत्रान्तिक
१. वर्ण और संस्थान के भेद से रूप दो प्रकार का हैं।	१. संस्थान का सन्निवेश वर्ण में ही हो जाता है।
२. बुद्धवचन वाक् स्वभाव और नाम स्वभाव दोनों हैं।	२. बुद्धवचन वाक् स्वभाव मात्र हैं।

३. असंस्कृत (निर्वाण) द्रव्य-है सत्, अवाच्य है, विसंयोगफल है।	३. असंस्कृत (आकाश, अप्रतिसंख्यानिरोध, और प्रतिसंख्यानिरोध) द्रव्य-सत् नहीं, अभाव मात्र है, कारण-हेतु है।
४. चित्तविप्रयुक्त धर्मों (१४) का स्वतन्त्र अस्तित्व है।	४. चित्त विप्रयुक्त धर्म वस्तु-सत् नहीं, प्रज्ञप्तिमात्र हैं।
५. संस्कृतधर्म के लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता पृथक्-पृथक् हैं।	५. संस्कृत लक्षण पृथक् नहीं, प्रज्ञात होते हैं।
६. आयु द्रव्य है।	६. आयु द्रव्य नहीं।
७. अतीत और अनागत द्रव्य-सत् हैं।	७. अतीत और अनागत वस्तु-सत् नहीं।
८. अविज्ञप्ति का अस्तित्व है।	८. अविज्ञप्ति का अस्तित्व नहीं।
९. तृतीय ध्यान का 'सुख' प्रथम और द्वितीय ध्यान के 'सुख' से द्रव्यान्तर है।	९. प्रथम तीन ध्यानों में कायिक सुखेन्द्रिय होती है, चैतसिक सुखेन्द्रिय नहीं। अतः तृतीय ध्यान का 'सुख' द्रव्यान्तर नहीं।
१०. सभाग अवस्था में चक्षु रूप देखता है। द्रष्टा तदाश्रित विज्ञान नहीं।	१०. न द्रष्टा इन्द्रिय है, न दृश्य रूप है। न दर्शन-क्रिया है और न कोई दर्शक कर्ता है प्रत्युत हेतुफल-मात्र है।
११. सर्वास्तिवादी भी क्षणिकवादी हैं परन्तु उसका क्षण काल का अल्पतम गृहभाग है।	११. धर्मों का विनाश उत्पाद के समनन्तर होता है। धर्मों की कोई स्थिति नहीं।
१२. स्कन्ध, आयतन और धातु ये तीनों द्रव्यसत् हैं।	१२. स्कन्ध तथा आयतनों को प्रज्ञप्तिसत् और धातुओं को द्रव्यसत् मानते हैं।
१३. चक्षु देखता है जब वह सभाग है।	१३. चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रिय, रूप, दर्शन, कर्ता, हेतु-फल आदि का अस्तित्व नहीं। व्यवहारतः उनका उपचार किया जाता है।
१४. बाह्यार्थ की यथावत् प्रतीति होती है।	१४. बाह्यार्थ अनुमानगम्य है, प्रत्यक्षगम्य नहीं।

३. शून्यवाद (माध्यमिक) दर्शन

शून्यवाद माध्यमिक बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट प्रभावक सिद्धान्त है। संयुक्त निकाय के भारद्वा सुत्त में इसके बीज उपलब्ध होते हैं। हीनयान सम्प्रदाय में प्रथमतः पुद्गल नैरात्म्य के रूप में इसके बीज मिलते हैं। शनैः शनैः उत्तर काल में इस सिद्धान्त का विकास होता गया। महायान तक पहुंचते-पहुंचते पुद्गल नैरात्म्य के अतिरिक्त धर्म नैरात्म्य की कल्पना का विस्तार हुआ और फलतः शून्यवाद की स्थापना हुई। सौत्रान्तिक दर्शन में बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्षतः ज्ञेय नहीं माना गया। विज्ञानवाद में उनकी चित्तमात्र के रूप में सत्ता स्वीकृत हुई—"चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्।" पर माध्यमिक में बाह्य और आन्तरिक दोनों पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया गया। उन्होंने पदार्थ को न सत् माना, न असत् माना, और न अनुभव माना बल्कि इन चतुष्कोटियों से विनिर्मुक्त तत्व माना।[1] इसलिए उसे अभावात्मक नहीं कहा जा सकता किन्तु निरपेक्ष होने के कारण शून्यात्मक माना जाता है। सत्-असत् के बीच का यह आध्यात्मिक मध्यम मार्ग है—

> अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता, शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
> तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा, मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥[2]

नागार्जुन ने शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या के रूप में प्रतिपादित किया है।[3] पदार्थों के स्वरूप का विश्लेषण जैसे-जैसे करते हुए वे आगे बढ़ते गये, उन्हें वे विशीर्ण होकर नीचे गिरते हुए दिखाई दिये—'यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। इसलिए शून्यता का स्वरूप उन्होंने निःस्वभाव होना बताया। आर्यदेव ने इसी को निर्वाण माना—

> धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागताः।
> शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहो भयम्॥ चतुःशतक, १२,१३

लंकावतार में इसी शून्यता को कदलीसम, स्वप्नोपम जैसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इसी को धर्म नैरात्म्य कहा है। इस धर्म नैरात्म्य

---

१. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥मा० का० १७

२. समाधिराजसूत्र, उद्धृत—बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ-३००

३. यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ मा-का-१

की भावना का दार्शनिक आधार दो प्रकार का है—प्रथम सभी धर्मों की निःसारता और द्वितीय चित्त की प्रधानता। प्रथम पक्ष (शून्यवाद) का आख्यान नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति आदि ने किया और द्वितीय पक्ष (योगाचार-विज्ञानवाद) का विस्तार मैत्रेयनाथ ने किया। शून्यवाद तथा योगाचार—विज्ञानवाद को संयुक्त रूप माना गया है। इसीलिए शायद आर्यदेव ने चतुःशतक को 'बोधिसत्त्व योगाचारशास्त्र' कहा है।[१]

शून्य का लक्षण—नागार्जुन ने शून्यता को प्रत्ययजन्य मानने के कारण भावात्मक माना है, अभावात्मक नहीं। अतः उसे पर परमार्थ और प्रपञ्चोपशम कहा है! उनके अनुसार शून्य का स्वरूप है—अपर प्रत्यय (प्रत्यात्मवेद्य), शान्त (निःस्वभाव), अप्रपञ्चित (निःशब्द, अनक्षरतत्त्व) निर्विकल्प (चित्त व्यापार से दूर), अनानार्थ (मात्र अर्थों से विरहित)।

"अपर प्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चौ प्रपञ्चितम्।"[२]
"निर्विकल्पमनानार्थ मेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्"

शून्यता के प्रकार—महाप्रज्ञापारमिता में शून्यता के १८ प्रकार हैं— १. अध्यात्म शून्यता (अन्तः वस्तुओं की शून्यता) २. बहिर्धा शून्यता (बाह्य वस्तुओं की शून्यता), ३. अध्यात्मबहिर्धाशून्यता (अन्तः बाह्य पदार्थ भेद रहित हैं) ४. शून्यता-शून्यता (शून्यता ही यथार्थ तत्व नहीं, परम तत्व है), ५. महाशून्यता (उत्पाद, स्थिति और विनाशरूप पदार्थ शून्यता), ६. असंस्कृत शून्यता—(पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र हैं), ७. अत्यन्त शून्यता (पूर्णतः शून्यता,), ८. अनवराग्रशून्यता (पदार्थ के आदि अन्त रूप की शून्यता), ९. अनवकार शून्यता (निरुपधिशेष निर्वाण शून्यता), १०. प्रकृति शून्यता (स्वभाव शून्यता) ११. सर्वधर्मशून्यता (सर्व पदार्थ स्वभाव शून्यता), १२. स्वलक्षण शून्यता (पदार्थ की स्व स्वरूप-शून्यता), १३. अनुपलम्भ शून्यता (काल शून्यता), १४. अभाव शून्यता (आकाश, प्रतिसंख्या, अप्रति संख्या का निरोध), १५. सर्वभाव शून्यता (पञ्चस्कन्ध शून्यता), १६. अभाव और स्वभाव शून्यता (संयोगोत्पन्न पदार्थ शून्यता) । 'पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' में इन शून्यताओं

---

१. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३६७-८
२. (मा. मा. १८. ९.)

के अतिरिक्त दो और शून्यताओं का उल्लेख है—१. स्वभाव शून्यता (सत्ता रहित पदार्थ और २. परभाव शून्यता (पर पदार्थो द्वारा उत्पत्तिहीनता)। शून्यवाद की विस्तृत कल्पना, इन प्रकारों में देखी जा सकती है।

आर्यदेव का चतुःशतक और शून्यवाद

आर्यदेव शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्यों में से अन्यतम माने जाते हैं। उन्होंने चतुःशतक में शून्यवाद की प्रतिस्थापनाको भली भांति पूरा किया है और प्रसिद्ध वृत्तिकार चन्द्रकीर्तिने उनके विचारोंको यथाशक्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निःस्वभाववाद एवं शून्यवाद की स्थापना के सन्दर्भ में इन दोनों आचार्यो के विचार हम संक्षेप मे उद्धृत कर रहे है। ये विचार नित्यार्थ प्रतिषेध, आत्मप्रतिषेध, कालप्रतिषेध, दृष्टिप्रतिषेध, इन्द्रियार्थप्रतिषेध, अन्तग्राहप्रतिषेध और संस्कृतार्थ प्रतिषेध, नामक अध्यायों में मिलते हैं। अन्तिम अध्याय "गुरुशिष्यभावना सन्दर्शन" में आर्यदेव ने शून्यवाद का और भी विश्लेषण कर उपसंहार प्रस्तुत किया है।

१. नियार्थ प्रतिषेध

लोक में प्रवृति कार्यार्थी होती है, स्वाभाविकी नहीं। और भूत-भौतिक, चित्त-चैत्त, लक्ष्य-लक्षण आदि संस्कृत वस्तु की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति न होने के कारण यथासंभव समूह-रूप की ही उत्पत्ति होती है। समूह-रूप परस्पर कार्यकारणावस्था पर निर्भर है। इसलिए जिसके होनेपर जो होता है और जिसके न होनेपर जो नहीं होता वह उसका कारण है और दूसरा उसका कार्य है। पृथ्वी के बिना भूतत्रय का अभाव होता है और पृथ्वी के रहने पर भूतत्रयका सद्भाव होता है। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति कार्यार्थी होती है। और कहा जा सकता है कि सभी संस्कृत पदार्थ कार्यार्थ उत्पन्न होते हैं। जो कार्यार्थ उत्पन्न नहीं होता वह नित्य नहीं है। नित्य शब्द के स्वभाव, सत्य, सार, वस्तु, द्रव्य शब्द पर्यायार्थक हैं। नित्यत्व के अभाव से निःस्वभाव, असत्य, असार, अवस्तु और अद्रव्य को संस्कृत कहा जाता है।

भाव, स्वभाव, आत्मा पर्यायार्थक शब्द हैं। वह आत्मा बिना कारण उत्पन्न नहीं होता। इसका अकारणत्व दूसरे द्वारा ही जाना गया है। जो

निर्हेतुक होता है वह खर-विषाण के समान अस्तित्वहीन होता है। आकाशादिक के साथ अनैकान्तिक दोष है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका अस्तित्व भी आत्मा के समान निषिध्यमान है। इस प्रकार दोष को छोड़ने की इच्छा से उक्त कथन के विरुद्ध भी हेतुमान् स्वीकार किया जाता है। इससे भी इसका नित्यत्व दूर हो जाता है। अतएव हेतुमान होने से आत्मा भी सुखादि के समान अनित्य है। (२०३)

आकाश—रूपका अभाव मात्र ही आकाश है। आकाश इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। रूपान्तर का अभाव होने पर तो रूपी पदार्थों की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्ध देखा नहीं जाता। वही रूपान्तरा भाव पदार्थों को अवकाश देता है, इसलिए आकाश कहा जाता है। उस अवस्तुमान् अकिञ्चन पदार्थ का विमोहितों ने 'वस्तुमान्' नाम रखा है। वह युक्तियुक्त नहीं। पदार्थ—स्वभाव के जानकार 'आकाश' नाम में लौकिक ज्ञान से भी कोई अभिधेय स्वरूप नहीं देखते, जैसे पृथिवी आदि नामों में काठिन्यादिक। और तो क्या पदार्थ-स्वभावज्ञ समस्त बाह्य और आध्यात्मिक वस्तु को बिना प्राप्त किये उसके स्वरूप को जान लेते हैं। इसी प्रकार अप्रतिसंख्यानिरोध और प्रतिसंख्यानिरोध के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए (२०५)। आकाश के जो अवयव हैं वे ही इसके प्रदेश हैं। उनके द्वारा ही आकाश प्रदेशी है। उसमें जो अन्यसंयोगी प्रदेश है वह उससे अन्य संयोगी प्रदेश में रहता है। यदि रहता है तो उससे अभिन्न देशवर्ती घटका भी सर्वगतत्व सिद्ध हो जावेगा। अर्थात् व्यापक वह वस्तु है जो सर्वत्र हो, पर आकाश के सभी अवयव सर्वत्र व्याप्त नहीं। जैसे जो आकाश प्रदेश यहाँ है वह दूर देश में नहीं है, अत: आकाश व्यापक नहीं हो सकता, अन्यथा घट आदि पदार्थ जो एक देश में रहते हैं वे भी व्यापक हो जावेंगे। परन्तु वे व्यापक हैं नहीं इसलिए नित्य भी नहीं हैं।

काल—कालवाद के अनुसार संसार की उत्पत्ति और लय का कारण काल है। बीजादि कारणों के होने पर भी अङ्कुरादि की उत्पत्ति सदैव नहीं होती, कभी उत्पत्ति होती है और कभी विरोधी काल के आनेपर नहीं होती। अतएव काल का सद्भाव स्वीकार किया गया है। इसके खण्डन में कहा गया है—काल के नित्य होने पर उसके आश्रित रहने वाली अङ्कुरादि की उत्पत्ति और वृद्धि सदैव प्राप्त होनी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। कभी बिना बीज के ही अङ्कुरों की उत्पत्ति होती है और कभी बीज-वपन करने पर भी अङ्कुर नहीं होते। इसी प्रकार ही बीजादि के समान काल भी जब कभी

ही होता है। अतएव नित्य नहीं है। जिसके सद्भाव होने पर अङ्कुरादि की उत्पत्ति होती है और असद्भाव होने पर उसका विनाश होता है। ऐसा कोई दूसरा ही है। इस प्रकार कार्यभूत अङ्कुरादि के समान काल अनित्य ही है (२०७)। निष्क्रिय पदार्थ का हेतुत्व संभव नहीं, इसलिए हेतु नामक कोई पदार्थ अपने से भिन्न नहीं है। फलोदय का हेतु होने पर फलत्व कैसे नहीं होगा ? फलत्व होने पर अंकुरादि के समान इसकी नित्यत्व-दृष्टि कैसे हो सकती है ? इसलिए हेतु और फलकी व्यवस्था न होने से दोनों की स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती। कारण होने पर जिसकी उत्पत्ति हो, वह फल है। जैसे बीज के होने पर अंकुर होता है। अंकुर के होने पर बीज नहीं होता। इसलिए हेतु फलत्व में कारण नहीं होता। जिससे जो बीज होता है उसकी अंकुरोत्पत्ति के पूर्व की कल्पना में तृतीय विकल्प नहीं रहता, दो ही विकल्प होते हैं—हेतुभूत या अहेतुभूत। वहाँ अग्नि आदि से जल जाने के समान हेतुभूत से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। हेतु ही फल के रूप में परिणत होता है। इसलिए उत्पत्ति के पूर्व फल दिखाई नहीं देता। और उत्पन्न होने वाले फल के बिना भी कोई फल - प्रतीति नहीं होती। अतएव सभी की फलवत्ता हो यह सिद्ध नहीं होता। सारांश यह है कि यदि हेतुओं में फल के बिना हेतुता ही नहीं तो इस तरह सभी हेतुओं में फलवत्ता प्रसक्त हो जावेगी। परन्तु ऐसा नहीं है। अग्नि से जले बीज में अंकुर (फल) नहीं होता। अतः काल फलात्मक हेतु नहीं माना जा सकता—

बिना फलेन यद्धेतो र्हेतुभावो न विद्यते।
हेतूनां तेन सर्वेषां फलभावः प्रसज्यते ॥ २०८ ॥

यदि कालवादियों का यह काल विचित्र जगत् का कारण है तो उससे नियत पूर्वावस्थावर्त्ती नानारूप विकार से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। परन्तु वह नहीं होती। मूल कारण बीज स्वयं विकृत रूप धारण करने के बाद ही अंकुर का कारण बनता है, पूर्वास्था के परित्याग के बिना नहीं। वैसे ही काल भी जब विचित्र जगत् का कारण होगा तो उसे कार्योत्पादन के पूर्व अपनी नियत पूर्वावस्था को छोड़ना पड़ेगा। अन्यथा कार्योत्पादन में समर्थ नहीं हो सकेगा। परन्तु जब विकृत रूप धारण करेगा तो उसमें विकार अवश्य होगा। वह बीजादि की तरह नित्य नहीं हो सकता (२०९)।

विकृत बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है। अन्य बीज की असंभवता से बीज का अनुविधायी होने से और सहानवस्थान होने से और कुछ ही

उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं मानना चाहिए ; एक साथ रहने वाले असदृश पदार्थों के हेतुत्व की असंभावना से और काल की नित्यता रूप हेतु के फल से 'अन्यत्व' ही होता है। इस कारण असदृश के साथ अवस्थान भी संभव है। फल के उत्पन्न होने पर भी काल में कोई विकार नहीं आता। इस काल से जो फल उत्पन्न होता है वह बिना विकार के ही होता है अर्थात् हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा किये बिना ही स्वयमेव उत्पन्न होता है। अथवा हेतु प्रत्यय की अधीनता में उत्पन्न होने पर फल बिना उत्पन्न हुए उत्पन्न होता है, यह भी ठीक नहीं। सर्वात्मना अभाव होने पर पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। जिसका सर्वात्मना सद्भाव नहीं, उसका खर-विषाण के समान हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होना संभव नहीं। अतएव जिसके हेतु इष्ट है, वह धर्मातीत नित्य पदार्थ विकृत न होकर भी उत्पन्न होता है। यह निर्हेतुक ही उत्पन्न होता है। अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न होता है। इसलिए इसकी निरर्थक हेतुत्व-कल्पना से क्या प्रयोजन ! तात्पर्य यह है कि विकृत बीज से ही अंकुरादि उत्पन्न होता है, पर काल का विकृत रूप अंकुरादि है, ऐसी बात बुद्धि-संगत नहीं। जगत् स्वतः सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए काल को कारण मानने की आवश्कता नहीं (२१०)।

परमाणु—हेतुत्व, पारिमाण्डल्य और अप्रदेशत्व ये परमाणु द्रव्य के लक्षण हैं। यदि परमाणु सर्वात्मना दूसरे परमाणु से युक्त है, प्रदेश से नहीं, तो हेतु है। हेतुभूत एक परमाणु का दूसरे परमाणु में सर्वात्मना संयोग मानने से परमाणु के अणु परिमाण का कार्य द्व्यणुका द्व्यणु में भी संयोग मानने का प्रसंग आयगा। सारा संसार परमाणु मात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा। पर संसार दृश्य है। अतः परमाणु का परमाणु में सर्वात्मना योग नहीं मानना चाहिए (२१३)।

संसार में अदृश्यत्वापत्तिवारण के लिए यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से योग न माना जाय तो परमाणु का परमाणु से जो संयोग होता है वह किसी अंश में होता है। अश जिस अंश का जिस अंश से संयोग होता है वह परमाणु का अंश परमाणु का अवयव हुआ। जिसका संयोग से पहले अवयव है वह उसका अवयवी हुआ। अणु के भी अवयव होंगे। इस स्थिति में वह अणु नहीं कहा जा सकता। परमाणु भी घटादि की तरह अनित्य है। अतः वह परमाणु नहीं कहा जा सकता। अर्थात् परमाणु भी अनित्य है—

यस्य पूर्वः प्रदेशोऽस्ति पूर्वांशस्तस्य विद्यते।
अणोर्येन प्रदेशोऽस्ति तेनाणुर्नाणुरुच्यते ॥ २१५ ॥

गमन करने वाला व्यक्ति गमन करने में अपने आगे के पैर से आगे के स्थान को ग्रहण करता है और पीछे के पैर से पीछे के स्थान को छोड़ता है। इन दोनों क्रियाओं से गमन करने वाले को गमनत्व समझा जाता है। अनंश होने के कारण जिस परमाणु के अग्रिम भाग से ग्रहण और पश्चात् (पीछे के) भाग से वर्जन नहीं होता वह "गन्ता" नहीं कहा जाता है। इस प्रकार यदि परमाणु भी निरवयव होगा तो संयोगादि क्रिया के न होने से घटादि कार्य की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। अतः परमाणु कोई द्रव्य है, यह कहना उचित नहीं ॥ २१६ ॥

अवयवहीन परमाणु का न आगे का भाग है और न पीछे का। इसलिये वह अव्यक्त है। व्यक्त का तात्पर्य स्पष्ट, ग्राह्य और दृश्य है। इसी का विपरीत-रूप अव्यक्त है। जो दृश्य नहीं है वह किसी के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। योगी भी अव्यक्त होने से उसे देखने में समर्थ नहीं हैं। इस कारण परमाणु नित्य नहीं है ॥ २१७ ॥

परमाणु यदि हेतुरूप हों तो अंकुर से बीज के समान वे परमाणु द्व्यणु-कादिक अवयवी द्रव्यों द्वारा विनष्ट हो जावें। अतएव उस फल में सहानवस्थान से परमाणु बीजके समान नित्य नहीं हैं। यदि इस तरह का हेतुत्व सम्भव नहीं तो परमाणु की नित्यत्व-परीक्षा निरर्थक ही है। तब उनसे क्या प्रयोजन? अतः परमाणु नित्य नहीं है ॥१८॥

परमाणु के नित्य न होने में एक और प्रमाण आचार्य आर्यदेव प्रस्तुत करते हैं। जगत् में एक परमाणु में दूसरा परमाणु सर्वात्मना नहीं रहता। परमाणु का संश्लेष (संयोग) होने पर संश्लिष्ट घटों के समान वह नित्य भी नहीं होता। इसलिए वैशेषिक दर्शन की तरह सौगत दर्शन में भी परमाणु द्रव्य (नित्य) नहीं है। बुद्ध ने इसी कारण परमाणु के नित्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया। स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, यह भी कारण है। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध क्रमशः और युगपद् नहीं होते। उत्पत्ति आदि के न होने पर परमाणु का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतएव जैसे लौकिक भाव साधारण लौकिक विचार में ही रहते हैं, लोकोत्तर दर्शन परीक्षा में नहीं। उसी प्रकार न्याय सिद्धान्त का परमाणु भी साधारण दर्शन में लोक में व्यवहृत होते हुए भी परमार्थ विचार में सिद्ध नहीं हो सकता। अतः बौद्धदर्शन में परमाणुवाद स्वीकार्य नहीं ॥१९॥

निर्वाण—यहाँ पर आलोचक कहते हैं—बुद्धने परमाणुओं की नित्यताको स्वीकार नहीं किया, यह सत्य ही है। परन्तु उन्होंने जिसे नित्य माना है उसे तो नित्य मानना ही पड़ेगा। जैसे भगवान् ने कहा है निर्वाण के प्रसंग में कि "भिक्षुओं! वह अजात अभूत और असंस्कृत धर्म है"। इसके अनुसार असंस्कृत धर्म नित्य गया माना है। अतएव निर्वाण नित्य है। दुःखसत्य, समुदयसत्य, और दुःखनिरोधसत्य शासन (उपदेश) भी नहीं है, ऐसा भगवान् का उपदेश नहीं है। परन्तु यह कथन युक्तियुक्त नहीं। उपाय, बन्धन और बन्ध्य इन तीनों से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उससे कुछ भी नहीं होगा और फलतः उसे मोक्ष नही कहा जा सकता—

> उपायाद् बन्धनाद् बन्ध्यादन्यो मोक्षो भवेद् यदि।
> न तस्माज्जायते किञ्चित् मोक्षः स इति नोच्यते ॥२२०॥

इसमें बन्धन समुदयसत्य है। बन्ध्य के स्वतन्त्र न रहने से बन्धन होता है। बन्ध्य दुःखसत्य है क्योंकि वह क्लेश के परतन्त्र है। बन्ध्य से दूर होने का उपाय मार्ग सत्य है, दुःख-निवारक होने से। बन्धन और बन्ध्य के बिना बन्धन कार्य सम्भव नहीं। बन्ध्य-बन्धन का अस्तित्व बन्धन कार्य के अस्तित्व का हेतु है। तथा निवर्त्य और निवर्तक के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती। निवृत्ति होने के कारण निवर्तक का अस्तित्व है। निवर्त्य संक्लेश है और निवर्तक मार्ग है, अन्धकार में दीपक के समान। जैसे दुःख-सत्य, दुःख समुदय सत्य और दुःखनिरोधसत्य ये तीनों आर्यसत्य अनुमित सत्य हैं वैसे ही क्लेशक्षय लक्षण स्वरूप मोक्ष नहीं है। क्योकि उससे कुछ भी लाभ नहीं। बन्ध्य और मोक्ष इन दोनों का भी अवयव स्वभाव नहीं मिलता। यदि उसका कुछ उपयोग मान भी लिया जाय तो वह अनुमित सत्य ही होगा और यह है नहीं अतएव इसका सद्भाव नहीं। इसलिए जाति और क्लेश इन दोनों की उत्पत्ति न होना मोक्ष प्राप्ति से संभव है, यह ठीक नहीं। हेतु, प्रत्यय और सामग्री से उद्भूत पदार्थों के अभाव से, बीजाभाव से अंकुरादि के समान जाति (जन्म) कभी नहीं होता। इसलिए उसके लिए अर्थान्तर परीक्षाधर्म युक्तियुक्त नहीं।

तृतीय दुःखनिरोधसत्य भी विरुद्ध नहीं। क्योंकि जाति और क्लेश दोनोंका पुनः उद्भव नहीं होना तृतीय सत्यका वाच्य है। अभावभूत की संख्या से परिसंधान नहीं होता, ऐसा नहीं है। भगवान् बुद्ध ने कहा है हे भिक्षुओ! अतीत मार्ग, अनागतमार्ग, आकाश, निर्वाण और पुद्गल ये नाम मात्र, प्रतिज्ञामात्र

व्यवहारमात्र और संवृतिमात्र हैं। तात्पर्य यह है कि उपाय, बन्धन और बन्ध्य इन तीनों से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उससे कुछ भी न होगा। अतएव इसे मोक्ष कहना युक्तिसंगत नहीं ॥२२०॥

आर्यदेव ने इस सन्दर्भ में और भी मन्थन किया है और कहा है कि निर्वाणमें स्कन्ध नहीं होते। पुद्‌गल की भी उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ निर्वाण दिखाई नहीं देता वहाँ निर्वाणसे तात्पर्य क्या !

स्कन्धाः सन्ति न निर्वाणे पुद्‌गलस्य न सम्भवः।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ॥२२१॥

भगवान् बुद्ध ने कहा है—"यह दुःख पूर्णतः निरवशेष हो गया है। इसे क्षय, विराग, निरोध, उपशम, अस्तंगम, अयुक्तान्य सन्धिक, निरुपादान, और शान्त कहा है।" इस प्रकार "समस्त स्कन्धों का नाश, जन्म मरणका क्षय, विराग, और निरोध निर्वाण है।" इस प्रकार के आगम प्रमाण से निर्वाण में स्कन्ध होते तो पुद्‌गल भी होता। तब उनके होने पर निर्वाण की प्राप्ति में सूत्र-विरोध होगा और निर्वाण संसार से बाहर नहीं होगा। इस कारण उस निर्वाण में निर्वाणभूत कुछ भी नहीं मिलता। इसलिए कहा है—"यत्र दृष्टं हि निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत्।" निर्वाण का नाम निर्वृत्ति है। वह भावरूप होने स आधार है। इसका आधार निर्वाणभूत है। वह निर्वाणभूत स्कन्ध या पुद्‌गल है। उसके अभाव होनेपर आधार का अभाव हो जावेगा। तब उसके पक्ष में निर्वाण का स्वरूप क्या होगा ? आधारभूत अथवा आधेयभूत? आधारभूत तो हो नहीं सकता क्योंकि निर्वाण में स्कन्ध होते नहीं और पुद्‌गल की भी उत्पत्ति नहीं होती। स्कन्ध और पुद्‌गल के अभाव में जब निर्वाण होता है और कुछ प्राप्ति होती नहीं तो निर्वाण से क्या तात्पर्य ! अतएव निर्वाण आधारभूत नहीं है।

निर्वाण आधेयभूत भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें भी वही पूर्वोक्त दोषापत्ति है। निराधार के आधेयके अभावसे निर्वाण कैसा ! निर्वाण के न होने पर नित्यत्व नहीं जाना जाता। अतएव पदार्थ नित्य नहीं हैं॥ २२१ ॥

मुक्तभूत पुरुष की मोक्षावस्थामें ज्ञानके अस्तित्व की कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि सांख्यों के दर्शन में पुरुष बुद्धि के अध्यवसाय के लिए जानता है। अग्नि में उष्णता के समान बुद्धि का स्वरूप ज्ञान है। उसका यथोपदर्शित विषयों का ज्ञान कराना स्वभाव है। प्रकृति विषयसंभोग काम से ज्ञात पुरुष

की अभेद-प्रतीति के क्रम से इन्द्रिय समूह की उत्पत्ति में पुरुष के विषय संभोग का कारण होती है। जब पुरुष के मन से विषय संभोग की इच्छा दूर हो जाती है, तभी संसार (जन्म-मरण) का उच्छेद होता है। भवहीन व्यक्ति के लिये ज्ञान के सद्भाव का कोई तात्पर्य-लाभ नहीं। वह कोई भी पदार्थ अच्छी तरह से अनुभूति में नहीं ला पाता। क्योंकि उसके हेतुफलात्मक सारे विकारसमूह प्रशान्त हो चुके। इसलिए मुक्त आत्मा के मोक्ष ज्ञानयुक्त नहीं।

यदि मोक्षकाल में अज्ञान माने तो ज्ञान सद्भाव में अभिन्न स्वभाव वाले पुरुष की अज्ञान-कल्पना बन्ध्यापुत्र की तरह स्पष्टतः अस्तित्वहीन होगी ।।२२२।। यदि मोक्ष में आत्मा रहती है तो ज्ञान-बीज की भी उत्पत्ति होगी। यदि ज्ञान-बीजका अभाव माना जाय तो भव-भावना भी अस्तित्वहीन हो जावेगी ।।२२३।।

दुःख से मुक्त व्यक्ति के दुःख होता नहीं। दुःख उत्पाद, निरोध धर्म रूप संसार-कर्म के क्लेश से उत्पन्न होता है। उसी कारण से पुद्गल बंधता है। और वही आत्मा है। दुःखनिरोध होने पर उसके साथ सिद्धि-सुख की प्राप्ति होने से सर्वथा पश्चात् आत्मा का अभूतात्मकत्व से जो क्षय है, वही श्रेय है। मुक्त आत्मा नहीं। वह आत्मा बन्ध्यापुत्र के समान बिलकुल अकारणत्व रूप से स्वयं विद्यमान नहीं है और उसके स्वरूप-सद्भाव में नित्यत्व के कारण अविकृति होने से बन्ध और मोक्ष दोनों का विशेष अभाव है और इसलिए पहले के समान संसार से निवृत्ति नहीं है। अर्थात् दुःख से मुक्त हो जाने पर निश्चय ही कुछ भी नहीं बच जाता। जो आत्मा का क्षय है, वस्तुतः वही श्रेय है, मुक्त आत्मा नहीं। विशेष रूप से विकार के होने से अनित्य है। जो अनित्य होता है वह सकारण होता है। फिर दुःख-सन्तान के समान ही स्ववादत्याग हो जायगा। अतएव आत्मा नहीं है। अर्थात् यदि मोक्ष में भी आत्मा मानें तो फिर वह नित्य और अविकारी भी है। ऐसा मानने पर बन्ध, मोक्षव्यवस्था, संसार-निर्वृति ये सभी असंगत हो जावेंगे। यदि बन्ध-मोक्ष के लिए विकारी आत्मा को मानें तो विकारी न होने से अनित्यतापत्ति हो जावेगी। अतः मुक्तावस्था में आत्मवाद अयुक्त है ॥ २२५ ॥

२. आत्मप्रतिषेध

आचार्य आर्यदेवने "आत्मप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्" नामक प्रकरण में आत्मा का यथाशक्य प्रतिषेध किया है। और चन्द्रकीर्ति ने उन तर्कों को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

आत्मा नामक कोई पदार्थ स्वरुपतः नहीं है। यदि है तो वह नियत रूप से स्त्रीरूपसे है अथवा पुरुषरूपसे अथवा नपुंसकरूपसे? इनके अतिरिक्त अन्य कल्पना संभव नहीं। तीर्थकों ने आत्मा दो प्रकार का माना है—अन्तरात्मा और बहि-रात्मा। उनमें जो अन्तरात्मा है वह शरीर रूप घर के भीतर व्यवस्थित, शरीर तथा इन्द्रिय समूह को कार्य में प्रवृत्त कराने वाला व्यापार पुरुष, जगत् का अहङ्कार उत्पन्न करने वाला, कुशलादि कर्मफल का उपभोक्ता और अनेक भेदों को भिन्न (नष्ट) करने वाला है। और बहिरात्मा शरीर, इन्द्रिय समूह रूप में अन्तरात्मा का उपकारक है। आत्मा के इन दोनों भेदों में जो अन्तरात्मा है वह यदि स्त्रीरूपसे परिकल्पित किया जाय तो रूप और लिङ्ग नहीं छोड़ने के कारण जन्मान्तर में भी वह नित्य ही स्त्री रूप रहेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। लिंग में परिवर्तन भी होता है और स्त्रीत्वादि आत्मा के गुण भी नहीं। ये ही दोष आत्मा के पुल्लिग और नपुंसक मानने में उत्पन्न होंगे ॥ २२६ ॥

इस प्रकार यदि अन्तरात्मा की जो स्त्रीत्वादि की परिकल्पना है वह भ्रान्ति-मूलक है तो ये लिंग स्त्री, पुमान् और नपुंसक बहिरात्मा के माने जायें और बहिरात्मा के संयोग से ही अन्तरात्मा में भी स्त्रीत्वादि की प्रतीति की कल्पना करे। परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं। बौद्धदर्शन में आकाश को अस्वीकार कर चार ही महाभूत माने गये हैं। जिसके दर्शन में पाँच महाभूत मान्य है, वहाँ भी देहादि के निर्माण में आकाश का योग न होने से चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) ही कारण-भाव को प्राप्त होते हैं। उन कारणभूत पृथिव्यादि महाभूतों में लिंग स्वरूपतः विद्यमान नहीं। यदि उनमें लिंग होते तो उनके स्वाभावानुसार समस्त देहों की लिङ्गता निश्चित हो जाती और भ्रूण में भी लिङ्गता पायी जाती। परन्तु ऐसा होता नहीं।

इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वरूपतः नहीं है। यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो वह आत्मा जैसे एक के अहंकार का आलम्बन होता है, उसी प्रकार सभी के अहङ्कार का आलम्बन होना चाहिए। लोक में अग्नि की उष्णता स्वभावतः सभी के लिए होती है, अनुष्ण्य किसी को नहीं। उसी प्रकार आत्मा को भी सभी के के अहंकार का आधार (विषय) होना चाहिये, यदि आत्मा स्वरूपतः है। परंतु ऐसा है नहीं॥ २२७ ॥

यदि यह कहा जाय कि जब आत्मा नहीं तो अहङ्कार और आत्मस्नेह कहाँ रहेंगे तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ये अहङ्कार और आत्मस्नेह स्वभावतः नहीं प्रत्युत

आत्मा में कल्पनामूलक हैं। जैसे ईन्धन में अग्नि की कल्पना कल्पनामात्र है उसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप अनित्य स्कन्धों में आत्मा, सत्व, जीव, जन्तु आदि की परिकल्पना अभूतार्थ का आरोपण मात्र है। जैसे ईंधन के उपादान से अग्नि होती है उसी प्रकार स्कन्धों के उपादान से आत्मा जानी जाती है। और वह स्कन्ध तत्वों से पांच प्रकार का निरूपित होता हुआ स्वभावतः नहीं है। परन्तु उसकी परिकल्पना अनित्य संस्कारों में होती है।

यस्तवात्मा ममानात्मा तेनात्मा नियमान्न सः।
नन्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते ॥ २२८ ॥

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए पुनः तर्क प्रस्तुत किया जाता है। आत्मा स्वभावतः है क्योंकि वह प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण है। यदि आत्मा नहीं होता तो शुभाशुभ कर्म का कर्ता और भोक्ता कौन होता? व्यक्ति वही शुभाशुभ कर्म करके जाति, गति, योनि आदि भेद से भिन्न त्रैधातुक में अपने कर्म के अनुरूप जन्म लेता है और अनन्त सुख-दुःख फलों का कारण होता है। वही अभिसंस्कर्ता है। और वही प्रत्यनुभविता है। वही अधर्म से मारा जाताहै और स्पर्श किया जाता है और छोड़ा जाता है। अतएव आत्मा स्वरूपतः है।

इस शंकापर अचार्य प्रश्न करते हैं कि यह आत्मा जन्मान्तर परिवर्तन में दैहिक भेद के विकारों का अनुरोध करता है अथवा नहीं? यदि दैहिक भेद के विकारों का अनुरोध नहीं करता तो आत्मा की कल्पना निरर्थक है। यदि देह-भेद के विकार का अनुरोध करता है तो देह से आत्मा की अभिन्नता तथा नित्यता युक्त नहीं (२२९)। आत्मा के न होने पर देह की चेष्टा, संकोच, प्रसरण आदि का प्रेरक कौन होगा, यह प्रश्न भी तथ्यसंगत नहीं। रथ किसी स्पर्शरहित पदार्थ से सञ्चालित नहीं किया जा सकता। वह सञ्चालन स्पर्शवान् ही कर सकता है। आत्मा भी कालके समान अदेही होने से स्पर्शवान् नहीं है। अस्पर्शवान् पदार्थ से देहकी चेष्टा आदि के कारण से आत्मा के सद्भाव का अनुमान और अस्पर्शवान् की प्रेरणा कैसे सम्भव है! प्रदेशाभाव से यह आत्मा स्पर्शवान् है नहीं। जो अप्रदेशी है उसका संयोग नहीं होता। संयोग से विरहित वस्तु की प्रेरणा नहीं होती। अतएव दैहिक चेष्टा का कर्ता होने से भी जीवन (आत्मा) के अस्तित्व को स्वीकार करना संगत नहीं (२३०)

यदि यह आत्मा नित्य होता तो उसके रक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहती और आकाश के समान अहिंसात्मक धर्मोपदेश की अपेक्षा न होती। असिधारा, अग्नि, विष, वज्रपात आदि से भी इस पर कोई असर नहीं होता (२३१)।

आत्मा नित्य ही है क्योंकि जातिस्मरण का सद्भाव देखा जाता है। संस्कारों के उत्पन्न होने पर और बाद में शील-भंग होने पर जातिस्मरण नहीं देखा गया। जन्मान्तर संस्कार जहाँ उत्पन्न होते हैं वहीं नष्ट हो जाते हैं। वर्तमान जन्म में दूसरे ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए आत्मा अतीत काल में ऐसी ही थी, यह स्मरण नहीं होता। अर्थात् जन्मान्तर के संस्कार जिस देह में उत्पन्न होते है उसी में नष्ट हो जाते हैं। फिर देहान्तर में उनकी स्मृति तभी होगी जब अनुभावकर्त्ता आत्मा को नित्य माना जाय। अतः आत्मा नित्य है। इस तर्क के खण्डन के प्रसंग में कहा गया है कि।

जात्यन्तरों में शूलादि के आघात से उत्पन्न क्षत होते हैं। उनसे उपलक्षित कुछ शरीर विनष्ट हो जाते हैं और कुछ शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। यथासमय जातिस्मरण का अनुभव होने से जिस तरह जातिस्मरण के सद्भाव को उत्पन्न करने वाले आत्मा के नित्यत्व की परिकल्पना करते हो वैसे ही शरीर की नित्यता को भी स्वीकार करना चाहिए। परन्तु स्वीकार कहाँ करते हैं ? अतएव जातिस्मरण मात्र से आत्मा को नित्य नहीं माना जा सकता। अन्यथा कार्य को भी नित्य मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।

जातिस्मरणसद्भावादात्मा ते यदि शाश्वतः।
क्षतं पूर्वकृतं दृष्ट्वा कायस्ते किमशाश्वतः ॥२३२॥

आचार्य पुनः पूर्वपक्ष स्थापित कर आत्मा की नित्यता का खण्डन करते हैं—यह आत्मा जातिस्मरण कैसे करता है ? यदि स्वभाव से करता है तो उचित नहीं क्योंकि कल्पना करना उसका स्वभाव नहीं। सचित्त होने से यदि कल्पक माना जाय तब भी ठीक नहीं। क्योंकि स्वभाव-त्याग का प्रसंग आयेगा (२३३)।

यहाँ जब करण भूत चक्षु आदियों को प्रवृत्तियां रूपादि पदार्थों पर गिरती हैं तो रूपादि का ज्ञान तद्रूप ही हो जाता है और बुद्धि द्वारा किये गये व्यवसाय से उस अर्थ को आत्मा जानता है। पदार्थ के अनुसार चैतन्य कल्पित हो जाता है। अतएव आत्मा अभिन्न स्वरूप और नित्य हुआ। क्योंकि

चैतन्य सदैव पास रहता है। अतएव इसका चक्षु आदि करण निष्प्रयोजन होनेसे निरर्थक हैं। (२३४)। जिसके दर्शन में ईन्धन के अभाव में अग्नि नहीं होती और सद्भाव में होती है उसके दर्शन में इन्धनन्याययुक्त है। परन्तु जिसके दर्शन में अग्नि नित्य है उसके यहाँ इन्धनोपार्जन निरर्थक होगा। उसी प्रकार यह है। तब इस महदादि विकारों के समूह की प्रवृत्ति व्यर्थ ही है। और शास्त्र निर्माणका श्रम भी व्यर्थ हुआ। तात्पर्य यह है कि पुरुष (आत्मा) चैतन्य स्वरूप और नित्य है तो नेत्रादि ज्ञान के करण (साधन) इन्द्रियां निरर्थक हो जायगी। परन्तु इन्द्रियां निरर्थक नहीं हैं। अतः आत्मा चैतन्य स्वरूप और नित्य नहीं है। (२३५)।

जैसे वृक्षादिक चलन क्रिया के प्रारम्भ से पूर्व की अवस्था में द्रव्य रूप से विद्यमान हैं वैसे पुरुष (आत्मा) नहीं। क्योंकि अत्मा चैतन्य रूप मात्र होनेसे चैतन्यशक्ति से पृथक् है नहीं। और द्रव्य रूप के अभाव से चैतन्य रहित होने पर भी उसका अस्तित्व है ऐसी कल्पना की नहीं जा सकती। अतएव आत्मा है परन्तु चैतन्य नहीं ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं। और जो चैतन्य शक्ति के सद्भाव से पुरुष के अस्तित्व की कल्पना की जाती है वह भी युक्त नहीं। क्योंकि निराधार शक्ति का सद्भाव नहीं होता (३३६)। यदि पुरुष चैतन्य-व्यक्ति के पूर्व चैतन्य शक्ति रूप हो तो भी ठीक नहीं।

चैतन्य की द्वैरूप्य कल्पना में अन्यत्र पृथकता से चेतना की चेतनाधातु, चेतना बीज, चेतनाशक्ति आपने देखी है और चेतना शक्ति से चेतना पृथक् भी देखी है। इसलिए चेतनाधातु से प्रवर्तमान चेतना चेतना-धातु के समान देश वाली होगी। जिस प्रकार लोहा द्रवत्व को प्राप्त हुआ भी लोहे के स्थान से अभिन्न स्थान (एक स्थान) में रहने वाला होता है उसी प्रकार चेतना शक्ति से पुरुष अभिन्न है ऐसी अभिव्यक्ति नहीं होती। क्योकि दोनों पुरुष और चैतन्य शक्ति अभिन्न हैं। अतः यह पुरुष शक्ति को प्राप्त होता हुआ अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। बीज और अंकुर का आविर्भाव और तिरोभाव दिखाने से समानदेशता नहीं। पुरुष का भी आविर्भाव और तिरोभाव दिखाई देता है। इसलिए समानदेशता नहीं। अतः आचार्य ने लोहे के द्रवत्व का दृष्टान्त दिया है। चैतन्य शक्ति से पुरुष पृथक् नहीं है। वह शक्ति रूप से सम्पन्न व्यक्ति रूपता को प्राप्त होता है और विक्रियमरण होने से लोहे के समान आत्मा की नित्यता सिद्ध नहीं (२२७)।

चेतनाधातुरन्यत्र दृश्यतेऽन्यत्रचेतना ।
द्रवत्वमिव लोहस्य विकृतिं यात्यतः पुमान् ॥२३७॥

प्रत्येक प्राणी के शरीर में आत्मा आकाश के समान व्यापक है। उसकी मनोमात्र से संयुक्त चेतना सर्वव्यापिनी चेतना नहीं होती। और मन आत्मा के परमाणु मात्र देश से संयुक्त है। उस मन से संयुक्त होकर पुरुष मन से अभिन्न देशवाले चैतन्य को प्राप्त करता है यह तर्क भी ठीक नहीं।

आकाश के समान अत्यन्त महान् इस पुरुष के मनोमात्र में चैतन्य पाया जाता है। ऐसा मानने पर पुरुष अचेतन ही है। क्योंकि परमाणु मात्र प्रदेश में चेतन का सम्बन्ध न होने से पुरुष को संचेतन कहना संभव नहीं। अतः जैसे परमाणु मात्र नमक के संयोग से गंगा जल नमक वाला है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार आत्मा को भी मनके संयोग मात्र से चेतन नहीं कहा जा सकता। आत्मा द्रव्य है। चैतन्य गुण है। अतएव इन दोनों के परस्पर भिन्न पदार्थ होने से पुरुष अचेतन है। अतः अचेतन घर की तरह आत्मत्व की कल्पना युक्त नहीं (२३८)

आत्माको प्रत्येक प्राणी में सर्वव्यापी भी नहीं माना जा सकता। यदि मैं आकाश की तरह सर्वव्यापी हूँ तो मेरी ही आत्मा के सद्भाव से दूसरे प्राणी में भी यह मेरा है "ऐसा अहङ्कार क्यों नहीं उत्पन्न होता? यदि ऐसा होता तो मेरा सर्वव्यापकत्व उचित होता। परन्तु अन्य प्राणियों में 'मेरा है' यह अहङ्कार उत्पन्न नहीं होता। इस मेरे पर शरीर में दूसरे आत्मा द्वारा आवरण युक्त नहीं। और न दूसरे के आत्मदेशमें मेरी आत्मा का सद्भाव है क्योंकि समस्त प्राणी एक दूसरे में व्याप्त है। और जब समान देशता है तब उसके द्वारा उसका आवरण सम्भव नहीं। तेनैवावरणं नाम न नस्यैवो-पद्यते। समान देश होने से कोई भी वस्तु अपने से अपने का आवरण नहीं हो सकता। इसलिए परात्मा के भी अहङ्कार-विषय होने की प्रसक्ति होगी। परन्तु ऐसा होता नहीं अतएव आत्मा सर्वगत नहीं है। (२३९)

सांख्यवादियों के अनुसार सत्, रज और तम ये तीन गुण हैं। उन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था प्रधान और प्रसवावस्था प्रकृति है। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष के विदित विषयोपभोगकी उत्सुकता से पुरुष के साथ अभिन्न रूप से मिलकर समस्त विकार समूह जगत को उत्पन्न करती है। उत्पत्ति क्रम यह है—प्रकृति से महान् (बुद्धि), महान् से अहङ्कार, अहङ्कार

से पञ्च-तन्मात्रा और इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा से पञ्चभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश। इस प्रकार जिन वादियों के मत में गुणों को कर्त्ता और अचेतन माना गया है उन वादियों और उन्मत्तों में कोई अन्तर नही। उन्मत्त वस्तुका विपरीत ज्ञान कराते हैं। सांख्यों का यह असदर्थ प्रलाप है। (२४०)। सांख्य दर्शन के सत् रज और तम गुण गृहादि का निर्माण कर सकते है परन्तु उनका उपभोग नहीं कर सकते। इससे अधिक अयुक्त और क्या हो सकता है (२४१)।

जिसमें क्रिया हो उसे कर्त्ता कहते हैं। बिना कुछ करता हुआ निर्हेतुक कोई कर्त्ता नहीं होता। क्रियावान् होने पर निश्चित ही क्रिया की पूर्व अवस्था विशेष ज्ञातव्य है। पूर्वापर अवस्थाओं में निर्विशेष आत्मा पूर्वावस्था के समान क्रियावान् नहीं होता। और स्पर्शवान् क्रियावाला वायु, अग्नि आदि की तरह नित्य हो नहीं सकता। उसी प्रकार आत्मा की भी नित्यता सिद्ध नहीं होती। और आत्मा का क्रियावान् होना युक्त भी नहीं है। क्योंकि आत्मा व्यापक है और व्यापक से क्रिया हो नहीं सकती। इसलिए कि चलन आदि क्रिया में कर्त्ता पूर्व स्थान का त्याग करता है और आगे स्थान से संयोग। सर्व व्यापी आत्मा में यदि गमनादि क्रिया माने तो उसका कहीं त्याग और कहीं संयोग मानना पड़ेगा, जो संयोग-वियोग व्यापकत्व का बाधक है। अतः सर्वव्यापी आत्मा में क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया कर्त्ता और कर्म दोनों के आश्रित रहती है। और वह क्रिया दो प्रकार की है व्यापार रूपा और भावरूपा। कर्त्ता के आश्रित व्यापाररूपा क्रिया होती है। जैसे गमन क्रिया के आश्रित देवदत्त जाता है। और वह सर्वगत नहीं होता। क्योंकि याद के उत्क्षेपण व अवक्षेपण लक्षण रूप क्रिया से पूर्व देश का त्याग और अपर देश का ग्रहण होता है। इसीलिए क्रियावान् कहलाता है। यदि इसे सर्वगत मानते तो वह कहां जाता और कहाँ अनुपस्थित रहता। इसलिए कहा है—नास्ति सर्वगते क्रिया—शर्वव्यापी में क्रिया नहीं होती। अतएव आत्मा निष्क्रिय है। कर्माश्रिता क्रिया जो किसी बाह्य रूपके संयोग से कम्पन आदि प्रगट करती है और जो पाकादि है वह कम्पन प्रकट नहीं करती और वह भी कर्त्ता में स्थित व्यापारिक भाव से दोनों से सम्प्रयुक्त जानी जाना चाहिए। इसलिए कहा है—क्रियावान् नित्य नहीं है और सर्वव्यापी पदार्थ में क्रिया होती नहीं। अतएव आत्मा क्रिया रहित है इसलिए भी निस्क्रियवाद और नास्तिकवाद समान है। क्योंकि निष्क्रिय पदार्थ आकाशकुसुम के समान सत नहीं है। और सर्वथा असत् होने से आत्मा निष्क्रिय है। इसलिए यदि आत्मा नित्य नहीं है तो नेरात्म्यवाप्र तुम्हें

प्रिय क्यों नहीं ? समस्त असत् दृष्टियों से निवृत्ति पाने के लिए नैरात्म्यवाद अवश्य प्रिय होना चाहिए ।

क्रियावाञ्छाश्वतो नास्ति नास्ति सर्वगते क्रिया ।
निस्क्रियो नास्तिता तुल्यो नैरात्म्यं किं न ते प्रियम् ॥२४२॥

यदि आत्मा अग्नि की उष्णता के समान स्वरूपत: सर्वदा उपलब्ध होता है ऐसा माना जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा का स्वरूप वादियों ने भिन्न भिन्न स्वीकार किया है। कोई प्रत्येक देह में अभिन्न रूप से आत्मा को व्यापक स्वीकार करते हैं। दूसर समस्त जगत को आत्मा को चन्द्र के समान एक ही मानते हैं। और उसका भेद देह के भेद से औपचारिक उसी प्रकार है जिस प्रकार तेल, घी, जल आदि पात्र-भेद से चन्द्र प्रतिबिम्ब है। वह सर्वगत है। इसलिए दृश्यते सर्वग: कैश्चित्कैश्चत्कायमित: पुमान् 'कहा है। इसी प्रकात कोई मानये हैं कि भ्रमर, सारस, चीटी, हस्ती आदि का आत्मा उनके शरीर बराबर है और उसका संकोच और विस्तार शरीर के अनुसार होता है। दूसरे लोग आत्मा के संकोच विस्तार को अनुचित मानने हुए उसे परमाणु मात्र ही मानते हैं। परन्तु तथागतों की उक्ति के आधार पर प्रतीत्य समुत्पाद धर्म का पूर्ण ज्ञान रखने वाले सम्यऽज्ञानी "आत्मा नहीं है" ऐसा मानते हैं। यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो निश्चित रूप से सत्य दर्शन वाले बुद्धों को भी आत्मा की उपलब्धि अवश्य होती। परन्तु तीर्थकों को आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। अतएव यह फलित हुआ कि स्वभाव रूप से आत्मा नहीं है ॥२४३॥

नित्य आत्माको बाधा कैसी और बाधा (उपकार, अपकार आदि) के बिना मोक्ष कैसे ? अर्थात् नित्य आत्मामें बाधा नहीं हो सकती और बाधा रहित का मोक्ष भी कहना असंगत होगा। अतः जिसके मतमें आत्मा नित्य है उसके मत में मोक्ष की कल्पना युक्त न होगी (२४४)

यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो स्वरूपतः निवृत्ति के अभाव से मोक्षावस्था में भी उस आत्मा का सद्भाव होता । उस स्थिति में नैरात्म्य चिन्तन की कल्पना युक्त नहीं। अतएव आत्म तत्त्व-ज्ञान से नियमतः निर्वाण होता है यह भी असत्य है। क्योंकि वहाँ भी आत्मग्राहका सद्भाव होता (२४५)।

सम्बन्धित धर्म से असंयुक्त, स्वरूप विशेष मात्र से अवस्थित भाव मात्रा का जो अंश प्राप्त होता है वह उसका स्वभाव है यह व्यवस्था समझनी चाहिए। क्योंकि अन्य धर्मों का मिश्रण नहीं होता। जैसे खोटे स्वर्ण में से लोहा आदि धातुके नष्ट हो जाने पर स्वर्ण पूर्णतः विशुद्ध हो जाता है और यही विशुद्धि स्वर्ण की यथार्थ प्रकृति है। वैसे ही मुक्तात्मा का विशुद्ध ज्ञानावस्था में ज्ञानका जो विशेष स्वरूप होता है वही उसका स्वरूप है। उससे आत्मा का योग कुछ भी नहीं होता। यदि आत्मा का योग रहे तो अहंकार होने की भी प्रसक्ति उपस्थित होगी। अतएव मोक्ष की पूर्वावस्था में भी वह उसका स्वभाव होता है यही युक्त है। इसलिए आत्मा स्वरूपतः सिद्ध नहीं (२४६)।

लोक में अनित्य पदार्थों के उच्छेद की कल्पना नहीं की जाती, अन्यथा सृष्टि के प्रारम्भ से जो बीज, अंकुर, वृक्ष आदि का हेतु और फलका सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से आज भी उपलब्ध होता है वह नहीं होता। यदि अनित्य का उच्छेद होता तो परम्परा की अप्रवृत्ति रूप विनाश होता। तो फिर ये बीजादिक आज भी क्यों उपलब्ध होते। परन्तु बीजादिक प्राप्त होते है। इसलिए अनित्य पदार्थ का उच्छेद नहीं होता ऐसा समझना चाहिए। यदि अनित्य वस्तुका सर्वथा उच्छेद होता है ऐसा माना जाय तो किसी भी प्राणी को मोहाविष्ट नही होना चाहिए।

अनित्यका उच्छेद स्वीकार करने पर अविद्या की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए संसार विपर्यास के आवरणके बिना ही साध्य होता और समस्त लोककी अविद्याका विनाश होने से कोई भी तत्व अदृष्ट नहीं रहता। अत एव अनित्य वस्तुका उच्छेद नहीं होता (२४७)।

सममस्त भावों की उत्पत्ति में कारणभूत आत्मा की नित्यता सिद्ध है। इस कारण से प्रवृत्त बीजादिकों का उच्छेद नहीं देखा जाता। ऐसा कहना भी उचित नहीं। क्योंकि हेतु प्रत्यय को जन्म देने वाले भाव नित्य नहीं रहते। और असत् का जब कोई अस्तित्व नहीं तो खरविषय के समान जगत्सृष्टि में वह कारण कैसे हो सकता है ? (२४८)।

यदि भाव आत्महेतुक हैं तो आत्मा के पृथक् होने से दूसरे भाव उत्पन्न नहीं होंगे। सूर्यकान्तमणि, इन्धन तथा सूर्य के संयोग से अग्नि उत्पन्न होती

है चन्द्रमा के समागम होने पर चन्द्रकान्तमणिके संयोगसे जलधारा बहती है। बीजादिकों से अंकुरादि उत्पन्न होते है। महाभूतोंसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। रूपादि भी दूसरे कारण से ही होता है। यह सब जो आत्मकर्तृक ही हैं इस रूपकी प्रवृत्ति उसी कारणसे ही उपलब्ध होती है। हेतुसे ही जगत्प्रवृत्ति हो जाती हैं। तब फिर आत्मकर्तृत्व-परीक्षा निरर्थक ही होगी। जब नित्यसे उत्पत्ति नहीं होती तो लोकमें जैसे हेतु-प्रत्ययोंसे उत्पन्न हुए स्वभावसे असिद्ध बीजरूप प्रतीत्यसमुत्पादसे अनित्य अंकुर उत्पन्न होता है जो स्वयं ही अव्यवस्थित, निःस्वभाव तथा प्रकृतिशून्य है वैसे ही इस दृष्टान्त द्वारा अन्य भावोंके अन्धकारसे आवृत, सूक्ष्म, हेतु-फलमें अवस्थित अरूपी वेदनादि. और हेतु-कर्मके क्लेशसे अतीत, अनास्रव और संस्कार निःस्वभाव हेतुसे निःस्वभावी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिए।

यथा हि कृतकाद् बीजाज्जायते कृतकोऽङ्कुरः।
अनित्येभ्यस्तथा सर्वमनित्यमेव जायते ॥ २४६ ॥

इसी प्रकार जहाँ वज्रादिके कारण संस्कारोंके सम्बन्धका उन्मूलन हो जाता उसे भी विद्वज्जन प्रतीत्यसमुत्पादज्ञानसे वारण करते हैं। भाव अर्थात् फल अङ्कुरादि बीजसे उत्पन्न होते है अतः बीजका उच्छेद नहीं होता। और जब अग्न्यादिसंयोग के समान भाव बीजादिहेतुक अंकुरादि सन्तानको उत्पन्न नहीं करते तब बीजमें उच्छेद दृष्टि होती है। परतु सृष्टिके आरम्भसे अब तक अकुरादि प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूपसे देखी जा रही है। अतः बीजमें उच्छेद-दृष्टि (अनित्यता) संभव नहीं। यदि अंकुर रूप फलके प्रवृत्त होनेपर भी अपने स्वभावमें अवस्थित रहनेसे बीज निवर्तित नहीं होता तो बीजमें विकार न होनेसे वह नित्य हो जाता हैं। परन्तु ऐसा होता नहीं। अंकुर हो जानेपर बीज नष्ट हुआ दिखाई पड़ता है। यदि वह अंकुर होने पर भी नष्ट न होता तो उस बीजसे दूसरे भी अंकुर होते। परन्तु अंकुर दूसरे होते नहीं। अतः ये बीज तथा अंकुर ये दोनों अनित्य हैं और भावों का निःस्वभावत्व स्पष्ट है (२५०)।

३. कालप्रतिषेध—साधारणतः सभी भारतीय दर्शन कालका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में संवत्सर, सूर्य चन्द्र आदि का वर्णन अथवा उनके प्रति भक्ति का प्रदर्शन उल्लिखित है। इहलोक, परलोक, अतीत, वर्तमान, भविस्य, क्षण, पल आदि काल के ही विभाजक तत्व हैं। मीमांसक और वैशेषिक काल और आकाश के सामान्यतः चार

लवण मानते है— सूक्ष्मत्व, विभुत्व, नित्यत्व और एकत्व। जैन दर्शन काल को अनस्तिकामिक द्रव्य मानते हैं। सांख्य काल को उपाधि मात्र मानसे हैं फिर भी उसे शाश्वत प्रकृति का एक गुण विशेष माना है। बौद्धधर्म ने कालको बिलकुल अस्वीकार कर दिया।

प्राचीन बौद्धधर्म में उपनिषदों के समान केवल रूप को ही अनित्य माना जाता था और चित्य, विज्ञान जैसे अन्य सूक्ष्म धर्म इस अनित्यता के परे थे। काल से औपाधिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। इस कल्पना का समर्थन बौद्ध साहित्य से भी होता है। महाभाषा में किली मिथ्यादृष्टि के अनुसार काल को नित्य और संस्कृत पदार्थ को अनित्य माना गया है। अभिधर्मकोश में एक ऐसे त्रैकाल्यवाद का स्वरूप मिलता है जिसमें भविष्य में उत्पन्न होने वाले कार्य का वर्तमानीकरण देशान्तर कर्षण से होता है। संघभद्र के न्यायानुसार ग्रन्थ में प्रतियक्षी के एक अन्य मत का उल्लेख है जो त्रैकाल्यवाद को नहीं मानता।

वैभाषिक में रूप और चित्त को अनित्य माना है। वहां ७५ धर्मों में काल को कोई स्थान नहीं दिया गया। अप्रत्यक्ष रूप से इसका तादात्म्य अमृत जातु से अवश्य किया जा सकता है। इसमें औयाधिक काल, जाति, जरा, स्थिति एवं अनित्यता रूप संस्कृत लक्षण त्रिकालात्मक है। उत्तरकाल में मात्र एक विभु संस्कृत द्रव्य रह गया जिसमें धर्म अवस्थित हैं। धर्म स्वलक्षणवान, होता है और यही उसकी स्वक्रिया (वृत्ति कारित्र, और स्वभाग) हैं। कारित्र्य का समाप्ति क्षण वर्तमान है, अनभिव्यक्त काल भविष्यत है, और व्यक्त काल भूत है। वास्तविक कारित्र्य तो वह हैं जो भविष्यत धर्मो को अपनी स्वक्रिया अभिव्यक्त करने के लिए विवश करे। हीनयान अभिधर्म में इसके ६ प्रकार हैं—सहभू, समनन्तर, सभाग, सर्वंमग, विपाक और अधिपति। इनमें धर्म का कारित्र्य स्वकारित्र नहीं, परन्तु उसका हेतु भावावस्थान उसका फलोत्पादन सामर्थ्य हो जाता है। अभिधर्मकोश (२. पृ० २९३) में यह कहा गया है कि धर्म चाहे भविष्यत, वर्तमान अथवा भूत हो, सदैव रहता है। यह उस क्षण में फलग्रहण या फलाक्षेप करता है जिस क्षण में वर्तमान होकर यह एक फल का हेतु अथवा बीज होता है। कारित्र और स्वभाव का सम्बन्ध न भिन्न है और न अभिन्न। वह तो अनिर्वचनीत है। सौत्रान्तिकों ने इस सिद्धान्त का उपहास करते हुए इसे देवविचेष्टित कहा है (अभिधर्मकोश, ५-५७) परन्तु संघभद्र ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है कि इस स्थिति

में फिर बुद्ध को भी उपहास का पात्र बनाना पड़ेगा क्योंकि वे लोकेत्तर हैं भी और नही भी हैं। अर्थात् वैभाषिक भेदाभेदी हैं।[१]

सौत्रान्तिकों के अनुसार भूत और भविस्यत काल का अस्तित्व नितान्त काल्पनिक एवं आधारविहीन है। उनकी दृष्टि में वर्तमान काल की सत्ता कवश्य वास्तविक कही जा सकती है। सर्वास्तिवाद में फल, विषय आदि के के कारण त्रिकाल का अस्तित्व माना गया है।[२]

आर्यदेव ने चतुःशतक में कालवाद के तर्क उपस्थित किये हैं। जिनमें प्रमुख हैं—संसार की उत्पत्ति और लय का कारण एवं वीजादि हेतु का जगत की प्रवृत्ति में फलरूप में परिणमन। इन तर्कों का उत्तर देकर उन्होंने काल के अस्तित्व का खण्डन किया है। उनका कहना है कि यदि काल को नित्य माना जाय तो अंकुरादि की उत्पत्ति सदैव होनी चाहिए। कालको फलात्मक हेतु भी नहीं माना जा सकता, अन्यथा अग्नि से दग्ध बीज में अङ्कुर (फल) की फलवत्ता प्रसक्त हो जावेगी। काल विचित्र जगत का कारण होता तो उससे नियत पूर्वावस्थावर्ती नाना रूप विकार से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए पर होती नहीं। काल की नित्यता स्वीकार करने पर हेतु भाव परिकल्पना भी व्यर्थ हो जाती है। इनके अतिरिक्त काल के प्रतिषेध में एक यह भी कारण है कि नित्य पदार्थ से नित्य पदार्थ की ही उत्पत्ति होनी चाहिए पर उससे जगत रूप अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है। अतः यह सिद्ध है कि काल का अस्तित्व नहीं है।[3]

आर्यदेव ने काल का प्रतिषेध करने के लिए एक पृथक् अध्याय लिखा है जिसका सारांश इस प्रकार है—

कालवादियोंके पूर्वपक्ष के सन्दर्भ में आर्यदेव ने कहा है कि काल का सद्भाव स्पष्टतः सिद्ध है। संसार में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, बीज आदि कारणों-के रहने पर भी कदाचित् पुष्प और अंकुर आदि की उत्पत्ति और नाश होता है। अतः काल नाम का पदार्थ सिद्ध होता है। और वह क्षण, पल, मुहूर्त आदि

---

१. बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ५७४-८

२, अध्वंकास्ते तदुक्तं द्वयात् सद्विषयात् फलात् तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः—अभिधर्म कोष, ५-३५

३. चतुःशतक, २०७-२१२

से अभिव्यक्त होता है। अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न इन तीनों कालोंमें व्यवस्थित रहता है और भाव से भिन्न हैं। अत: नित्य है। कालवादियों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए अचार्य आर्यदेव ने कहा है कि यदि काल भाव (पदार्थ) से भिन्न और ज्ञान से सिद्ध हो तो वह उत्पाद और भङ्ग का कारण होगा। परन्तु ऐसा है नहीं। भाव से भिन्न होनेके कारण उसके ग्रहण करनेका प्रसंग उपस्थित होगा।

जो तीनों काल कालके स्वभाव विशेषसे अवस्थित हैं वे भी अमूर्त होनेसे स्वरूपत: निर्णय करनेमें असमर्थ होते हैं और स्वभावत: व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं होत। घटादि द्वारा उनकी व्यवस्था करना संभव है। वे काल तो पदार्थसे भिन्न स्वरूप वाले है, वेदनादिके समान अनुभवाकार हैं और रूप, शब्द आदिके समान इन्द्रिय द्वारा नहीं जाते जाते। अतएव घटादि द्वारा ही वे·विशेष रूपसे ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार तीनों कालोंका निषेध करनेसे कालका प्रतिषेध स्पष्टत: हो जाता है। आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने इस कथन को घट के उदाहरण के माध्यम से समझाया है। उन्होंने कहा है कि—

जो अनागत घट है उसमें न वर्तमान घट है और न अतीत घट। लक्षणके भेदसे परस्परमें यह असंभव है। इस प्रकार जब अनागत घटमें वर्तमान और अतीत दोनों घट विद्यमान नहीं हैं तब वर्तमान और अतीत दोनों भी अनागत होनेके कारण अनागतमें अनागत कहलाये। जिस प्रकार धनागत वर्तमानमें अनागत होनेके कारण अनागत है उसी प्रकार वर्तमान और अतीत दोनों भी अनागत होनेके कारण अनागतमें अनागत हुए। यदि वर्तमानमें अनागतत्व होनेके कारण अनागत ने अनागतत्व से अनागत नहीं ऐसा कहा तो भी युक्त नहों। अनागतको सिद्धि होनेपर वर्तमान और अतीत दोनोंकी सिद्धि होगी। यदि अनागत ही सिद्ध नही तो अतीत और प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) की सिद्धि कैसे हो सकेगी। इसी अभिप्रायसे अनागतका अभाव प्रतिपादन करनेकी इच्छासे आचार्य ने कहा है—"यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागत: ।" जब दोनों अनागत हुए तो तीनों भी अनागत होगे ही। तोनोंके अनागतत्व होने पर अतीता और प्रत्युत्पन्न दोनों के असम्भ होने से अनागतत्वसे अनागतकी व्यवस्था कैसे संभव है। अतएव अनागत काल नहीं है।

> अनागते घटे वर्तमानोऽतीतश्च नो घट: ।
> यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागत: ॥२५१॥

यदि अतीतत्व और अनागतत्व ये दोनों स्वभाव अनागत घटमें विद्यमान है तो अतीत्व युक्त नहीं क्योंकि अनागत स्वभावके समान अनागतका सद्भाव भो

सिद्ध हो जायगा। अतएव अनागत अतीत नहीं हो सकता। अतीत के सिद्ध न होने से अनागत भी सिद्ध न हो सकेगा (२५२)।

तथा, जो अनागत भाव है वह सत् है या असत्। अनागत स्वभाव के होने पर सत् होगा नहीं, यह ऊपर कहा जा चुका है। वैसे ही अनागत भी न होगा। जिसका जो स्वभाव रहता है उसकी स्थिति तदात्मक और वर्तमान रहती है। नीलात्मकत्व के सद्भाव से ही नीम वर्तमान [विद्यमान] है, पीतात्मकत्व के कारण नहीं। उसी प्रकार अनागत भी अनागतत्वभाव से वर्तमान में ही रहता है, अनागत में नहीं। जब अनागत सिद्ध नहीं होगा तो इसी के आश्रित सिद्ध होनेवाला न वर्तमान ही है और न अतीत ही है। इस इस प्रकार तीनों कालों का सद्भाव सिद्ध नहीं होता (२५३)।

जो अतीतकाल है वह अतीत स्वरूप से अतीत है या अनतीत स्वरूप से। अतीत स्वरूप से अतीत हो नहीं सकता अन्यथा वह अतीत नहीं कहला पावेगा अतिक्रांत व्यापार का ही नाम अतीत है। जो इस समय है वह अतीत अतिक्रान्त कैसे कहा जायगा। जैसे दुग्ध भाव से अतीत दही दुग्ध नहीं हो सकता और बालभाव से अतीत युवा बाल नहीं हो सकता। इसी प्रकार अतीतकाल से उत्पन्न होनेवाला अतीत अतीत नहीं कहा जा सकता (२५४)। उक्त दोष को वारण करने के लिए यदि यह कहा जाय कि अतीतकाल उसे कहते हैं जो अतीत से अनतीत हो तो ऐसा मानने में भी अतीतकाल से उत्पन्न होनेवाला अनतीत अतीत का उलंघन नहीं करता। इस प्रकार जो अतीत के व्यापार से शून्य होगा वह अतीत कैसे कहा जा सकता है ! अतएव अतीतकाल का अस्तित्व सम्भव नहीं और जब अतीतकाल नहीं है तो उससे अनपेक्षित अनतीत (वर्तमान, भविष्यत्) भी नहीं है। इस प्रकार स्वरूपतः तीनों काल नहीं हैं।

स्यादतीतादतीतश्चेदतीतो जायते कुतः।
अतीतादनतीतश्चेदतीतो जायते कुतः ॥२५५॥

जो वैभाषिक सर्वकाल के सद्भाव को कहने के लिए सर्वास्तिवाद की ही प्रशंसा करता है उसके दृष्टिकोण के पुनर्परीक्षण के सन्दर्भ में प्रश्न है कि जिस अनागत अर्थ के अस्तित्व की कल्पना की जाती है, उसकी कल्पना उत्पन्न होने पर की जाती है अथवा अनुत्पन्न होने पर। यदि अनागत भाव भी उत्पन्न है तो वह उत्पन्न होने से वर्तमान होगा, अनागत कैसे ! यदि अनागत भाव अजात (अनुत्पन्न) है तो अनागत भी हुआ और विद्यमान भी। तब निर्वाण की तरह इसको भी अनित्य मानना पड़ेगा। (२५६)

यद्यपि अनागत अनुत्पन्न है तथापि वह असंस्कृत के समान अविनाशी है। हेतु और प्रत्ययों से अनागतीय अनागतत्व के नाश हो जाने से वर्तमानता आ जाती है। इस तरह अनागत अनित्य है (२५७)।

जो यह वर्तमान पदार्थ है वह अनित्य ही है। क्योंकि स्वभावतः अच्युत रहने से वर्तमानत्व के सम्बन्ध से वर्तमान कहा जाता है और जिसकी अनित्यता है वह वर्तमान में अभाव के कारण विद्यमान ही नहीं होता। इस प्रकार वर्तमानत्व के साथ वर्तमानत्वाभाव भी मानना पड़ेगा। परन्तु एक पदार्थ में सद्भाव और असद्भाव ये दोनों विरोधी तत्व रह नहीं सकते। इसलिए वर्तमान अतीत नहीं है, नित्य है। इसी प्रकार अतीतकाल की भी अनित्यता सम्भव नहीं। क्योंकि जो विनष्ट हो जाता है उसे अतीत कहते हैं। तब तो अतीत के अनित्य मानने पर विनष्ट का पुनः विनाश मानना पड़ेगा जो अयुक्त और निष्प्रयोजन है। इससे आश्रयाभाव और अनवस्था दोष मी आ जाते हैं। अतः वर्तमान और अतीत ये दोनों नित्य हैं। इसके अतिरिक्त उसकी तीसरी गति भी नहीं होती। यदि वर्तमान और अतीत इन दोनों से अन्य अनागत को अनित्य मानें तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि उत्पन्न हुआ वर्तमान और अतीत अनित्य है। जब वे अनित्य सिद्ध नहीं हो सके तो उत्पत्ति रहित आकाशादि की तरह अनागत की अनित्यता तो अत्यन्त असंगत होगी। आश्रयाभाव और अनवस्था दोष से विनष्ट वस्तु की पुनरुत्पत्ति संभव नहीं। अतः जैसे नित्य आकाश में अनित्य वर्तमान और अतीत की कल्पना निरर्थक है वैसे ही स्वभाववादी की काल के अतीत वर्तमान और अनागत की कल्पना भी असंगत है (२५८)।

अनागत भाव का अस्तित्व है। तन्तु में पट, कपाल में घट, बीज में अंकुर आदि अनागत भाव पहले से विद्यमान रहते हैं और वे हेतु-प्रत्यय-सामग्रियों के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। क्योंकि जो पहले से जिसमें विद्यमान नहीं रहते वे पीछे भी उत्पन्न नहीं होते। जैसे बन्ध्या स्त्री को पुत्र उत्पन्न नहीं होता। अतएव जन्म देखने से अनागत भावों का अस्तित्व ज्ञात होता है। ऐसी कल्पपना पर आर्यदेव ने कहा है कि

यः पश्चाज्जायते भावः स पूर्वं विद्यते यदि
त मिथ्या जायते पक्षस्तस्मान्नियतिवादिनाम् ॥२५६॥

उत्पत्ति से पूर्व अवस्थित जो भाव हेतु-प्रत्ययों से पीछे उत्पन्न होता है। उसका यदि उत्पत्ति से पूर्व स्वरूपतः अस्तित्व है ऐसा माना जाय तो जगत का

वर्णन करनेवाले नियतिवादियों का प्रतिनियत स्वभाव, निर्हेतुक, पुरुषकार-शून्य, उपपत्तिविरुद्ध पक्ष मिथ्या नहीं होगा अर्थात् अनागत भाव के यथार्थ मानने पर नियतिवाद पक्ष भी यथार्थ हो जायगा। यदि नियतिवाद पक्ष सत्य माना जाय तो इसमें दृष्टादृष्ट विरोध आता है। और जगत के पुरुषार्थ की भी कोई अपेक्षा नहीं रहती तथा प्रतीत्य समुत्पाद का अभाव हो जाता है। उसके अभाव होने पर खरविषाण के समान समस्त जगत अग्राह्य हो जावेगा। अतएव नियतिवाद अयुक्त है। इसलिए अतागतसद्भाववाद भी अयुक्त है (२५४)।

जिस पदार्थ का हेतु-प्रत्ययों से उत्पादन किया जाता है वह जन्म के पूर्व है ऐसा मानना युक्त नहीं। यदि उसका अस्तित्व होता तो विद्यमान (सत्) वस्तु का पुनरुत्पादन होता। परन्तु सत् का पुनरुत्पादन होता नहीं क्योंकि ऐसा मानना निष्प्रयोजक है (२६०)। यदि अनागत नहीं मानेंगे तो अनागत पदार्थों का अवलम्बन करनेवाला योगियों का प्रणिधिज्ञान भी यथार्थ न होगा। परन्तु योगियों का ज्ञान यथार्थ है क्योंकि उनकी भविष्यवाणी यथार्थ (सत्य) रहती है। असत् बन्ध्यापुत्रादि में यह संभव नहीं। अतएव अनागत यथार्थ है। ऐसी कल्पना किये जाने पर अचार्य आर्यदेव ने कहा है कि—

दृश्यतेऽनागतो भावः केनाभावो न दृश्यते।
विद्यतेऽनारातं यस्य दूरं तस्य न विद्यते (२६१)

उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था में अनागत पदार्थ नहीं है। यदि अविद्यमान पदार्थ योगियों द्वारा देखा जाता है तो बन्ध्यापुत्रादि भी देखे जाने चाहिए। परन्तु अविद्यमान पदार्थ तो योगियों द्वारा देखे जाते हैं, बन्ध्यापुत्रादि नहीं। स्वभावतः दोनों असत् हैं। उनमें एक दिखाई देता है, दूसरा नहीं, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं। जिसके मत में अनागत पदार्थ स्वरूपतः है उसके मन में वह दूर नहीं होगा। परन्तु दूर होता अवश्य है। ये दूरधर्म अतीत और अनागत है। अन्तिम धर्म है—प्रत्युत्पन्न पदार्थ। इस प्रकार अनागत धर्म उससे दूर हुआ जो अयुक्त है क्योंकि जिसके मत में अनागत भी विद्यमान ही है उसके लिए अनागत दूर नहीं हो सकता (२६१)।

जिसके लिए काय, वचन और मनका संयम है वह दानादि धर्म यदि अकृत (नित्य) ही है तो उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियमादिक श्रम व्यर्थ होंगे। उस श्रम के बिना भी धर्म को प्राप्ति संभव, होने लगेगी। अत; धर्म को नित्यता

होते हुए भी नियम से धर्म की कुछ विशेषता सम्पादन करते हैं। वही विशेष अंश पहले अविद्यमान होने से पीछे किये जाते हैं। इस प्रकार अनागतार्थवाद अयुक्त है (२६२)।

अनित्यत्ववाद और सत्कार्यवाद इन दोनों के परस्पर विरोधी होने से एक वस्तु में दोनों कैसे सम्भव हैं? इस आशंका पर अचार्य कहते हैं— "आद्यन्तौ यस्य विद्येते तल्लोकेऽनित्यमुच्यते"। अर्थात् अनित्य वह है जिसका आदि और अन्त दोनों हों। जिसके पूर्व भावान्तर नहीं वह आदि लोक है और जिसके पश्चात् भावान्तर नहीं वह अन्त लोक है, अनित्य है। जिस पदार्थ का आदि और अन्त दोनों हैं वह लोक है; अनित्य है। इसलिए अद्यन्त के सद्भाव से लोकको नित्य नहीं कहा जा सकता। और न उसका सत्कार्यवाद भी कहा जा सकता है (२६३)।

यदि अनागत नहीं है तो अनागामि क्लेश और जन्म के अभाव से विना प्रयत्न के ही मोक्ष हो जायेगा। आर्य मार्ग के फल से मुक्तों के अनागत क्लेश जन्म न होने के कारण अनागत न होगा। जैसे अनागत के बिना मुक्तों का प्रयत्न सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार इस अनागतफलाभाववाद में प्रयत्न के बिना मोक्ष प्राप्त हो जायगा। परन्तु होता नहीं। अतएव **असत्कार्यवाद** युक्त नहीं। अनागत के मानने में केवल मुक्ति-प्राप्ति में ही दोष नही आएगा प्रत्युत हमारे अहेतुक उत्पाद भी होने लगेंगे। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि लोहित वर्ण के विना लोहित वर्ण की उत्पत्ति होती हैं। यदि लोहित वर्ण के विना लोहित वर्ण की उत्पत्ति मानी जाय तो वह अहेतुक ही होगी। परन्तु अहेतुक उत्पत्ति होती नहीं। यदि ऐसी सम्भावना मानें तो अर्हत् में भी रागका प्रसंग मानना पड़ेगा। अतएव अहेतुक उत्पाद सम्भव नहीं। जब अहेतुक उत्पाद नहीं होगा तो अनागतका भी न होना अयुक्त ही है (२६४)।

सांख्य और वैभाषिक ये दोनों दर्शन सत्कार्यवादी ही हैं। सांख्य दर्शनमें जो सत् है वही है, जो असत् हैं वह नहीं ही है। असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत्का विनाश नहीं होता। असत् कारणसे, उपादान-ग्रहणसे और शक्यका शक्य-कारण आदि होनेसे सत् ही कार्य होता है। यदि असत्कार्यवाद माना जायगा तो सभी पदार्थोंसे सभी पदार्थोंकी उत्पत्ति होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं। अतएव सत् ही कार्य होता है। वैभाषिक दर्शन भी स्वभावतः उत्पन्न न होनेसे उत्पत्तिके भयसे तीनों कालोंमें सत्की ही कल्पना करता है। वैशेषिक,

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी असत्कार्यवादी हैं। सत् कार्यकी उत्पत्तिके निरोध होनेसे असत् ही कार्य उत्पन्न होते हैं ऐसा मानते हैं। अतएव सत्कार्यवादियों और असत्कार्यवादियोंमें सत्कार्यवादीके मनमें घटके लिए जो स्तम्भद्वार, कपाट आदिका बन्दर, पक्षी आदिकी रचना रूप अलंकार युक्त नहीं है। क्योंकि वह अलंकार रूप कार्य तो गृहमें सत्कार्यवादीके मनमें पहलेसे ही विद्यमान है। अन्यथा असत्कार्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

असत्कार्यवादी के मन में भी स्तम्भादि अलंकार निरर्थक होंगे। क्योंकि अलंकार रूप कार्य तो असत्कार्यवादी के मत में असत् है। जैसे असत् होने से बन्ध्यापुत्र किसी के द्वारा भी पैदा नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार गृह के लिए स्तम्भादि अलंकार को असत्कार्य वाद के भी मत में कोई पैदा नहीं कर सकता।

स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः।
सत्कार्य मेव यस्येष्टं यस्यासत्कार्यमेव च ॥२६५॥

यदि अनागत अर्थ का परिणाम वर्तमान माना जाय तो इस स्थिति में दो अवस्थायें सम्भव हैं—स्वरूप के विनाश से कल्पना की जाय अथवा स्वरूप स्थिति से। यदि स्वरूप के विनाश से परिणाम मानें तो एक नष्ट होगा और दूसरा उत्पन्न होगा। इस प्रकार परिणाम से उत्पत्ति और विनाश दोनों होंगे। स्थिति से परिणाम माना जाय तो एक द्रव्य का दूसरे धर्म में वृत्ति का उदय होने से धर्मान्तर का उद्भव होगा न कि परिणाम का। यही हमारा परिणाम है। इसी को स्पष्ट करते हैं। जैसे गोरस द्रव्य में रहने वाले धर्मान्तर दुग्धभाव की निवृत्ति और दधिभाव की उत्पत्ति परिणाम है। उसी प्रकार सत, रज, तम इन तीनों गुणों की अनागतावस्था की निवृत्ति और वर्तमान अवस्था की उत्पत्ति ही परिणाम है। परन्तु इस परिणाम के अस्तित्व की स्थापना करना सम्भव नहीं है। क्योंकि लोक को अनागत आदि तीनों गुणों के अस्तित्व का तो ज्ञान है परन्तु परिणाम का नहीं। दधि दुग्ध का विकार है ऐसा कहना सम्भव नहीं क्योंकि दुग्धावस्था में ही दुग्ध में दुग्धत्व है, दुग्धावस्था में ही वर्तमान दुग्ध दधि-भावको प्राप्त नहीं होता। यदि दुग्ध ही दधि भाव में हो जाता तो दुग्ध ही दधि हो जायगा। परन्तु यह उचित नहीं। अतएव यह दुग्ध का दधिभाव नहीं है। जब दुग्ध का दधिभाव होता तो अन्य किसी का भी हो जाता। अतएव परिणाम नहीं है। दधि में दुग्धावस्था से भिन्न गोरस द्रव्य मात्र की कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए आचार्य ने कहा है तथापि वर्तमानोऽस्ति कल्पयन्त्यविचक्षणा (२६६)।

संसार में एक क्षण में उत्पत्ति और भङ्ग वाले पदार्थों की किसी भी प्रकार की स्थिति नहीं है। स्थिति के अभाव से काल का हेतुभाव नहीं है। इसलिए पदार्थों के नित्य न होने से भाव रूप संसार की स्थिति सम्भव नहीं। यदि स्थिति होती तो फिर जीर्णता नहीं आती। क्योंकि जरा जीर्णता स्थिति के विरुद्ध होती है। अन्त की जीर्णता को हटाने के लिए ही स्थिति का अभाव समझना चाहिए (२६७)।

यदि भाव की स्थिति होती तो भाव क्रम से अनेक विज्ञानों द्वारा ज्ञेय होते इसकी सम्भावना भी नहीं। क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय दोनों क्षणिक होते हैं। जो एक से ग्रहण (जाना) किया जाय वह दूसरे से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतएव भाव स्थितिमान् नहीं है। स्थिति के न होने से न भाव ही सिद्ध है और न काल ही (२६८)।

यदि पदार्थ से अनित्यता पृथक् ही है तो अनित्यत्व के लक्षण-भेद से पदार्थ नित्य हो जाता है। परन्तु भावपदार्थ नित्य नहीं है। अतएव अनित्यत्व का अन्यत्व भाव युक्तिसंगत नहीं। यदि अनित्यत्व भाव से एक है तो भी वह भाव एकत्व से पृथक् रह नहीं सकता और जो अनित्यत्व है, वह भाव में ही रहता है। इसलिए अनित्यत्वात्मक होने के कारण पदार्थ की स्थिति सदैव संभव नहीं। इसलिए भाव की स्थिति नहो है। स्थिति के अभाव से अनित्यत्व नहीं। स्थिति और अनित्यत्व इन दोनों के अभाव से पदार्थ नहीं है और पदार्थ के न रहने से काल भी न नहीं होगा (२७०)।

यदि स्थितिकाल में अनित्यता दुर्बल है तो धर्मकी समानता होने पर वह स्थिति किसके द्वारा नष्ट की जायगी? उसके बाद बलवत्ता कैसे आयगी। अर्थात् नहीं आ सकती। अतएव स्थिति पहले ही अथवा पश्चात् ही बलवान नहीं होगी। इसलिए पदार्थ नित्य अथवा स्थितिहीन होगा। परन्तु यह युक्त नहीं। अतएव भाव की स्थिति नहीं है (२७१)।

यदि अनित्यता दुर्बल नहीं होती, बलवती होती तो सभी पदार्थों में रहती। यद वह पदार्थों के एकांश में व्याप्त होकर रहे तो सभी में भी नहीं रहेगी। जब सभी पदार्थों में वह अनित्यता नहीं रहेगी तो सभी पदार्थ अनित्य भी न होंगे। जहाँ स्थिति बलवती होगी वहाँ कोई अंश नित्य होगा और जहाँ अनित्यता बलवती होगी वहाँ कोई अंश अनित्य होगा। इस प्रकार न सभी अनित्य होंगे और न सभी नित्य होंगे (२७२)।

यदि अनित्यता लक्ष्य के साथ नित्य रूप से सम्बद्ध है तो स्थिति नित्य नहीं होगी क्योंकि लक्ष्य और लक्षण व्यभिचरित नहीं होते। यदि अनित्यता नित्यता नित्य रूप से सम्बद्ध नहीं है तो स्थिति नित्य होगी क्योंकि अनित्यत्व का वहाँ अनुबन्धन हो जाता है। यदि स्थिति की नित्यता की रक्षा के लिए अनित्यता को लक्ष्य के साथ उत्पन्न न मानकर पश्चात् काल में माने तो भाव पहले नित्य होकर पश्चात् अनित्य होगा। इस प्रकार एक ही भाव को नित्य और अनित्य दोनों मानना पड़ेगा, परन्तु यह युक्त नहीं (२७३)।

यदि उस पदार्थ का अस्तित्व है तो उसकी अनित्यता असत्य होगी और यदि वह नष्ट होता है तो उसका अस्तित्व असत्य होगा। अर्थात् स्थिति को मानना युक्त नहीं। और उसकी स्थिति के न होने से पदार्थ भी नहीं होगा। पदार्थ के न होने से उसके आश्रित रहनेवाला काल भी स्वभावतः सिद्ध नहीं होगा (२७४)। काल अतीत संस्कारों की स्मृति का कारण है यह भी ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान में स्थित पदार्थ का जो स्वरूप साक्षात् करने वाले पुरुष के वर्तमान ज्ञान द्वारा देखा गया है वह पुनः वर्तमान ज्ञान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि एक पदार्थ का दो विज्ञानों द्वारा ज्ञेय होना पहले ही निषिद्ध कर दिया गया है। इसी न्याय से देखा हुआ पदार्थ पुनः नहीं देखा जाता। अतएव तद्विषयक स्मृति भी पुनः नहीं होती।

इसलिए स्मृति का आलम्बन अतीत भाव हुआ न कि वर्तमान। वह अतीत भाव यदि स्वरूपतः होता तो वह स्मृति विद्यमान भाव का आलम्बन करने के कारण स्वरूपतः सिद्ध होती। परन्तु जब वह अतीत भाव स्वरूपतः नहीं है तब उसका आलम्बन करनेवाली स्मृति भी नहीं है। अतः वह स्मृति मिथ्या है। मिथ्या इस स्वभाव से अभाव और प्रतीत्यसमुत्पाद में कोई अन्तर नहीं। भाव और अभाव दोनों पदार्थ मिथ्या नहीं हैं। अतीत पदार्थ भी सर्वथा है नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका स्मरण होता है और फल भी देखा जाता है। स्वरूप से होने पर भी वह नहीं है। नित्यत्व का प्रसंग होने पर वस्तुग्रहण का भी प्रसंग उपस्थित होगा। उस प्रकार के भाव से स्मृति भी वैसी ही होगी। अतः वह स्मृति भी मिथ्या है उसी तरह जिस तर स्वप्नावस्था में देखे गये अनुभव विषयक स्वप्नों की स्मृति जाग्रत अवस्था में मिथ्या होती है।

न दृष्टो दृश्यते भावश्चित्तं न जायते पुनः।
तेन मिथ्या स्मृतिर्मिथ्यार्थोऽस्या मिथ्यैव जायते (२७५)।

दृष्टिप्रतिषेध—सभी पदार्थ प्रत्यक्षज्ञानगम्य नहीं होते। कुछ (परोक्ष पदार्थ) अनुमानगम्य भी होते हैं। स्वभावशून्यता के विषय में दृष्टान्त के होने से अनुमान भी कर सकते है: यहाँ सर्वत्याग का उपाय सर्वधर्म स्वभाव शून्यता है। उस सर्वधर्मस्वभावशून्यताको कोई विपरीप नहीं कर सकता। और यह सर्वधर्मस्वभावशून्यता सूक्ष्म भी है। क्योंकि सभी के समीप सर्वदा होते हुए भी वह सभी के समक्ष नहीं है। युक्तियों द्वारा सर्वधर्मस्वभावता का खण्डन करके नि:स्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। यही निश्चय करना चाहिए। निश्चय करने में दो विकल्प उठ सकते हैं—यह ऐसा ही है या अन्यथा। यदि अनिश्चय का कोई कारण है तो उसे उपस्थित कीजिए। यदि नहीं हैं तो उक्त प्रकार से खण्डन हो ही चुका। और थोड़ा भी अनिश्चय का कारण कहना संभव नहीं, ऐसा इसी दृष्टान्त से सिद्ध है। अत: यदि बुद्धोक्त उपदेशों की सत्यता में कुछ सन्देह है तो शून्यता के उपदेश की सत्यता से ही अन्य उपदेशों की भी सत्यता का निश्चय कर लेना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों में कहीं भी सन्देह नहीं रहता (२८०)।

शास्त्रसंकेत को न जानने वाले गोपालक आदि सैकड़ों बार उपदिष्ट होने पर भी शून्यता के ज्ञान में उनका प्रवेश नहीं हुआ। इसीलिए उन्हें भय होता है। शून्यता का ज्ञान होने पर ही पण्डितों का भय सर्वथा दूर हो जाता है। क्योंकि भय के कारण अहंकार और ममता के अभिनिवेश शून्यता के ज्ञान से उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह रस्सी में सर्पका विपरीत ज्ञान होने के बाद रस्सी के देखने पर सर्प का भय दूर हो जाता है। परन्तु जो अल्पज्ञानी है उसे नियम से ही होता है ॥२८३॥

संसार में प्रवृत्ति कराने में अनुकूल धर्म प्रवर्तक कहलाता है और अज्ञानियों का अभ्यास इसी प्रवर्तक धर्म में होता है। पदार्थों की स्वभावशून्यता रूप धर्म तो निवर्तक हैं क्योंकि वह संसार से निवृत्ति कराने में अनुकूल होता है। उस स्वभावशून्यता के अभ्यास का बाधक आत्मस्नेह है। उस आत्मस्नेह में चित्त लगा रहने से साधारण जन निवर्तक शून्यता धर्म से अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। और स्वभावशून्यता को प्रपात की तरह मानते हुए उसे यथार्थ रूप से समझने का प्रयत्न ही नहीं करते ॥२८४॥

इस प्रकार अज्ञानान्धकार से अच्छादित पदार्थ तत्व में एवं अप्राप्य अन्तवाले संसार रूपी महावन में प्रनष्ट सन्मार्ग वाले किसी व्यक्ति की भक्ति यदि स्वभावशून्यता में हो जाती है। तो उस भक्ति के अनुकूल कारणों में वृद्धि हो

जाती है। और उससे उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता शून्यतासिद्धान्त के उपदेश में हो जाती है। ऐसे ही व्यक्तियों को उपदेश दिया जाना चाहिए। परन्तु जो किसी ईर्ष्या, मात्सर्य, भय श्रोता के द्वेष आदि मोह के कारण तत्वधर्म (स्वभावशून्यता) के पात्रजन के उपदेश सुनने में विघ्न उपस्थित करता है उसे देव और मनुष्यात्मक सुगति भी नहीं मिलती क्योंकि वह निश्चित रूप से दुर्गति में जाता है तो फिर मोक्ष-प्राप्ति की बात तो कोसों दूर रही ॥२८५॥

इस प्रकार दूसरे का अत्यन्त उपकार करने वाले के सन्दर्भ में कहा गया है कि शील से पतित व्यक्ति अच्छा है परन्तु दर्शन (स्वभावशून्यता रूप बौद्ध दर्शन) से पतित व्यक्ति अच्छा नहीं। शील से स्वर्ग प्रात होता है। परन्तु बौद्धदर्शन से निर्वाणपद प्राप्त होता है।

शीलादपि परं स्रंसो न तु दृष्टेः कथञ्चन।
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्ट्या याति परं पदम् ॥ २८६ ॥

इस तत्वदर्शन के रहस्य को जानने के लिए विद्वान को प्रयत्न करना चाहिए। बौद्ध दर्शन के विघात के भय से सर्वत्र पात्र विशेष को निश्चित किये बिना अपात्रों में इस नैरात्म्यदर्शन का उपदेश नहीं देना चाहिए। क्योंकि अपात्रों में दिया गया उपदेश निरर्थक ही होता है।

जो अद्वितीय मोक्षद्वार है वह नैरात्म्य है। कुत्सित मतावलम्बियों को जो भयंकर है वह नैरात्म्य है। समस्त बुद्धोके ज्ञान का जो विषय है वह नैरात्म्य है। आत्मा नाम है स्वभाव का। उस आत्माके अभावको नैरात्म्य कहते हैं। वह नैरात्म्य धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य के भेदसे दो प्रकार का है। यहाँ जो पुद्गल नैरात्म्य है वह स्कन्धों से जाना जाता है। और वह स्कन्ध में पांच प्रकार से खोजते हुए उत्पन्न नहीं होता। परन्तु धर्मस्कन्ध, आयतन धातु सूचक पदार्थ हैं। इन धर्मो का और पुद्गल का अपने हेतु और प्रत्यय के आधीन जन्म होता है और वे उपादानों से जाने जाते हैं। इस लिए उनका स्वायत्त व अपरायत्त अपना आवृतक (नित्य) रूप नहीं है। इस प्रकार पुद्गल की और धर्मों की निःस्वभावता व्यवस्थित की गई है। जिस पदार्थ की स्वरूपतः सिद्धि नहीं है उसकी अन्य किस आत्मा से सिद्धि होगी? अतएव सर्वथा असिद्ध लक्षण स्वरूप हो पदार्थ मूर्ख व्यक्ति के विसंवादक आत्मा द्वारा जाने जाते हैं और इसी कारण अज्ञानी उनसे ममत्व करने लगते है। सम्यग्दर्शनों द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वभाव को जानने के बाद धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य दोनों का ममत्व छूट जाता है और यही निर्वाण प्राप्ति का कारण है। नैरात्म्य का ज्ञान होने पर

समस्त पदार्थों में ममत्व का त्याग हो जाता है और फिर कहीं पर कोई प्रार्थना की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए नैरात्म्य एक अद्वितीय मोक्ष-द्वार है। यह नैरात्म्यदर्शन कुत्सित मतावलम्बियों को भयङ्कर है। क्योंकि नैरात्म्य-दर्शन में वस्तुका सर्वथा अभाव माना जाता है जो अन्य मत वालों द्वारा निर्धारित वस्तु के स्वरूप से पूर्णतः विपरीत है। इसीलिए उन्हें नैरात्म्य दर्शन भयंकर प्रतीत होता है। समस्त बुद्धों के ज्ञानका विषय नैरात्म्य है समस्त बुद्धों में श्रावक बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक्सम्बुद्ध तीनों सम्मिलित है। ज्ञानविशेष का विषय रहने से इसे समस्त बुद्धों का विषय कहा गया है। आर्यदेव ने नैरात्म्यधर्म की महत्ता को व्यक्त करते हुये कहा है कि जो इस धर्म को जानता है उसकी अन्य धर्म में प्रीति नहीं होती। इसलिए यह नैरात्म्यधर्म आत्मा के नाश के द्वार के समान देखा जाता है (२९१)

सद्धर्मतत्वदर्शन रूपी अमृतरसास्वाद से अन्य दर्शनों का रस असन्तोषकर हो जाता है। अतः वह अमृतरस अन्य सभी दर्शनों मे नहीं मिलता। इसलिए आचार्य ने आस्वादित सद्धर्मामृतरस के समान बुद्धिमान व्यक्ति के मनको सन्तोषकारक वचन कहा है—"धर्मोऽयमात्मनस्तेन नाशद्वारमिवेक्ष्यते।" यह नैरात्म्यधर्म आत्मा के नाशद्वार के समान देखा जाता है (२९२)

बहुत से कुशल मनुष्य भी अन्य तीर्थिकों के मतों का आलम्बन करते हुए दिखाई देते हैं, भगवान बुद्ध का नहीं। इसका मुख्य कारण है—बौद्ध दर्शन की अत्यन्त सूक्ष्मता। बौद्धधर्म की सूक्ष्मता और अन्य धर्मो की अयुक्तता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है—शाक्य धर्म चित्त से, अचेलक धर्म नेत्र से और ब्राह्मण धर्म कर्णेन्द्रिय से जाना जाता है। इनमें भगवान बुद्ध का धर्म सूक्ष्म है—

शाक्यैरचेलकैर्विप्रैस्त्रिभिश्चित्तेन चक्षुषा।
कर्णेन गृह्यते धर्मः सूक्ष्मस्तत्समयो मुनिः॥ २९४॥

ब्राह्मणों का सार पाठ है। वही उनके कर्ण का विषय है। अचेलक पवित्राचार रहित होने के कारण बढ़ती हुई शरीर की दुर्गन्ध और पङ्क से युक्त तथा वस्त्र, स्नान और शाटिका से रहित होने से शीत, धूप, वायु, सूर्य, वर्षा केशलुञ्चनादि दुःखों के कारण भूत होते हैं। उनका आचार और धर्म चक्षु से देखा जाता है। परन्तु शाक्य (बौद्ध) समस्त पदार्थो को निःस्वभावत्व रूपी सूर्य से उद्भासित चित्त की सन्तान वाले, समस्त असद् दर्शनों को भयभीत करने वाले गहन अज्ञान तिमिर को दूर करने वाले और संस्कृत, पदार्थ को स्वप्न, इन्द्रजाल,

माया नारी और प्रतिबिम्ब निर्माण के समान देखते हुए समस्त क्लेशमल को दूर करने से निर्मल चित्त वाले होते हैं। इस कारण उनकी कुशल भावना मनोविज्ञान से जानी जाना चाहिए। इस प्रकार भगवान बुद्ध का धर्म सूक्ष्म है। इस धर्म की सूक्ष्मता के ही कारण पुण्य की भावना होते हुए भी लोग बुद्ध-धर्म में प्रवृत्त नहीं होते। बाह्य उपासना का विधान बौद्धधर्म में नहीं है।

ब्राह्मण मन्त्र, जप, दान, होम मङ्गल, प्रायश्चित्त आदि कार्यों से अन्य लोगों से लाभ सत्कार आदि की इच्छा से बाह्य धर्म चाहते हैं। उनका यह बाह्य प्रधान धर्म मोक्षेच्छुकों को निषिद्ध है क्योंकि वह संसार के अननुकूल (प्रतिकूल) है। इसी प्रकार नग्नकों का धर्म भी चित्त को जड़ की तरह बना देने के कारण जड़ धर्म कहा गया है।

ब्राह्मणानां यथा धर्मः प्रायेण बाह्य उच्यते।
नग्नकानां तथा धर्मः प्रायेण जड़ उच्यते ॥ २९५ ॥

बाह्यधर्म होने के कारण ही ब्राह्मणों और नग्नकों में लोगों की श्रद्धा होती है, यह प्रतिपादन करते हुए आचार्य आर्यदेव कहते हैं कि जैसे विद्याध्ययन मात्र से ब्राह्मणों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। वैसे ही क्लेशादि ग्रहण से नग्नों (जैनों) पर लोग कृपा करने लगते हैं (२९६)। इन नग्नकों (जैनों) को शरीर, क्लेश और दुःखों का अनुभव धर्म के निमित्त होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि उनका आचरण दुश्चरित का फल है। जैसे अचेलकों का चरित्र दुःखानुभव पूर्वक नरक दुःखानुभव के समान कर्म का परिणाम होने के कारण धर्म नहीं है वैसे ही ब्राह्मणों का जन्म भी पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। अतएव वह भी धर्म नहीं कहला सकता ॥ २२ ॥

यदि कर्म विपाक से चक्षु आदि के समान दुःख और जन्म धर्म नहीं हैं तो धम क्या है? आर्यदेव ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने संक्षेप रूप से अहिंसा को धर्म कहा है और केवल स्वभावशून्यता को ही निर्वाण कहा है। यही दोनों धर्म हैं। किसी प्राणी के अपकार की चिन्ता और अपकार के लिए किये गये शारीरिक और वाचिक कर्म हिंसा कहलाती है। उसके विपरीत अहिंसा है। दश कुशल कर्म ही उसके पथ हैं। थोड़ा भी परोपकार अहिंसा के अन्तर्गत आ जाता है। तथागतों ने संक्षेपतः धर्म और अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। जो स्वभावशून्यता कही गई है उसे तथागतों ने निर्वाण रूप से वर्णित किया है। अहिंसा से स्वर्ग प्राप्ति होती है और शून्यता से निर्वाण मिलता है। इसलिए 'केवलं तदिहोभयम्' कहा है। तथागत द्वारा प्रतिपादित दोनों धर्म इसी

में परिशुद्धि (केवलं) को प्राप्त होते है, अन्यत्र नहीं। इसी में स्व-पर की स्वर्ग और मोक्ष की कल्याण सिद्धि है।

धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम् ॥ २९८ ॥

बौद्धदर्शन की इतनी अधिक उपयोगिता समझते हुए भी बाह्य धर्मावलम्बी इन दोनों धर्मों को क्यों स्वीकार नहीं करते ? इसका वास्तविक कारण आर्य-देव की दृष्टि में स्वपक्षप्रेम है। अपने पक्ष के प्रति अनुराग अनादि संसार से चला आया है। वह अपने जन्मस्थान के समान छोड़ा नहीं जा सकता। इसी कारण से अज्ञानी अपने दर्शन पक्ष के राग को छोड़ नहीं पाते। फलतः तथागत धर्म (बौद्धधर्म) में वे प्रवृत्त नहीं होते। परन्तु पण्डितगण अपनी जन्मभूमि को भी दुःखों का कारण जानकर, उससे आशा छोड़कर वैभवशाली अन्य देशों का आश्रय लेते हैं। उसी प्रकार उन्हें अपने पक्ष को छोड़कर गुणवान बौद्धधर्म का ही आश्रय अवश्य लेना चाहिए (२९९)। इसलिए कहा है—

ग्राह्यतोऽन्यतोऽपि युक्तार्थः श्रेयस्कामेन धीमता।
ऊर्ध्वमर्को नेत्रवतां सर्वसाधारणो ननु ॥ ३०० ॥

अर्थात् कल्याण चाहने वाले बुद्धिमान को उपयुक्त पदार्थ जहाँ कहीं भी मिले ग्रहण करना चाहिए। जैसे सूर्य नेत्रवान प्राणियों के लिए है और सर्व साधारण के लिए भी ॥ २५ ॥

५. इन्द्रियार्थ-प्रतिषेध

चक्षुःसन्निकर्षत्व—चार महाभूतों और चार उत्पदानभूतों से उत्पन्न होने वाला घट चक्षु द्वारा सम्पूर्णतः दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण का भी यहाँ निषेध किया गया है। यह वस्तु सुगन्धित है, इस तरह नासिका द्वारा ज्ञातव्य जातिपुष्प, पद्म कमल, चन्दनादिक सभी पदार्थ नासिका इन्द्रिय के विषयभूत हैं, क्योंकि रूपादि देखे विना कोठरी में बन्द उसकी गन्धमात्र ग्रहण की जा सकती है। इसी प्रकार यह पदार्थ मीठा है, इस तरह के शक्कर, नमक, नीम आदि सभी पदार्थ रसना-इन्द्रिय के विषयभूत हैं। यह कोमल हैं, इस तरह के लकड़ी, कम्बल, धूल, पाषाण आदिक सभी पदार्थ स्पर्श-नेन्द्रिय के विषय हैं। वे सभी पदार्थ चारो महाभूत और चार उपादानभूत, कुल मिलाकर आठ द्रव्यों से बनते हैं, इसलिए एक एक इन्द्रिय द्वारा उनका एक एक विषय ही ग्रहण किया जाता है, सभी एक साथ नहीं। अतएव जातिपुष्प,

शक्कर, लकड़ी, कम्बल आदि आत्मा या स्वयं के प्रत्यक्ष हैं, ऐसा कौन तत्वज्ञानी कहेगा ? (३०२) यदि रूप मात्र के देखने से सम्पूर्ण अदृष्ट घट देखा जा सकता है तो अदृष्ट घट से दृष्ट रूप क्या अदृष्ट नहीं हो सकता ? आठ द्रव्यों का उपादान स्वरूप होने पर भी घट विषय में यदि एक द्रव्य रूप देखने से सम्पूर्ण (घट) को देखे जाने की कल्पना की जा सकती है तो एक रूप में अवस्थित वह रूप अवशिष्ट सात द्रव्यों के द्वारा क्या अदृष्ट नहीं कहा जा सकता। इसलिये रूप का ही नहीं, घट का भी प्रत्यक्षत्व नहीं होता (३०३)। क्योंकि उस रूपका पर, अपर और मध्यम अंश होता है। अनीरिसत गन्धादि से सम्बन्धित केवल रूप का प्रत्यक्षत्व उसके पर, अपर और मध्यम अंश के देखने मात्र से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन पर, अपर और मध्यम अंशों के भी पर, अपर और मध्यम अंश होंगे। फिर उनके भी अन्य अंश होंगे, और उन अंशों के भी अन्य अंश होंगे। इस प्रकार रूप परमाणु के अन्तिम भाग तक रहेगा (३०४)। यदि आप रूप मात्र के देखने से घट का प्रत्यक्षत्व मान बैठेंगे तो अणु का भी उसके पहले, पीछे और दिगंश भेद से तथा पर, अपर और मध्यम अंश भेद से अंश मानना पड़ेगा। पर अणु के अंश माने नहीं जाते। यदि पहले, पीछे के अंश भेद से अणु अंशवान माना जाय तो घट के समान उसकी भी परमाणुत्व हानि हो जायगी अर्थात् अणु को फिर अणु नहीं कहा जा सकेगा। अतएव घटका प्रत्यक्षत्व सम्भव नहीं है। द्रव्याष्टक के साथ में निश्चित रूप से रहने वाले चतुर्महाभूत से निर्मुक्त रूप उपलब्ध नहीं होता। रूपायतन से निर्मुक्त रूप हेतु नहीं होता। रूपायतन चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण है परन्तु रूपहेतु शरीरेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। इसलिए यदि 'रूप हेतु है' यह किसी स्वरूप से सिद्ध होता है तो रूप भी स्वरूपतः सिद्ध हो जायगा। रूपहेतु का रूपादि सिद्ध होने पर उसका भेद होना भी संभव नहीं। इसलिए रूपहेतु के अभाव होने पर निर्हेतुक रूप भी सिद्ध नहीं होता। यदि अभेदरूप में अवस्थित होने के कारण रूप हेतु के रूप का होना माना जाय तो भी संभव नहीं क्योकि ऐसा मानने पर रूपहेतु और उसका फल दोनों का ग्रहण चक्षु इन्द्रिय द्वारा होना चाहिए। पर यह संभव नहीं, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय और लक्षण भिन्न होते हैं (३०८)। यदि द्रष्टव्यत्व प्रयोजन निरर्थक है तो यहाँ द्रष्ट पदार्थ को देखकर उसके द्रष्टव्य स्वरूप की कल्पना की जाती है या अदृष्टव्य स्वरूप की। यदि द्रष्टव्य स्वरूप की कल्पना की जाती है तो उस कल्पना से लाभ क्या ? जिस दर्शन रूप प्रयोजन से वह कल्पना की जाती है उसके बिना भी उसका सद्भाव है ही तब फिर कल्पना का प्रयोजन क्या ? यदि अद्रष्टव्यभूत स्वरूप की कल्पना की जाती है, तो वह भी युक्त नहीं।

क्योंकि द्रष्टव्यत्व प्रसंग से उत्पन्न होने वाले द्रष्टव्यत्व स्वरूप के साथ इस अद्रष्टव्यत्व स्वरूप का विरोध होता है और यह विरोध होने से पदार्थ का द्रष्टव्यत्व बन नहीं सकता। अतएव जिस तरह द्रष्टव्य और अद्रष्टव्य घट का सर्वथा द्रष्टव्यत्व हो जाना युक्त नहीं और जाति की सम्भावना समाप्त हो जाती है, उसी तरह अद्दष्टव्यभूत (असद्रूप) घट की कल्पना करना ठीक नहीं है (३१०)। रूपादिक अर्थों को तभी प्रत्यक्ष माना जा सकता है जब उनमें इन्द्रियों को जानने की शक्ति हो। परन्तु यह शक्ति उनमें नहीं है। क्योंकि चक्षुरादिक पाँचों इन्द्रियां सामान्यतः भौतिक मानी जाती हैं। और उनका कार्य विषय भेद से पृथक् है। जैसे चक्षु से रूप ही देखा जा सकता है, शब्द नहीं सुना जा सकता। कान से भी शब्द सुना जा सकता है, रूप नहीं देखा जा सकता है, अतएव आर्यदेव ने कहा है उपपत्ति विरुद्ध कार्य होने से चक्षुरादिक इन्द्रियों की स्वरूप कल्पना कैसे की जा सकती हैं? भौतिकत्व के समान होने पर भी विषय ग्रहण भेद मानना ठीक नहीं। चक्षुरादिक इन्द्रियों का सद्भाव विषयग्रहण से अनुमानित होता है। इसलिए इन्द्रियों का सद्भाव होने से विषयों का प्रत्यक्षत्व कहना ठीक नही। यदि इस तरह से चक्षुरादिक इन्द्रियां न हों तो इन इन्द्रियों की कर्मविपाक स्वरूप की व्यवस्था कैसे हो? क्या हम लोगों के द्वारा इन इन्द्रियों का विपाकस्वरूप रोका जा सकता है?

भौतिकमक्षि कर्णश्च दृश्यतेऽक्ष्णा परेण न।
नूनं कर्मविपाकं तदचिन्त्यमुक्तवान्मुनि॥ चतुःशतक ३११।

दर्शन से पहले चक्षुर्विज्ञान नहीं होता क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के दर्शनाधिपति प्रत्यय का अभाव होता है। यदि दर्शन के बाद वह ज्ञान माना जाय तो ज्ञान निरर्थक हो जायगा। यदि ज्ञान के बिना ही चक्षु से पदार्थ का दर्शन होने लगे तो विज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ होगा। ज्ञान और दर्शन दोनों का एक साथ उद्भव होता है, इस तरह की तीसरी कल्पना करना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार के दर्शन से दर्शन क्रिया निरर्थक हो जायगी। विज्ञान और दर्शन के एक साथ होने पर जिस दर्शन के साथ विज्ञान समान काल में होता है, उस दर्शन के अधीन वह विज्ञान होता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं। एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के बायें, दायें सींग एक दूसरे के अधीन माने जायँ, यह सम्भव नहीं। उसी तरह दर्शन के साथ उत्पन्न होने वाला विज्ञान दर्शन के अधीन नही होता। अतएव दर्शन निरर्थक ही है। इस प्रकार जब विज्ञान का होना सम्भव नही तो उसके होने से चक्षुरादिक इन्द्रियों का सद्भाव कैसे सम्भव है? उनका सद्भाव नहीं हो सकता (३१२)। यदि चक्षु प्राप्तकारी (सन्निकर्ष)

होकर विषय को जानना है तो पलक मात्र गिराने के भीतर चन्द्र तारे आदि पदार्थों को नहीं ग्रहण किया जा सकता। गतिमान् के अर्थ देश का उपग्रहण और समान काल में उत्पन्न होने वाले विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) विषय का ग्रहण ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ गति काल की भिन्नता है। पलक मात्र गिराने से समीपवर्ती पदार्थ के समान विदूरवर्ती पदार्थ भी देखे जाने चाहिए, ऐसा मानना अयुक्त है। यदि चक्षु प्राप्तकारी होता तो अत्यन्त अभ्यास करने पर भी आखों मे लगा हुआ काजल दिख जाना चाहिए, पर यह सम्भव नहीं। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नहीं (३१३)। यदि चक्षु जाकर रूप को देखता है तो क्या देखकर उस स्थान तक जाता है या बिना देखकर ? यदि चक्षु रूप को देखकर उस रूप के स्थान पर जाता है तो गये हुए उस चक्षु के गमन से क्या लाभ ? विषय (पदार्थ) को देखने के लिए चक्षु का गमन हुआ था और वह विषय पहले ही पूर्व स्थान से देख लिया गया है तब उस गमन से कोई प्रयोजन नहीं। यदि बिना देखे ही चक्षु गमन करता है तो नियम से द्रष्ट विषय का दर्शन नहीं प्राप्त होता। अन्धा भी बिना देखकर इष्ट स्थान पर जाता है। उसे अद्रष्टव्य पदार्थ का दर्शन निश्चित रूप से नहीं होता (३१४)।

पश्येच्चक्षुश्चिराद्दूरे गतिमद्यदि तद्भवेत्।
अत्यभ्यासे च दूरं च रूपं व्यक्तं न तच्च किम् ॥ ३१३ ॥

गतेन न गुणः कश्चिद्रूपं दृष्ट्वाक्षि याति चेत्।
द्रष्टव्यं नियमेनेष्टमिति वा जायते वृथा ॥ ३१४ ॥

जो चक्षु, श्रोत्र (कान) और मन को अप्राप्तविषयी मानते हैं, उनके प्रति आर्यदेव कहते हैं कि प्राप्तकारिता मात्र प्रतिषेधपरक होने से आगम का कोई विरोध नहीं। जहाँ कही विधि की प्रधानता होती है, उसका विरोध नहीं होता। जहाँ कहीं प्रतिषेध की प्रधानता होती है, वहाँ विरोध नहीं होता। इसलिए यहां पर विधि के असम्भव होने पर प्राप्तकारिता प्रतिषेध मात्र से अप्राप्तविषयपने की व्यवस्था की जाती है। विधिमुख से तो अप्राप्तविषय में कल्पना करने वाला चक्षु यहीं स्थित होकर सम्पूर्ण जगत को देख ले। जिसकी गति नहीं, उसके लिए दूर से क्या मतलब ? इससे समीपवर्ती पदार्थ भी गमन किए बिना ही द्रष्टव्य है और दूरवर्ती पदार्थ भी। इस प्रकार से दूर होने पर भी कोई विशेषता नहीं। जब गमन किये विना ही देख लिया जाता है तो समीपवर्ती के समान दूरवर्ती पदार्थ भी देख लेना चाहिए। आवृत (ढके हुए) पदार्थ पर जाने से गमन का प्रतिबन्धक होने के कारण आवृत पदार्थ नहीं देखा जाता, यह ठीक

है। पर जब बिना गये ही पदार्थ देखा जा सकता है तो गमन का प्रतिबन्ध न होनेपर अनावृत के समान आवृत पदार्थ का भी दर्शन हो जाना चाहिए (३·५)। जैसा चम्पक, मल्लिकादि फूलों में सुगन्धि पहले उन्हीं में रहती है, बाद में उनके सम्पर्क से तेलादि में वह सुगन्धि पहुँचती है। जैसे अग्निमें उष्णता स्वतः अवस्थित है, उसके सम्पर्क से बाद में दूसरे में पहुँचती हे। इसी प्रकार यदि चक्षु का देखना ही स्वभाव है तो उसका स्वयं में देखना पहले होना चाहिए। फिर चक्षु का ग्रहण चक्षु से ही क्यों नहीं होता ? पदार्थों के स्वभाव का मूलतः स्वयं मे रहने से चक्षु का ही ग्रहण हो जाना न्यायसंगत हैं, परन्तु चक्षु अपने आप को नहीं देखता, तब फिर पत्थर आदि के समान दूसरे पदार्थ का भी दर्शन होना इसे सभव नहीं है (३१६)। चक्षु का विज्ञान नहीं होता क्योंकि वह (चक्षु) पदार्थको जानता नहीं। जानता इसलिए नहीं, कि उसका जानना स्वभाव नहीं। क्योंकि चक्षु भौतिक है। उसके जड़ होने से पदार्थ के जानने की संभावना ही नहीं होती। इस प्रकार से चक्षु का ज्ञान नहीं। और न विज्ञान का दर्शन होता है, क्योंकि विज्ञान का काम जानना है न कि देखना। यदि विज्ञान का काम देखना हो तो विज्ञान का सद्भाव रहने से उसका भी रूपदर्शन होना चाहिए। पर होता नहीं है। रूप का न विज्ञान होता है और न दर्शन होता है। विज्ञान इसलिए नहीं होता कि रूप का स्वरूप विज्ञान नहीं है। दर्शन इसलिए नहीं होता कि उसके रूप को देखा नहीं जा सकता। और जब ये परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं तो उसकी सामग्री होने पर भी रूप नहीं देखा जाता। पदार्थ देखने के कारण स्वरूप आंखों के न होने से जिस तरह अंधा व्यक्ति पदार्थ नहीं देख पाता उसी तरह इन्द्रिय रूप और विज्ञान परस्पर मे विकल होने से पदार्थ का देखा जाना नहीं बनता। इस प्रकार जब पदार्थ देखा नहीं जाता तो कौन तत्त्व-ज्ञानी यह कहेगा कि पदार्थ देखा जाता है ? अर्थात् कोई नहीं (३१७)।

जैसे तत्वज्ञानी रूप नहीं देखते उसी तरह शब्द भी नहीं सुनते। रुपदर्शन के समान शब्दश्रवण भी असम्भव है। यदि शब्द सुना जाता है तो वह कान को (श्रवणदेशको) स्पर्श कर सुना जाता है या बिना स्पर्श किये ही ? यदि स्पर्शकर (सम्प्राप्त) सुना जाता है तो वह कान के पास जाकर शब्द करता है या नहीं। यदि शब्द करता है तो वक्ता होने से देवदत्त के समान यह शब्द भी नहीं होता। यदि न बोलते हुए जाता है तो निःशब्द होने के कारण 'यह शब्द है' ऐसा विश्वास किसे होगा। शब्द का जब ग्रहण नहीं होगा तो उसका अस्तित्व भी मानना ठीक नहीं (३१८)।

शब्दसन्निकर्षत्व—यदि श्रोत्रेन्द्रिय के स्थान को प्राप्त होकर शब्द ग्रहण किया जाता तो उसका आदि भाग किसके द्वारा ग्रहण किया जाता। प्राप्तिग्राही होने से शब्द के आदि भाग का ग्रहण नहीं होता। दूसरी इन्द्रियाँ भी उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार किसी के द्वारा भी इसका आदि भाग ग्रहण नहीं किया जाता। और फिर अग्राह्यमाण होने के कारण 'यह शब्द ही नहीं होता' ऐसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रथम तो शब्द का ग्रहण नहीं होना चाहिए। आगे यदि शब्द का ग्रहण होता है तो गन्धादि का भी ग्रहण होना चाहिए। परन्तु गन्धादि का ग्रहण होता नहीं, इसलिए शब्द प्राप्तकारी नहीं है॥ १९॥

मानस सन्निकर्षत्व—यदि चित्त विषयदेश (पदार्थ स्थान) को जाकर विषय को जानता है, ऐसी कल्पना की जाय तो यह भी उचित नहीं। यह चित्त विषयदेश को इन्द्रियसहित जाता है या अकेला जाता है ? इन्द्रियसहित तो जाता नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ सदा देह में ही रहती है। उनके चले जाने पर देह के निरिन्द्रिय हो जाने का प्रसङ्ग बपस्थित हो जायगा। यदि अकेला जाता है तो इन्द्रियों से वियुक्त होकर चित्त जाकर भी क्या करेगा। इन्दियों से वियुक्त हो जाने पर चित्त में रूपादि दर्शन की सामर्थ नहीं रह जाती। अन्यथा अन्धों को भी दर्शन का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसके बाद भी कोई किसी प्रकार विषयदेश के गमन से अर्थोपलब्धि की कल्पना करें तो भी अर्थज्ञान का अन्त न होने से पूर्व दोष दूर नहीं किया जा सकता। ऐसा होने पर यह जीव क्या सदा अमनस्क नहीं रह सकता ? हर समय अचिन्तक ही आत्मा प्राप्त होती है। अचिन्तक के आत्मत्व होना संभव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अन्यथा स्तम्भ आदि के भी आत्मा होने का प्रसङ्ग आ जायगा। इस तरह से विचारवानों के इन्द्रियविषय और विज्ञानों का सद् रूप होना असम्भव है, अतएव उनकी स्वरूप सिद्धि होती तो स्पष्टतः यथास्थित स्वरूप से उसकी प्राप्ति होती। पर असिद्ध है। यदि इनकी स्वरूप सिद्धि प्राप्ति उसकी होती नहीं। इसलिए स्वरूप-शून्यता की सिद्धि हो जाती है॥३२१॥

यहां चक्षु रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न कर वह इन्द्रिय पदार्थों के साथ निरुद्ध हो जाता है। उसके निरुद्ध हो जाने पर जो पहले देखा गया पदार्थ है, वही बाद में मन के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। असन्निहित पदार्थ का ग्रहण मरीचिका के समान होता है। यद्यपि मरीचिका में थोड़ा-सा भी जल नहीं होता तो भी हेतु-प्रत्यय होने पर जलाकार संज्ञा प्रवर्तित हो ही जाती है। इसी प्रकार अविद्यमान स्वरूप के ह.न

पर भी पहले ग्रहण किये गये पदार्थ में मरीचिका के समान जो विज्ञान उत्पन्न होता है वही सभी पदार्थों की व्यवस्था में कारणभूत हो जाता है। सभी पदार्थों की व्यवस्था में कारण भूत होने से ही उसे संज्ञास्कन्ध कहा गया है। क्योंकि संज्ञाविशेष का प्रयोग इसी तरह से किया जाता है। इसी संज्ञा से सभी पदार्थों की व्यवस्था जाननी चाहिए। स्वभाव का पदार्थस्वरूप निबन्धन सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है ॥ ३२२ ॥

कायेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने के कारण महाभूत श्रवण बाह्य हैं। उनसे चक्षु से उत्पन्न होने वाला रूप और श्रवण से उत्पन्न होने वाला शब्द उत्पन्न होता है। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। इस प्रकार घ्राणादि के विषय में और चक्षु आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अथवा इन्द्रियों की यह अर्थगति आश्चर्य उत्पन्न करने वाली नहीं है। यदि केवल इन्द्रियों की हीं अर्थगति में वह वैचित्र्य होता तो यह आश्चर्यास्पद है। परन्तु जब यथोक्त न्याय से संसार के विद्वानों को इन्द्रजाल के समान विस्मय उत्पन्न करने वाला हो तब यह अश्चर्य नहीं, क्योंकि किसी असम्भव पदार्थ के उत्पन्न होने पर आश्चर्य होता है। सभी जगह उसका समान रूप नहीं होता। अग्नि की उष्णता अश्चर्य उत्पन्न करने के लिए नहीं होती ॥ ३२४ ॥

अतएव अनिश्चित स्वरूप होने के कारण जैसा प्रत्यय (कारण) हुआ वैसा-वैसा विपरिवर्तमान होने के कारण विद्वानों को अलातचक्र, निर्वाण, स्वप्न, माया, जल, चन्द्र, धूमिका, प्रतिध्वनि, मरीचिका और मेघ के समान संसार को निःस्वभाव समझना चाहिए।

अलातचक्रनिवर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः।
धूमिकान्तःप्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ॥ ३२५ ॥

अन्तग्राह प्रविषेध—प्रतीत्यसमुत्पन्न और परस्पराश्रित भाव निःस्वभाव है। यदि किसी पदार्थ के उत्पन्न होने पर कहीं किसी प्रकार की पराधीनता नहीं होती तो इस अपराधीन—स्वतन्त्र पदार्थ के स्वयं ही व्यवस्थित होने के कारण अस्तित्वकी कल्पना स्वभावतः युक्तिसंगत है। परन्तु ऐसा संभव नहीं कि जिसका हेतु-प्रत्ययोंसे जन्म हो और उसको पराधीनता न हो। यदि ऐसा नहीं मानते तो फिर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई पदार्थ अहेतुक भी उत्पन्न होता है। और इस प्रकार निर्हेतुक के प्रसंग से किसी पदार्थ का कोई स्वरूप नहीं। अतएव यह भी मानना होगा कि किसी का कोई स्वभाव नहीं ॥ ३२६ ॥

घट भी स्वभावतः सिद्ध नही होता। यदि घट नामका कोई पदार्थ हाता तो वह नेत्र द्वारा ग्राह्य होने से रूप से अभिन्न माना जाता, परन्तु रूप और घट दोनों में एकता नहीं। रूप और घट दोनों में एकता होगी तो जहाँ रूप होता वहीं घट होता। इस तरह सर्वत्र रूप में घट हो जाता। पाकज गुणकी उत्पत्ति होने पर रूपका विनाश होनेपर घटका विनाश हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए रूप ही घट है ऐसी एकता नहीं कही जा सकती।

इस दोष को दूर करने के लिए यदि यह माना जाय कि घट रूप से पृथक् होकर रूपवान् है। जैसे अर्थान्तरभूत गायों से देवदत्त गायों वाला माना जाता है तो यह भी अयुक्त है क्योकि रूपवान् घट रूप से पृथक् नहीं है। यदि घट रूप से पृथक् होता तो वह रूप के बिना ग्रहण किया जाता। गायों से पृथक् होकर देवदत्त ग्रहण नहीं किया जाता। इसी प्रकार घट भी रूप बिना ग्रहण नहीं किया जाता। इसलिए रूप के बिना घट नहीं है। जब रूप के बिना घट नहीं है तो अविद्यमान होने पर रूप सहित कैसे ग्रहण किया जाता है? अविद्यमान बन्ध्यापुत्र गोमान नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार घट रूपवान् है ऐसा भी कहना युक्त नहीं, अन्यत्व के असम्भव होने से ही रूप और घट दोनों की आधार आधेयकी कल्पना की भी सिद्धि नहीं होती। इसलिए कहा है—घट में रूप नहीं और रूप में घट नहीं।

रूप और घट में अन्यत्व होने पर घट में रूप है, ऐसा कथन कुण्ड में दधि के समान होगा। रूपमें भी घट है ऐसा कथन कट में देवदत्त के समान होगा। परन्तु यह संभव नहीं। अतएव घट स्वभावतः नहीं है। जिसका स्वभाव नहीं होता वह अलातचक्र के समान स्वभावसे शून्य होता है। जिस प्रकार घट स्वभावतः नही है उसी प्रकार समस्त पदार्थ भी स्वभावतः शून्य हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

रूपमेव घटो नैक्यं घटो नान्योऽस्ति रूपवान्।
न विद्यते घटे रूपं न रूपे विद्यते घटः ॥ ३२७॥

भाव घट में सत्ता के योग से द्रव्य सत् कहना भी ठीक नहीं क्योंकि घटादि द्रव्यों में अनुप्रवृत्तिलक्षण होने से भाव समामान्य है और व्यवृत्तिलक्षण होने से घट विशेष है। यदि उन दोनों की विलक्षणता से भाव और घट में देखकर भाव से घट पृथक् माना जाता है तो इसी प्रकार विलक्षणता से भाव भी घट से पृथक् क्यों नहीं हो जायगा। और फिर अन्यबुद्धिध्वनि प्रवृत्तिनिमित्तक अन्यत्व और अनुप्रवृत्ति लक्षण की कल्पना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि विलक्षणता से ही अन्य बुद्धिध्वनि प्रवृत्ति की सिद्धि हो जाती है।

यदि दूसरे अन्यत्वकी कल्पना की जाय तो फिर भाव और घटमें विलक्षणता को अपेक्षा से अन्यत्व नहीं होगा। इसीलिए कहा है—दोनों में विलक्षणता देखकर भाव से घट पृथक् माना जाना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं। जिस प्रकार भाव अनुप्रवृत्तिलक्षणक होनेसे घट से पृथक् है उसी प्रकार से अन्यत्व भी अनुप्रवृत्तिलक्षणक होने से घट से पृथक है। उस अन्यत्व की अन्यबुद्धिध्वनि की प्रवृत्ति का क रण दूसरा है नहीं। यदि होता तो अन्यत्वों में अपर्यवसान दोष हो जाता। तभी अन्यत्व के बिना अन्यबुद्धि अन्यत्र में होती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सम्भावना कर ली जानी चाहिए। अतएव अन्यत्व की अकिञ्चित्कर कल्पना व्यर्थ है। अन्यत्व के न होने पर कहीं से किसी का भी अन्यत्व नहीं होता। और भी ऐसा विचार किया जाता है कि किस प्रकार की सत्ता का अन्यत्व के साथ योग हो। वह योग अन्यभूता का है अथवा अनन्यभूता का। यदि अन्यभूता का है तो अन्यत्व के साथ योग (सम्बन्ध) व्यर्थ हुआ। और यदि अनन्यभूता का है तो विरुद्ध अन्यत्व के योगसे योग प्राप्त नहीं होता। अन्यत्वके अभाव से घट से भाव पृथक् है यह युक्तियुक्त नहीं। फिर लोक में विपर्यास को प्रमाणित कर घटत्व रूप ही सद्बुद्धिध्वनि प्रवृत्तिनिमित्तक होने से भाव है ऐसी पदार्थ के भेद से यदि एक घट नहीं होता तो घट भी एक नहीं होता। जैसे एकत्व रूप एक संख्या घट नहीं है वैसे ही द्रव्यत्व रूप से अनेक संख्या के पृथक्भूत होने से घट भी एक नहीं होता, क्योकि वह द्वित्वमय रहता है। और इस घट के एक रूप की एक संख्या परिकल्पित होती है अथवा अनेक रूप की ? यदि एक रूप की एक संख्या परिकल्पित होती है तो एकत्व कल्पना व्यर्थ ही है। और यदि अनेक रूप की एक संख्या परिकल्पित होती है तो भी विरुद्ध होने से अयुक्त ही है। अतएव लोक में घट स्वरूप की ही अविद्यमानता रहते हुए निहितार्थान्तिर की एकत्व कल्पना जाननी चाहिए। फिर गुण द्रव्याश्रयी हैं ऐसा मानकर एकत्व के योग से घट ही एक होता है न कि एकत्व घट होता है।

पदार्थ को जो लम्बाई और विस्तार होगा, रूप भी उसी लम्बाई और विस्तार वाला होगा। ऐसा प्रतिवादी यदि स्वीकार करते हैं तो पदार्थ के छोटे बड़े आकार के अनुसार रूप भी छोटा बड़ा होना चाहिए। तब फिर द्रव्य के समान रूप को भी छोटा बड़ा स्वीकार करने में क्या बाधा है ? रूप और गुण दोनों एक हैं। रूप का अणुत्व और महत्व दोनों गुण में ही है। और गुण में गुण का सन्निवेश हो नहीं सकता ऐसा हमारा सिद्धान्त है। यद्यपि द्रव्य और रूप का परिमाण एक होगा फिर भी सिद्धान्तविरोध के भय से रूप का अणुत्व

महत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। सिद्धि नहीं होती। व्यावृत्ति मात्रसे वस्तुस्वरूप का निर्धारण करना संभव नहीं है। गुण मात्र रहने से घट नहीं कहा जाता। घट तो तभी है जब उसमें गुण के साथ छोटे बड़े रूपादिक भी हों। सत्ता भी द्रव्य गुण कर्म में सामान्य होने से घट नहीं होता। संख्या अणु, महत् रूपादिकों से यह पृथक् है और यह इसका स्वभाव है ऐसी व्यवस्था करना संभव नहीं। इस प्रकार जहाँ प्रतिपक्ष में लक्षण से भी लक्ष्य रूप घट स्वरूप की सिद्धि नही होती वहाँ पक्षान्तर में संख्यादि से पृथक् सिद्ध स्वरूपसे घट भावका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतएव घट की स्वभावशून्यता सिद्ध हो जाती है। शरीरेन्द्रिय की ग्राह्यता स्पर्श है। जिसे स्पर्श होगा वह स्पर्शवान् है। स्प्रष्टव्य ही कायेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। इसलिए स्पर्शवान् है। उस स्पर्शवान् से अस्पर्शवान् (स्पर्शहीन) रूप, रस, गन्धों का संयोग सम्भव नहीं। यह वैसे ही संभव नहीं जैसे घट का सम्बन्ध आकाश से नहीं हो सकता। जब रूपादिकों का सम्बन्ध नहीं हो सकता तो परस्पर स्पर्श करने वाले रूपादिकों से विशेष समुदाय रूप जो घट कहा है वह युक्तिसंगत नहीं (३३३)।

रूपादिक समुदाय रूप घट का प्रत्येक रूपादिक अवयवभूत होने के कारण घट संज्ञक नहीं होते। घट अवयवी है और रूपादिक अवयव हैं। अवयव होने के कारण रूप को घट नहीं कहा जा सकता। और जैसा रूप है वैसे हो गन्धादिक हैं।

रूप चूंकि अवयव है इसलिये उसका आधारभूत कोई अवयवी भी होगा क्योकि अवयवी के बिना अवयव नहीं हो सकता। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि घटत्व के अभाव में रूपादिकों का कहाँ से कौन अवयवी होगा। रूपादि के विना अवयवी जाना ही नहीं जा सकता। जिसका स्वरूप अज्ञेय है उसे असत् होने के कारण अवयवी नहीं कह सकते। जब अवयवी नहीं तब अवयवत्व होने पर भी रूप के होने की सम्भावना नहीं। इस प्रकार अवयव और अवयवी दोनों नहीं हैं।

रूपादिकों का समुदाय रूप घट नहीं है। क्योंकि समस्त रूप रूपस्कन्ध का समूह मात्र है। अतएव रूप, गन्धादिक भी रूप कहे जाते है। वे रूप घट के समान पटादिकों में भी हैं। घटादिका भेद होने पर भी वे स्वलक्षण में व्यभिचरित नहीं होते। क्योंकि सभी जगह समान लक्षण हैं। तब एक रूप का जैसे घटत्व रूप में अवस्थान है वैसे हो पटादि सम्बन्धित अन्य रूपका भी घटत्व के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होगा? घट में अवस्थित रूपादि के समान लक्षण के अभेद से उस रूप का भी घटत्व के रूप में अवस्थान युक्तिसंगत ही है।

यदि कपालों के कारण घट की सिद्धि होती है तो इन कपालों की सिद्धि किस कारण से होगी। वे स्वभावतः सिद्ध तो कहे नहीं जा सकते अन्यथा निर्हेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। यदि उनकी सिद्धि में अन्य कोई कारण मानते हैं तो कपालों की स्वरूपतः सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उनका भी अन्य शर्करिका (धूलि आदि) आदि के कारण अस्तित्व दिखाई देता है। इस प्रकार जिन कपालों की सिद्धि स्वतः नहीं है वे और दूसरे की सिद्धि में कैसे सहायक हो सकते हैं। अतएव घट अस्तित्व विहीन है। यह जो घट प्रतिषेधक विधि है यही सभी कार्यों की असिद्धि (अस्तित्व विहीनता) को सिद्ध करने में उपयोगी है।

घटः कारणतः सिद्धः सिद्धं कारणमन्यतः।
सिद्धिर्यस्य स्वतो नास्ति तदन्यज्जनयेत्कथम् ॥ ३३८ ॥

समुदित रूपादिक समुदाय रूपमें अवस्थित होने पर भी अपने-अपने स्वरुपका परित्याग नहीं करते। तब जिस प्रकार रूप की समुदायावस्था में स्वरूप का परित्याग न होने से गन्ध की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार अनेकाश्रित समूह का एकत्व भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वह समुदाय रूपादिकों से पृथक् नहीं है और वे रूपादिक परस्पर में ही विभक्त होते रहते हैं। रूपादिकोंसे अव्यतिरिक्त समुदाय घट के समान एक कैसे हो सकता है। जैसे लक्षणों से अपृथक् होने के कारण घट की एकता नहीं होती ऐसा कहाँ है। वैसे ही लक्षणों से अपृथक् रहने के कारण समूह की एकता सिद्ध नही होती। इस प्रकार घट के समान रूप के समूह की एकता सिद्ध नहीं (३३६)।

जैसे महाभूतों में एकत्व नहीं होता क्योंकि उनके अतिरिक्त दूसरों का भी सद्भाव रहता है। इसी प्रकार भूतों से उत्पन्न होने वाले का भी अस्तित्व नहीं क्योंकि भूतों के बिना अहेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। चित्त के बिना चित्त से उत्पन्न होने वाले धर्म उत्पन्न नहीं होते और न चित्त से उत्पन्न होने वाले धर्मों के बिना चित्त होता है। वैसे ही जात्यादि लक्षणों के बिना रूपादिक लक्ष्य नहीं होता। और न लक्ष्य के बिना निराश्रय लक्षण होता है। इस प्रकार जब किसी भी एक पदार्थ की ही सिद्धि नहीं होती तब समुदित पदार्थों की सिद्धि कहाँ संभव है? (३४४)

एकत्व, अन्यत्व, उभय, नोभय इन एकत्वादि पक्षों में सत्, असत् आदि उपलक्षित दूषण नियोजनीय है। सत्कार्यवादी का पक्ष है कि कार्य और कारण दोनों में एकत्व है। उसके दर्शन में अपने कारण से व्यवस्थित सत्कार्य विपरि-

णामी हो जाता है। क्योंकि असत्कार्य का किया जाना सम्भव नहीं। यदि कार्य असत् रूप से उत्पन्न होता तो सभी पदार्थों से सभी पदार्थ उत्पन्न हो जाते। परन्तु ऐसा होता नहीं। दूध आदि से निश्चित (प्रतिनियत) दधि आदि की ही उपलब्धि होती है। वादी के पक्ष में कार्यकारण में एकत्व मानने से सत् ही कार्य उत्पन्न होता है। यह एकत्वपक्ष है। उस एकत्वपक्ष में सत्कार्यवाद से नित्य दूषण आते हैं। जैसे कहा है—स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः। जिसे सत्कार्यवाद ही स्वीकार है उसके घर के निमित्त स्तम्भादिकों का अलंकार निरर्थक हो जाता है।

जिसके पूर्व उत्पत्ति की जाती है उसका अस्तित्व है ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं। सत् का यदि जन्म होता तो उत्पन्न हुए का भी जन्म होता। धर्म (पदार्थ) यदि अवृतक है भी तो भी जप, तप और नियम व्यर्थ हो जाते हैं। अतएव कोई भी कार्य सत्कार्य से उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार विद्वानों को सत्कार्यवाद में कथित दूषण एकत्वपक्ष में प्रयुक्त करना चाहिए।

असत्कार्यवादी अन्यत्ववादी हैं जिनके मतानुसार कार्य और कारण में अन्यत्व है। वे मानते हैं कि सत् से उत्पत्ति निरर्थक होती है और असत् ही कार्य उत्पन्न होता है। उनके अन्यत्व पक्ष में भी पूर्वोक्त असत्कार्यवाद में उपलक्षित दूषण आ जाते हैं।

जो कार्य–करण मे एकत्व और अन्यत्व दोनों की कल्पना करतें हैं वे सदसत्कार्यवादी हैं। वे देवदत्तका आत्मत्व व्यवस्थित है और अव्यवस्थित है ऐसा मानते हैं। तथा मञ्जरी, केयूर आदियों का सुवर्णात्मत्व व्यवस्थित है और अव्यवस्थित है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। उनके सदसत्कार्यवाद के खण्डन में एकत्व और अन्यत्व पक्ष में कथित दूषण उपस्थित किये जा सकते हैं।

जिनके दर्शन में घटादिकों के आभावसे अपने कारणोके निमित्त अन्यत्व और एकत्वादि सद्हेतुक हैं उनका सद्वाद, असद्वाद के निराकरण द्वारा सत् भी नहीं होता व असत् भी नहीं होता। दोनों के न होंने पर नोभय (सदसद्वादर) नहीं होता। क्योंकि जब सद्वाद और असद्वाद दोनों की संभावना नहीं तब किसके निषेध से सदसद्वाद होगा ! इस प्रकार क्रमश. सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद तथा नोभय (न सत्कार्यवाद न असत्कार्यवाद) यह क्रम है। इसे विद्वद्गण एत्वादियों में नित्य प्रयोग करें।

सदसत् सदसच्चेति नोभयं चेति चक्रमः।
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः॥ ३४६॥

उनमें सत् का तात्पर्य आत्मा है और असत् का तात्पर्य अनात्मा है। सत् और सत् के अभाव से असत् है। इस प्रकार आत्मा भी है और आत्मा के अभाव से अनात्मा भी है। न सत् है और न असत् है। इसका तात्पर्य है—न आत्मा है न अनात्मा है। और नोभय। अथवा एकत्व, अनेकत्व, उभय और अनुभय।

उनमें पट और शुक्ल में एकत्व है ऐसा जिनका मत है वह सत् है। यह क्रम विषय से और काल के लक्षण से प्रयोज्य है। विषय से इस प्रकार है—यदि पट और शुक्ल में एकत्व है तो जहाँ जहाँ शुक्ल है वहाँ वहाँ पट होना चाहिए और जहाँ जहाँ पट है वहां वहां शुक्ल होना चाहिए। परन्तु जहाँ जहाँ शुक्ल है वहाँ वहाँ पट नहीं है और जहाँ जहाँ पट नहीं है वहाँ वहाँ शुक्ल है। तब इस स्थिति में पट और शुक्ल में अपेक्षित एकत्व नहीं मिल सकता। क्योंकि विषय का भेद है।

काल से क्रम इस प्रकार है। काल तीन प्रकार का है--अतीत, अनागत और वर्तमान। अतीत अवस्था में ही पहले उत्पन्न हुआ शुक्ल देखा गया। यदि पट और शुक्ल दोनों में एकत्व है तो यदि शुक्ल पूर्वजात है तब पट भी पूर्वजात होना चाहिए। यदि पट पश्चात् जात है तो शुक्ल भी पश्चाज्जात (पीछे उत्पन्न हुआ) होना चाहिये। यदि पूर्वजात शुक्ल में वर्तमान पट बाद में उत्पन्न होता है तो जो पूर्व जात है और जो पश्चाज्जात है उन दोनों मे एकत्व नहीं होगा क्योंकि उनमें उत्पत्ति क्रम का भेद है। यदि पट और शुक्ल में एकत्व है तो शुक्ल शुक्ल में पट विलीन हो जाता और पट में भी शुक्ल विलीन हो जाता। जब शुक्ल शुक्ल मे विलीन होता है पट नहीं और पट में भी पट ही विलीन होता है, शुक्ल नहीं। तब पट और शुक्ल में एकत्व नहीं हो सकता। विलय और विलयाभाव में भेद होता है।

यदि शुक्ल के योग से पट शुक्ल है ऐसा कहा जाय तो इसके उत्तर में आचार्य का यह कहना है कि यदि शुक्ल के योग से पट शुक्ल होता है तो यह पट शुक्ल के योग से शुक्ल लक्षण प्राप्त करता है अथवा नहीं। यदि शुक्ल लक्षण प्राप्त करता है तो पट शुक्ल ही होता और पट का पटत्व नष्ट हो जाता। यदि शुक्ल-स्वरूप प्राप्त नहीं होता तो योग होने पर भी पट शुक्ल नहीं होता। अतएव शुक्ल योग से पट शुक्ल है ऐसी मान्यता निर्दोष नहीं। पट जैसे शुक्ल नहीं होता वैसे ही पट के जो नील, पीत, रक्त, रक्त पीत, कपिल, कपोत, कृष्ण आदि वर्ण और दीर्घ, ह्रस्व, कोमल, कठिन इत्यादि विशेष हैं उनसे भी पट अन्य ही

है। इस प्रकार सभी का अभाव हो जायगा। और सभी का अभाव हो जाने पर पट का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। जैसे पट नहीं होगा वैसे ही समस्त पदार्थ भी नहीं होंगे। क्योंकि गुण विशेष उनसे भिन्न ही है।

जिसका पक्ष नोभय है उसका भी प्रतिषेध संक्षेपतः कहा जाता है। यदि पट और शुक्ल में न एकत्व है और न अन्यत्व है, इस प्रकार उभय लक्षणों का अभाव है तो शुक्ल भी शुक्ल ही नहीं होगा और अशुक्ल भी नहीं होगा। पट भी पट ही नहीं होगा, अपट (पटाभाव) भीं नहीं होगा। अतएव शुक्ल में जब दोनों लक्षण अप्राप्त हैं तब शुक्ल ही उसका नाम क्यों है, कृष्ण क्यों नहीं ? बात यह है कि चूंकि उसका नाम शुक्ल है, कृष्ण नहीं, इसलिए शुक्ल ही है। उभय-लक्षणाभाव वाले उस पटका 'पट' यह नाम क्यों है पट क्यों नहीं ? चूंकि उस पट का 'पट' यह नाम है, घट नही, इसलिए पट ही है। इस प्रकार शुक्ल ही और पट ही सिद्ध होता है। अवश्य उनमें एकत्व और अन्यत्व होना चाहिए। एकत्व होने पर फिर से भी एकत्व प्रतिषेध का क्रम ही कथनीय है। परन्तु अन्यत्व होने पर अन्यत्व प्रतिषेध का क्रम कथनीय है। इस प्रकार सभी पदार्थों का प्रतिषेध आर्यदेव ने प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य निःस्वभाव माना है और उसे स्वप्न सदृश शून्यतात्मक तथा अनात्मक कहा है।

प्रतीत्य सम्भवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायते।
न स्वतन्त्रमिदं सर्वं स्वयं तेन न विद्यते॥ ३४८॥

सभी संस्कृत पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जिस पदार्थ का समुत्पाद कारण पूर्वक होता है वह स्वतन्त्र नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति हेतु और प्रत्ययों से होती है। इसलिए जिस पदार्थ का अधिपति होता है वह स्वभावतः विद्यमान नहीं। अतएव प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थ का स्वरूप स्वतन्त्र न होने से पदार्थ शून्यतात्मक हो जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य सभी पदार्थो का अभाव नहीं है। इसलिए प्रतीत्य समुत्पन्न वस्तु माया के समान है। निःस्वभाव होने से भाव दर्शन विपरीत हो जाता है। इसलिए भाव स्वभाव त्ववादियों के मत में प्रतीत्यसमुत्पादाभाव और शाश्वतोच्छेद दृष्टि ये दो दोष उपस्थित हो जाते है (३४९–५०)।

यदि संस्कृत का लक्षण अतिरिक्त होता तो विद्यमान संस्कृत पदार्थ का भी अस्तित्व न होता क्योंकि यह उत्पाद यदि संस्कृत पदार्थ को उत्पन्न करता है तो वह विद्यमान संस्कृत पदार्थ को उत्पन्न करता है या अविद्यमान संस्कृत

पदार्थ को ? जिसका पक्ष असत्कार्य वाद है उसका बीजा वस्था में अंकुर के न होने से हेतु-प्रत्यय सामग्री द्वारा बीज क्षण में ही अँकुर उत्पन्न हो जाता। इसलिए उस वादी का "असदन्ते जायते चेद्" यह पक्ष है। परन्तु असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। अन्यथा खर-विषाण आदि की भी उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इसलिए "तेना सञ्जायते कुतः" कहा है।

असत्व कारण है। असत्व से असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इस दोष के भय से सत्कार्यवाद के अनुसार सत् ही उत्पन्न माना जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है। यदि सत् ही उत्पन्न होता तो वह कहाँ से उत्पन्न होता ?

यदि उत्पत्ति के अत्यन्त पूर्व बीजावस्था में ही अङ्कुर की उत्पत्ति की कल्पना की जाती तो उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि सत् का सद्भाव है ही। सत् की उत्पत्ति की परिकल्पना करने पर उत्पत्ति की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अतएव सत् की उत्पत्ति नहीं होती (३५१)।

चूंकि उत्पन्न हुए अंकुर से बीज रूप हेतु नष्ट हो जाता है। इसलिए असत् रूप से विद्यमान अंकुर बीज से उत्पन्न होता है ऐसी भी मान्यता युक्ति संगत नहीं। जैसे यव, गोधूम आदियों में अविद्यमान धान्याङ्कुर विकार से उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार अविद्यमान विकार से भी धान्यांकुर उत्पन्न नहीं होते। जैसे तेल रूप में परिणामन होने पर तिल नष्ट हो जाता है वैसे ही अंकुर के उत्पन्न होने पर उसका बीज नष्ट हो जाता है। अतएव असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। तथा सिद्ध (उत्पन्न) अंकुर पुनः सिद्ध (उत्पन्न) नहीं होता। इस प्रकार सत् का भी उत्पाद नहीं होता (३५२)।

जब यह अंकुर आत्म भाव को प्राप्त हो जाता है तब इसका रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इसको जाति (जन्म) नहीं होती। जब इसका रूप सिद्ध नहीं होता तब भी इसका जन्म युक्ति सगत नहीं। असिद्ध रूप के असद्भाव आश्रित जन्म की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए जन्म और किसी प्रकार भी संभव नहीं होता। कुछ सिद्ध होता है परन्तु कुछ सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार दोनों पक्षों में उक्त दोष उपथित होने से अपनी और दूसरे की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार जब तीनों कालों में भी जन्म सम्भव नहीं दिखाई देता तो प्रकारान्तर यह कथ्य है कि जन्म कभी भी नहीं होता। जहाँ इसका उत्पाद होता है वह काल नहीं है।

जातिस्तदा न भवति न जातिरन्यदापि च।
तदान्यदा न चेज्जातिः कदा जाति र्भविस्यति ।। ३५३ ।।

जिस प्रकार दुग्ध स्वभाव से अवस्थित दुग्ध की उत्पत्ति नहीं होती। उसी प्रकार दुग्ध से अन्य दधि पदार्थ की भी उत्पत्ति नहीं होती। दधि भूत दुग्ध में दुग्ध दधि है ऐसा नहीं माना जा सकता। जब दधि होगा तो उस समय वह दुग्ध नही होगा। और जब वह दुग्ध होगा तब वह दधि नहीं होगा। इस प्रकार दुग्ध दधि हो जाता है ऐसी मान्यता युक्ति संगत नहीं ।। ३५४ ।।

उत्पत्ति के पूर्व संस्कृत पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। यदि यह माना जाय कि उत्पत्ति काल में उसने जन्म ग्रहण किया, स्थिति काल में ठहरा और भंगकाल मे उसका भङ्ग हो गया तो भी युक्ति संगत नहीं। क्योंकि यहाँ उत्पत्तिकाल में स्थिति और भंग दोनों का अभाव होने से स्थिति और भग से रहित संस्कृत का अभाव हो जाता है और इसलिए उत्पत्ति नहीं होती। तथा स्थिति काल में और भंग काल में दोनों का अभाव रहने से एक-एक की प्रवृत्ति नहीं होतो। उस प्रवृत्ति के न होने से संस्कृत नहीं होता ।। ३५५ ।।

घटका स्वतः सिद्ध स्वरूप कपाल की अपेक्षा से नहीं है। कपाल का भी स्वतः सिद्ध स्वरूप शर्करा (धूलि, रेत) की अपेक्षा से नहीं है। अतएव इस प्रकार अन्य पदार्थ के अभाव होने पर कपाल में घटका स्वभाव (घटत्व) नहीं है। उसी प्रकार कपाल स्वभाव के होने पर उन कपालों का घटकी अपेक्षा से अन्यत्व भी नहीं होता। इस प्रकार चूंकि स्वभाव के बिना किसी का भी अन्यत्व नहीं होता, इसलिए दोनों से उत्पत्ति नहीं होतो। और स्वरूप के असिद्ध होनेपर दूसरे से भी उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार उत्पत्ति नहीं होती ।।३५६।।

और भी। यह उत्पाद उत्पत्ति के पूर्व होता है या पश्चात् होता है अथवा युगपत (एक साथ) होता है। यदि पूर्व होता है तो आश्रय का अभाव होने से मान्य नहीं है। यदि पश्चात् होता है तो अनुत्पन्न का असत्व होने से और उत्पत्ति की व्यर्थता होने से वह स्वीकार्य नहीं। यदि युगपत् पक्ष को स्वीकार किया जाय तो वह भी संभव नहीं क्योंकि दोनों के उपकार की अपेक्षा नहीं रहेगी। अतएव चूंकि उत्पत्ति और उत्पाद का क्रम निर्धारण करना संभव नहीं है इसलिए घटकी और जातिकी उत्पत्ति एक साथ नहीं हो सकती। जब सद्भाव ही नहीं है तो घट उत्पन्न हुआ यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं ।।३५७।।

घट का जीर्ण स्वरूप उपलब्ध होने से घट का उत्पाद होता है यह कहना भी उपयुक्त नहीं। जीर्ण की जो जीर्णता है वह यदि लोक में वस्तुके पूर्व उत्पन्न

हुई मानी जाय तो घटके पूर्व उत्पन्न हुई अवस्था का जीर्णत्व युक्ति युक्त नहीं। क्योंकि उस समय उसकी संज्ञा नूतन होगी अर्थात् घड़ा उस समय नया होगा। पश्चात् उत्पन्न हुई अविकल अवस्था मे बाद में उत्पन्न होने के कारण, नूतनता रहती है। फिर जीर्णता कहाँ होगी ? यदि पूर्व में उत्पन्न हुई वह जीर्णता इस समय रहती हैं ऐसा कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि वह जीर्णता वही है अथवा अन्य है। यदि वह वही है। तो नवीन अवस्था का विनाश न होने से वह जीर्ण नहीं है। यदि वह जीर्णता अन्य है तो वह भी उसी के समान उत्पन्न हुई है। इस प्रकार वह नूतन ही है, जीर्ण नहीं। अतएव ऐसा होने पर जीर्णता के अभाव से उत्पाद नहीं देखा जा सकता।! ३५८ ॥

उत्पाद त्रिकाल में भी युक्ति संगत नहीं माना जा सकता। हेतु और फल का युगपत् सम्बन्ध न होने पर भी हेतुफल की अनुपपत्ति होती है। निरात्मक होने के कारण अनागत का सद्भाव नहीं। अतीत से भी इसकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि अतीतका भी सद्भाव नहीं रहता। इस प्रकार जब तीनों कालों में उत्पाद नहीं होता तो स्वरूपतः उत्पाद नहीं है यह सिद्ध हुआ ॥ ३५९ ॥

अतएव निश्चय ही पदार्थ निःस्वभाव होना चाहिए। पदार्थ तो संक्लेशका कारण भूत कृतक रूप प्रतीत्य समुत्पन्न है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार माया द्वारा निर्मित हाथी, अश्व आदि हैं। अज्ञानी उसकी कल्पना स्वभावमय करते हैं। परन्तु आर्य (विद्वान) पदार्थ को माया मरीचि के समान निःस्वभाव ही जानते हैं। पारस्परिक विरोध होने से उत्पाद, स्थिति और भंग की उत्पत्ति न युगपत् होती है और न क्रमशः।

संस्कृत रूप से उत्पाद आदि के स्वीकार किये जाने पर उत्पाद, स्थिति और भङ्ग में सभी वस्तुओं को पुनः उत्पत्ति होती है। और पुनः उत्पत्ति होने पर उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होगी। जैसे उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होना न्यायोचित है वैसे ही भङ्ग (विनाश) होना भी न्यायोचित है। इसलिए भङ्ग का भी संस्कृतत्व होने के कारण उत्पाद, भङ्ग और स्थिति से सम्बन्ध है। अतएव भङ्ग का भी अन्य भङ्ग का सद्भाव होने से विनाश होगा। उस भङ्ग का भी विनाश होगा। उसके बाद होने वाले भङ्ग का भी विनाश होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा। और अनावस्था होने पर सभी पदार्थों की असिद्धि हो जायगी। इसलिए स्वभावतः संस्कृत लक्षणों की सिद्धि नहीं हो सकती।

उत्पादस्थिति भङ्गानां युगयन्नास्ति सम्भवः।
क्रमशः सम्भवो नास्ति सम्भवो विद्यते कदा ॥ ३६१ ॥

उत्पादादिषु सर्वेषु सर्वेषां सम्भवः पुनः।
तस्मादुत्पादवभङ्गो भङ्ग वद् दृश्यते स्थितिः ॥ ३६० ॥

जैसे शीत, उष्ण, सुख दुःख आदि में एक एक का अभाव होने से ही दूसरे की स्थिति का आभास होता है उसी प्रकार लक्ष्य भी यदि लक्षण से भिन्न होगा तो उसमें अनित्यता कैसे रहेगी ? और संस्कृत के बिना अनित्यता होती नहीं। इसलिए लक्षण से लक्ष्य भिन्न नहीं स्वीकारा जा सकता। इस दोष से मुक्त होने की इच्छा से यदि लक्ष्य लक्षण में अनन्यत्व की कल्पना की जाय तो वह दूसरा दोष होगा। इसलिए चारो (लक्ष्य, लक्षण, भाव और अभाव) का सद्भाव स्पष्टतः नहीं है। यदि लक्षणत्रय (उत्पाद, स्थिति और भङ्ग) और लक्ष्य इन दोनों को एक ही स्वीकार किया जाय तो लक्षणत्रय और लक्ष्य ये चारों पदार्थ भी नहीं होंगे। क्योंकि यहां दोनों का एक मान लेने पर लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। और लक्ष्य को भी लक्षण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार चारों का भी सद्भाव नहीं होता। तब स्वरूप की असिद्धि होने से तत्व और अन्यत्व स्वीकार नहीं किये जाने चाहिए।

भाव का तात्पर्य सिद्धरूप अङ्कुर है। वह भाव अर्थात् अविकृत बीज से उत्पन्न होता है यह कथन युक्ति संगत नही। क्योंकि अविक्रयमाण बीज की उत्पत्ति सम्भव नहीं और न सिद्धाङ्कुर रूप भाव का रूप भी पुनः उत्पन्न होता है। अभाव से भी भाव की उत्पत्ति नहीं होती। अभाव से अग्नि से जले हुए बीज में फल उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव होता है। इसलिए उत्पन्न होने वाले पदार्थ की पुनः उत्पत्ति नहीं होती। "अभावान्न जायते का यही तात्पर्य है। अभाव से भी अभाव की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं होती जिस प्रकार बन्ध्या को पुत्रोत्पत्ति नहीं होती। भाव से भी अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। उसमें भी उक्त दोष का प्रसंग आ जाता है। जब भाव से भाव और अभाव से अभाव उत्पन्न नहीं होता तब उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए हेतु प्रत्यय द्वारा किस पदार्थ का सद्भाव है ?

वस्तुतः भाव, अभाव और भङ्ग, तीनों की उत्पत्ति कल्पित है। भाव का तात्पर्य सद्भाव है। सद्भाववान् पदार्थ की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि सत् पदार्थ की उत्पत्ति निरर्थक है। इसलिए "भावो नैव भवेद् भावः" कहा है। असत् पदार्थ की भी उत्पत्ति नहीं होती। अन्यथा बन्ध्या के भी पुत्रोत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इस प्रकार सत् पदार्थ न सत् है और न असत् इसलिए उत्पाद सम्भव नहीं। इसका भङ्ग भी नहीं होता। क्योंकि असत्

खर विषाण के समान अभाव का अभाव नहीं होता। भाव पदार्थ का भी अभाव नहीं होता अन्यथा परस्पर विरोध उपस्थित होगा। अविद्यमान् पदार्थ के अभाव में भङ्ग नहीं हो सकता। और उत्पाद तथा भङ्ग के अभाव में संस्कृत नहीं यह सिद्ध हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने जैसे कहा है कि संस्कृत, असंस्कृत सब कुछ छोड़कर उन स्त्रियों को कोई विकल्प नहीं। दृष्टि प्राप्त व्यक्तियों द्वारा सभी स्थितियों में असंस्कृत प्राप्त वस्तु सदैव छोड़ दी जाती है।

संस्कृत ऽसंस्कृत सर्व विविक्ता नास्ति विकल्पन ेपमृ़ीऩाम्।
सर्व गतीषु असंस्कृत प्राप्ति दृष्टि गतेहि सदैव विविक्ता॥

जायमान पदार्थ की उत्पत्ति होती है "यह कथन भी युक्ति संगत नहीं। यदि कोई पदार्थ कुछ उत्पन्न हो और कुछ अनुत्पन्न हो तो ऐसी स्थिति में उसे जायमान् नहीं कहा जा सकता। जात और अजात इन दो स्थितियों के अतिरिक्त कोई तीसरी स्थिति सम्भव नहीं इसलिए असत् होने के कारण जायमान पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। यदि दोनों रूपों को जायमान् स्वीकार किया जाय तो "किञ्चिज्जात" वाला रूप जातान्तर्गत होने के कारण उत्पन्न नहीं होता। क्योकि सत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती यह पहले कह दिया गया है। उसके द्वितीय रूप "[illegible]" की भी उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती॥ ३६४॥

फिर भी यदि जात और अजात (उत्पन्न और अनुत्पन्न) इन दोनों में में जायमानत्व की कल्पना की जाय तो अतीत और अनागत में भी जायमानत्व मानना पड़ेगा। इसीलिए "अथ वा जायमानत्वं सर्वस्यैव प्रसज्यते" कहा है। जन्म रूप व्यापार जिसने प्राप्त कर लिया वह 'जात' कहलाता है। उसका असद्भाव अतीत में ही होता है। अजात वस्तु अनागत होती हैं। इसीलिए यहां जायमान की जाति (उत्पत्ति) की कल्पना की गई। अथवा त्रिकाल में सभी को जायमान' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाय कि कोई भी वस्तु 'जायमान' नहीं होती॥ ३६६॥

जो जायमान स्वभाव वाला है वह स्वयं द्वारा व्यवस्थित होने से कार्य कहा नहीं जा सकता। जो जायमानात्मना अकार्य है वह भी जायमान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जायमान पदार्थ के स्वरूप का सद्भाव नहीं है। जो जायमानात्मना कार्य है वह भी अजायमान के समान जायमान नहीं होता और जायमान का अभाव होने पर जायमान पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती (३६७)।

जिस वादी के दर्शन (मत) में मध्य बिना अतीत व अनागत इन दोनों को उत्पत्ति सम्भव नहीं उसे जायमान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस जायमान पदार्थ का मध्य अपेक्षित है। जैसे जायमान पदार्थ के अन्तर्वर्ती अतीत व अनागत काल हैं। वैसे ही उस जायमान पदार्थ को जात-अजात इन दो रूपों के मध्य में होना चाहिये। इसी के आधार पर जात-अजात की व्यवस्था होती है। और जात अजात के मध्यवर्ती तृतीय जायमान पदार्थ की व्यवस्था कराने के लिए यह सम्भव नहीं। क्योंकि सर्वत्र ही जात-अजात इन दोनों के बीच 'जायमान' रूप कल्पना की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा (३६८)।

यह पदार्थ चूँकि 'जात' इस संज्ञा से अभिहित है इसलिए जायमान नहीं है। और जायमान के असम्भव होने पर 'जात' यह संज्ञा ही नहीं है जिसके उत्पन्न होने पर उसे 'जायमान' की कल्पना की जा सके। और फिर यदि उत्पन्न होने पर भी जायमान उसे कहा जाय तो उसकी उत्पत्ति असम्भव है जायमान होने के कारण। इसी का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है" -जात उत्पद्यते कस्मा-ज्जायमानो यदा तदा।" जब उत्पन्न हुआ पदार्थ ही 'जायमान' कहलाता है तो वह जायमान पदार्थ किससे उत्पन्न होता है? सिद्ध होने से इसकी उत्पत्ति की कल्पना युक्त नहीं। यही इसका तात्पर्य है। अतएव जायमान पदार्थ उत्पन्न होता है यह कथन युक्ति संगत नहीं (३७०)।

इसके अतिरिक्त निस्पन्न पदार्थ ही विद्यमान कहलाता है। अविद्यमान पदार्थ अनिस्पन्न अथवा अकृत माना जाता है। इन दोनों अवस्थाओं को छोड़कर जायमान पदार्थ यदि विद्यमान नही तो उसे क्या नाम दिया जायगा? इस प्रकार जब "यह पदार्थ है" ऐसा जायमान पदार्थ के विषय में नहीं कहा जा सकता तो स्वरूप के निर्धारण न होने के कारण उसे 'असत्' ही कहा जाना युक्ति संगत है (३७४)।

अतएव परीक्ष्यमाण पदार्थ स्वभावतः सिद्ध नहीं होते। माया के समान वे शून्य हैं यह सिद्ध है (३७५)।

७—शून्यता सिद्धि

शून्यता के वास्तविक अर्थ को निश्चित किये बिना परिग्रह (आसक्ति) छोड़कर संसार में कोई भी ऐसा समर्थ व्यक्ति नहीं जो निर्वाण में स्पृहा उत्पन्न कर सके। और वह शून्यतार्थ जगत के लिए अत्यन्त त्रासकर होने के कारण

कटु भाषण में निपुण पुरुष द्वारा राजा की प्रिय भार्या के मरणाक्रम विषयक समाचार में सौमनस्य उत्पन्न करने के समान किसी भी युक्ति से विद्वानों को अवतार्य है। अहकार ममत्व और स्नेह से विपर्यस्त संसार अनित्य वस्तु में ही क्षणभंगुरता न देखने से मात्र सस्कार के प्रवाह का स्पष्ट ज्ञान न होने से शून्यता दर्शन से विशेष सम्बन्धित नित्यता को निश्चित कर सन्निकर रहता हुआ ससार को अशून्य ही स्वीकार कर रहा है। वक्ता भी माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्य समुत्पन्न (कारण पूर्वक उत्पन्न) है और कर्ता के रूप में कहा गया है। वचन और वाच्य के कारण वक्ता जाना जाता है। यदि ऐसा है तो वक्ता का स्वभाव नहीं है। फलतः वाच्य और वचन दोनों का भी वक्तृरूप नहीं है। जब पुरुष व्यर्थ ही है तो फिर वक्ता का स्वभाव अथवा रूप की भी सिद्धि नहीं होती। अतएव शून्य है। इसी प्रकार वाच्य भी वक्ता और बचन के कारण जाना जाता है। इसलिए उनका स्वभाव नहीं है। अतएव उन तीनों का भी स्वभाव तीनों मे विद्यमान नहीं। इस प्रकार वक्तृ, वाच्य और वचन इन तीनों की स्वभाव शून्यता सिद्ध है (३७५)।

यदि अशून्य नामक कोई पदार्थ होता तो उसका प्रतिपक्षी शून्य पदार्थ भी होता। परन्तु अशून्य पदार्थ का तो अस्तित्व है नहीं। क्योकि किसी भी अहेतुक पदार्थ का आकाश कुसुम के समान सद्भाव असम्भव है। जब अशून्य का सद्भाव असम्भव है तो उसका प्रतिपक्षी शून्य भी अपने प्रतिपक्षी के बिना अस्तित्वहीन है। यदि कुक्कुर (कुत्ता) नहीं तो वह कपि (बन्दर) का प्रतिपक्षी नहीं हो सकता। अन्य विरुद्ध पदार्थ के बिना विरुद्ध पदार्थ कहीं भी संभव नहीं। और उस विरुद्धार्थ के बिना शून्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिये कहा गया है कि समस्त दृष्टियो के निर्गमन का कारण शून्यतामयी दृष्टि है—

जैसे कोई काश्यप नामक पुरुष रुग्ण हो जाय। उसके लिए वैद्य दवा दे। वह दवा उसके सभी दोषों को दूर कर कोष्ठ से न निकले। तो काश्यप क्या मानते हो कि वह रुग्ण पुरुष उस रोग से मुक्त हो जायगा ? काश्यप ने उत्तर दिया। नहीं, भगवान। उस पुरुष का वह रोग अत्यन्त गाढ होगा। भगवान ने कहा— इसी प्रकार काश्यप, समस्त दृष्टियों को शून्यता निःसरण है। जिसकी शून्यतामयी दृष्टि है उसे मैं अचिकित्स्य मानता हूँ (३८२)

शून्यता सर्व दृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभापिरे ॥ ३८३ ॥

"पदार्थ सस्व भावी हैं क्योंकि उनका विशेष रूप उपलब्ध नहीं होता" यह प्रश्न भी ठीक नहीं। क्योंकि इस स्थिति में यदि अग्नि ही उष्ण है तो वह अनुष्ण को क्यों जलाती है ? इसलिए उसका नाम इन्धन भी नहीं क्योंकि इन्धन के बिना अग्नि का अस्तित्व ही नहीं। अतएव विशेषाभाव के कारण भाव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता ॥ ३८४ ॥

यदि पदार्थ का सद्भाव होने से उसके अभाव का निवारण युक्ति संगत माना जा सकता है तो पदार्थ के अभाव की प्राप्ति होने से पदार्थ का कारण भी क्यों नहीं हो सकता ? इसी क्रम से सत्, असत्, सदसत् और न सदसत् यह पक्षक्रम विद्वानों द्वारा एकत्वादि में सदैव प्रयोजनीय है ॥ ३८५ ॥

परमाणु-मात्र का भी जहां सत्य स्वरूप नहीं वहां भव कैसे उत्पन्न हो सकता है ? भावोत्पत्ति सर्वथा न होने पर उत्पादाभाव ही है। समस्त पदार्थों को यथावत् जानने वाले सूर्य की किरण समूह द्वारा अखिल अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करने वाले घोर अज्ञानान्धकार से व्याप्त रात्रि में निद्रा से विपर्यस्त संसार को उल्लास और उद्बोधन देने में तत्पर सम्यक अभिसम्बुद्ध बुद्धों का अभाव भी इसलिए युक्तियुक्त नहीं। इसी कारण से ही तत्वज्ञान की अपेक्षाकर कोई भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। जैसा भाव के विषय में है वैसा अभाव भी स्वीकृत नहीं। अथवा स्वभाव से अजात होने के कारण अभाव भी नहीं। इसलिए "अभावोऽपि चबुद्धानां" कहा हैं। श्रावकों, प्रत्येक बुद्धों और अनुत्तर सम्यक् सम्बुद्धों का अभाव भी युक्त नहीं ॥ ३८६ ॥

जहां अद्वयवाद है वहां अप्राप्त किस पदार्थ का सद्भाव होगा ? जो पदार्थ नित्य हैं उनका स्वरूपतः सद्भाव नहीं है। इस प्रकार सद्भाव व असद्भाव की कल्पना की परीक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि यह कल्पना पदार्थ की नित्यता पर आधारित है और पदार्थ नित्य है नहीं। जो पदार्थ उत्पन्न होने वाले हैं उनका भी स्वरूप नित्य नहीं। इसलिए स्वभाव लक्षण से प्रतिकूल लक्षण वाले पदार्थों के स्वभाव से सद्भाव व असद्भाव की कल्पना करना शक्य नहीं।

हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण स्वभावतः कृतकत्व प्राप्ति से पदार्थों का जो स्वभाव है वह निर्हेतुक ही है। निर्हेतुक सत्व उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार भाव के विप्रतिषेध होने के कारण भाव के अभाव होने से भाव का अभाव ही स्वभाव है। अतएव सभी का यह स्वभाव अभिन्न रूप वाला है। इस प्रकार सभी पदार्थ स्वभाव से अनुत्पन्न होने के कारण एकरूप

वाले हैं अथवा अभाव रूप स्वभाव वाले हैं। जैसे घट, गृह, क्षेत्र आदि के भिन्न होने पर भी सर्वत्र आवरण हीन होने के कारण सामान्यतः अरूप मात्र रूप वाला आकाश भिन्न स्वरूप वाला नहीं होता। और जैसे सभी संस्कृत पदार्थ अनित्य ही हैं. सभी आश्रव दुःखदायक ही हैं। उसी प्रकार जो सभी पदार्थों का द्दष्टा है वह भी पदार्थों के भेद की व्यवस्था नहीं कर सकता। इसलिए एक पदार्थ का जो द्दष्टा है वह सभी पदार्थों का द्दष्टा मना गया है। एक पदार्थ की जो ही शून्यता होगी वही शून्यता सभी की होगी।

भाव स्यैकस्य यो द्दष्टा द्दष्टा सर्वस्य स समृतेः।
एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ।। ३८८ ।।

यदि सभी पदार्थों का अभाव रहने से पर पक्ष का परिहार नहीं होता तो किसी भी युक्ति से शून्यता हेतु द्वारा निराकृत तुम्हारे स्वपक्ष की सिद्धि क्यों नहीं होती? असिद्धि भी नहीं कही जा सकती इसलिए यह नहीं है ।। ३८९ ।।

ससार में जो यह कहा जाता है कि दूषक हेतु सुलभ है, ठीक नहीं। यदि दूषक हेतु होता तो सुलभ होने से प्रतिपक्षी भी उस दूषण की उद्भावना करता। परन्तु उसे यह सम्भव नहीं अतएव दूषक सेतु सुलभ नहीं है ।। ३९० ।।

सत् से यदि असत् ही होता है तो जो असत् है उससे सत् ही होगा। क्योंकि पदार्थ के नाम स्वभाव का अनुकरण नहीं करते। पदार्थ के वे नाम उसके स्वरूप अथवा काल से सम्प्रयुक्त नहीं होते। क्योंकि पहले या बाद में वे अभीष्ट होते हैं। इसी को और स्पष्ट करते हैं सुलोचन वाले के लिए काना (काण), अल्पायु वाले के लिए दीर्घायु वाला, तस्कर (चोर) के लिए देवरक्षित आदि प्रतिकूल अर्थ वाले नाम मिलते हैं। इशलिए 'सत्' ऐसा जो नाम दिया है उससे सत् ही होता है। यदि सत् सत् होता है इस नामकरण से पदार्थ सत् कहा जाय तो असत्व होने के कारण असत् से असत् होता है इस नामकरण से सत्व का प्रतिषेध क्या निश्चित नहीं किया जाता? इसकी सद्भाव की कल्पना के समान असद्भाव का ज्ञान भी युक्त है (३९२)।

यदि सत् पदार्थ का वह लौकिक स्वरूप सस्वभावत्व स्वरूप को स्पर्श नहीं करने वाले शब्दों द्वारा अभिधीयमान होता तो वह उसी स्वरूप से सद्भाव होने के कारण परमार्थ ही होता, लौकिक नहीं। जब लौकिकत्व ही स्वभाव नहीं है

तो उस लौकिक का परमार्थत्व ही सिद्ध होता। और परमार्थ दर्शन से योगी संसार से मुक्त हो जाते हैं (३९३)।

भाव का सद्भाव होने पर उसका निषेध होने से अभाववाद होता। जब उक्त न्याय से भाव ही उत्पन्न नहीं होता तब भाव के अभाव से अभावकी उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि भ.व के बिना अभाव कहाँ से सिद्ध होगा। (३९५)।

हेतु के पूर्व शून्यता नहीं होती। यदि पश्चात् होती है ऐसा मानें तो शून्यता का कृतकत्व सिद्ध होगा। और कृतक माया की हाथी के प्रपञ्च के समान विसंवादक है। परन्तु शून्यता तो अक्षर सामान्य रूप है, विसंवादक नहीं। फलतः शून्यता को हेतु से साध्य नहीं माना जा सकता। यदि उसे ज्ञापक हेतु के अभिप्राय से कहा गया हो तो भी हेतु सिद्ध नहीं होता। क्योंकि "यहां हेतु है" यह किसी की प्रतिज्ञा का साधक वचन है। यदि उसकी प्रतिज्ञा का वह हेतु है तो उससे और होता। वैसा होने पर पक्षधर्म नहीं होता है। इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का अवगम नहीं होता। और हेतु की प्रतिज्ञा का अन्यत्व नही होता। जब अन्य नहीं होता तो अन्यत्व के अभाव से प्रतिज्ञा का स्वरूप के समान यह हेतु नहीं होता। इस प्रकार हेतु की विद्यमानता सिद्ध नहीं होती। अतएव पदार्थों का नि.स्वभावत्व सिद्ध हो जाता है (३९७)।

यदि दृष्टान्त की कल्पना की जाती है तो हेत्वर्थ से असम्बद्ध रूप में ही कल्पना की जाती है अथवा सम्बद्ध रूप में? यदि सम्बद्ध रूप में की जाती है तो हेतु के दूषण द्वारा ही उसका निराकरण हो जाता है। और यदि असम्बद्ध रूप में की जाती है तो उन दोनों के प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि में सामर्थ्य न होने से ही उसका कोई उपयोग नहीं। तो उस कल्पना से क्या तात्पर्य?

यदि हेत्वर्थ से असम्बद्ध दृष्टान्त से अर्थ-सिद्धि मानी जाती है तो काक के कृष्ण दृष्टान्त से आत्मा भी कृष्ण हो जाता। परन्तु यह सम्भव नहीं। अतएव भाव के अभाव से दृष्टान्त का होना युक्ति संगत नहीं (३९७)।

शून्यता का उपदेश तत्व के प्रतिपादन के लिए होता है। और तत्व का स्वरूप स्वभाव है। यदि किसी पदार्थ का सद्भाव होता तो तत्व परमार्थ होता। इस प्रकार मोक्षार्थी उसी का दर्शन शुभकारी मानते, शून्यता का नहीं। तब वह गुण नहीं, प्रत्युत केवल अपवाद रूप प्रवृत्त होने के कारण दोष ही है। जब निःस्वभाव पदार्थों का विपर्यास होने के कारण सस्वभावत्व देखा जाता है तब लोक का अभिनिवेश हेतु होता है। पदार्थों का अध्यवसाय हेतुक कर्म-क्लेश से

जन्म-उत्पत्ति होने से संसार में प्रवेश हो जाता है। तब निःस्वभाव पदार्थों के निः-स्वभावत्व को प्रकाशित करने वाला यह शास्त्र आरोप व अपवाद के खण्डन द्वारा निःस्वभावत्व को प्रदर्शित करता है। लोक (संसार) भी पदार्थों के निःस्वभावत्व का अभ्यास कर प्रतिबिम्ब का निर्माण करने वाले मायादिक पदार्थों के समान पदार्थ के अभिनिवेश में तद्धेतुक कर्म-क्लेश के क्षय से रागादिक समस्त बन्धनोंके छेदन करने से विमुक्त हो जाता है। इस कारण से यह शास्त्र पदार्थों के निर्मूल स्वभावत्व मात्र को उपस्थित करता है।

को गुणः शून्यतादृष्ट्या स्याच्चेद्भावः स्वभावतः।
बन्धः कल्पनया दृष्टेः सैवेह प्रतिषिध्यते ॥ ३९८ ॥

जैसा भगवान ने कहा है—निःस्वभाव योग से सभी पदार्थ शून्य होते हैं। अप्रणिधान योग से सभी पदार्थ निर्निमित्त (कारणहीन) होते हैं। प्रज्ञापारमिता द्वारा सभी पदार्थ शुद्ध होते हैं—इसी प्रकार जो कारणों द्वारा उत्पन्न होता है वह अजात है क्योंकि उसकी उत्पत्ति स्वभावतः नहीं होती। जो कारणों (प्रत्यय) के आधीन होता है वह शून्य कहा जाता है। जो शून्यता को जानता है वह अप्रमत्त कहा जाता है। और भी। यहां प्रतीत्यसमुत्पाद का होना असम्भव नहीं। ऐसा कहा गया है कि कल्पना द्वारा दृष्टि का बन्ध होता है और उसी का यहां प्रतिषेध किया जाता है। कल्पना अभूत स्वभाव वाले पदार्थ का आरोपण करती है। उससे पदार्थों का बन्ध होता है। संसार के दुःखों को नष्ट करने के लिए उस बन्ध को दूर करने के लिए प्राणियों के दुःखों से दुःखित महाकारुणिक तथागत बोधिसत्व प्रतीत्यसमुत्पाद के अविरुद्ध पदार्थों के निःस्वभावत्व मात्र को दिखाते हैं।

जब लौकिक पदार्थ के विषय में कहने की इच्छा होती है तो बाह्य और आध्यात्मिक भेद से पञ्च स्कन्ध वाले पदार्थ को भी लौकिक मानना चाहिए। परन्तु जब लोकोत्तर तत्व की व्याख्या की जाती है तो आर्यज्ञान की अपेक्षा पञ्च स्कन्ध वाला पदार्थ की भी व्याख्या स्वभाव-शून्य रूप से की जाने योग्य है। इनके अतिरिक्त यदि कहने की इच्छा होती है और जो वादी द्वारा युक्त नहीं स्वीकार किया जाता वह यथार्थ अथवा लौकिक नहीं होता। इसलिए जो यह मानता है वह "यह सत् है" और "यह असत् है" ऐसा कहने का समर्थ नहीं। यदि चित्तचैतसिक है तो घट पटादिक भी हैं क्योंकि वे समस्त लोक से प्रसिद्ध हैं। और यदि वे घट पटादिक विचार में नहीं हैं तो चित्तचैतसिक भी नहीं है क्योंकि फिर कोई युक्ति (तर्क) नहीं। ऐसा होने पर 'यह सत् है' यह असत् है' ऐसा कहना सम्भव नहीं।

एकं सदसदेकं च नेदं तत्त्वं न लौकिकम् ।
तेनेदं सदिदमसद्वक्तुमेव न शक्यते ॥ ३९९ ॥

पक्ष का होने पर अन्यथा सिद्ध हो जाने के कारण चिरकाल से उसमें दूषण हो जाता है। परन्तु सत् और असत् दोनों पक्षों का खण्डन करने वाले को पक्ष का परिग्रह ही नहीं उसके लिए सत्-असत् दोनों पक्षों का खण्डन करने से चिरकाल पर्यन्त भी दूषण उपस्थित करना सम्भव नहीं। आकाश रूपी है नहीं और चिरकाल से उसका रूपी होना सम्भव भी नहीं रहा। इस प्रकार वादियों द्वारा भी उनके आश्रित तीनों पक्षो के असम्भव होने पर शून्यतावाद में दूषण उपस्थित करना सदैव से भी असम्भव रहा। क्योकि पण्डितों द्वारा शून्यतावाद में •दूषण लगाना आकाश में चित्र बनाना अथवा लोहे की प्रतिमा निर्मित करने के समान पीड़ा कारक समझना चाहिए। जैसे सूर्य की किरणों से निरस्त तिमिर (अन्धकार) द्वारा चिरकाल में भी आकाश काला नहीं किया जा सकता उसी प्रकार गम्भीर, उदार और अचिन्त्य प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी सूर्य किरण द्वारा समस्त वादियों के समय (सिद्धान्त) रूपी अन्धकार खण्डित हो गये ऐसा समझना चाहिए। और भी कहा गया है। जैसे यहाँ अनुपम सूर्य अत्यन्त घने अन्धकार समूह का उन्मूलन करता है उसी प्रकार यह शून्यतावाद रूपी सूर्य सत्-असत् आदि सिद्धान्त रूपी अन्धकार का उन्मूलन करता है।

४–विज्ञानवाद

माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवाद के विपरीत विज्ञानवाद का उत्थान हुआ। तदनुसार जगत् के समस्त पदार्थ शून्य भले ही हों पर शून्यात्मक प्रतीति के ज्ञापक विज्ञान को सत्य पदार्थ अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। चित्त, मन अथवा बुद्धि की इस अभूतपूर्व प्रतिष्ठा के कारण ही इसे विज्ञानवाद कहा गया है। यह उसका आध्यात्मिक नाम है। धार्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से इसे **योगाचार** कहा गया है। इसमें शमथ और विपश्यना रूप योग-मार्ग का आचरण किया जाता है। मैत्रेयनाथ का अभिसमयालंकार तथा असग का योगाचार भूमिशास्त्र योगाचार के विशिष्ट प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। तिब्बती परम्परानुसार सन्धि निर्मोचन, लंकावतार तथा घनव्यूह नामक ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं। ई० पू० प्रथम शताब्दी से ई० तृतीय शताब्दी तक इस सम्प्रदाय का प्रारम्भकाल, तृतीय से पंचम शताब्दी तक उत्थानकाल और उसके बाद विकासकाल कहा जाता

है। इन्हें क्रमशः सूत्रकाल, शास्त्रकाल तथा न्यायकाल की भी संज्ञा दी गई है।[1]

विज्ञानवाद को निरालम्बनवाद भी कहा गया है। उसकी सिद्धि आलम्बन के बिना भी की जाती है। शून्यवाद के विरोध में विज्ञानवादियों ने यह तर्क उपस्थित किया कि चूँकि ज्ञान के माध्यम से ही बाह्यार्थ सत्ता की प्रतीति होती है अतः विज्ञान ही परमार्थ माना जाना चाहिए। असंग ने इस परमार्थ के विषय में कहा है कि वह 'परमार्थ न सत् है, न असत्, न तथा है न अन्यथा; न इसका उदय होता है न व्यय, न इसकी हानि होती है न वृद्धि; यह विशुद्ध नहीं होता, पुनः विशुद्ध होता है। यही परमार्थ का लक्षण है।[2] तथता, निर्वाण, धर्मधातु आदि नाम इसके पर्यायार्थक है। विज्ञानवाद की दृष्टि में बाह्य दृश्य पदार्थ की सत्ता नहीं। मात्र चित्र ही विचित्र रूपों में दिखाई देता है। कभी वह देह के रूप में और कभी भोग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। विज्ञानवाद का यही अद्वयवाद है।

दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥[3]

विज्ञानवाद में ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण अथवा ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान की सत्ता है। ये सभी विज्ञान चित्त के काल्पनिक परिणमन है, वास्तविक नहीं। वहाँ आत्म दृष्टि को भी भ्रम मात्र माना है। अवस्था भेद से विज्ञान आठ प्रकार का है—चक्षु-र्विज्ञान, स्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान और आलयविज्ञान। प्रथम सात विज्ञानों को प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं। आलयविज्ञान में उनका आविर्भाव होता है और उसी में वे विलीन हो जाते हैं।

आलय विज्ञान विज्ञानवाद का बहुचर्चित सिद्धान्त है। यह उसका एक ऐसा कवच है जिसके बल पर विज्ञानवादी आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का यथाशक्य संरक्षण किया है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसे अपनी कटु आलोचना का विषय बना लिया। स्थिरमति ने आलय का अर्थ क्लेशोत्पादक धर्मों के बीजों

१—बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास पृ० ४०१

२—बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ३९०

३—लंकावतार, ३.२७

का स्थान, कार्य रूप से सम्बद्ध रहने के कारण समस्त धर्मों के लय होने का स्थान तथा कारण रूप से सब धर्मों में अनुस्यूत होने का स्थान किया है।[1]

आलयविज्ञान को मूलविज्ञान, कर्मस्वभाव और कारणस्वभाव भी कहा गया है। इस दृष्टि से उसे बौद्धेतर धर्मों में मात्र आत्मा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह साश्रव और अनाश्रव कर्मों का बीज स्थान है। कुछ उसे प्रकृतस्थ मानते हैं और कुछ भावनामय मानते हैं। सृष्टि-परम्परा का वह एक विशेष कारण है। बीज आलयविज्ञान के आधार पर धर्म को उत्पन्न करते हैं और धर्म आलयविज्ञान के गर्भ में बीज का संग्रह करते हैं। यह आलय विज्ञान पाँच चैत्त धर्मों से सम्बद्ध है—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना। इनमें आलयविज्ञान उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है—उपेक्षा वेदना तत्र। वह अनिवृत-अव्याकृत है।

महायानी ग्रन्थों में आलय विज्ञान को सूक्ष्मस्वभावी बताया गया है। प्रवृत्ति निवृत्ति में वह कारण है। लंकावतार में इसे 'ओघ' संज्ञा दी गई है। महासांघिक निकाय इसे 'मूल विज्ञान' कहता है। महीशासकों ने संसार कोटि निमुस्कन्ध, स्थविरवादियों ने भवांग विज्ञान तथा सर्वास्तिवादियों ने आलय नाम से उसे अभिहित किया है।[2]

पदार्थ स्वरूप विचार

पदार्थ को धर्म अथवा भाव भी कहा गया है। ये दो प्रकार के है—संस्कृत और असंस्कृत। संस्कृत पदार्थ हेतुप्रत्ययजन्य होते है और असंस्कृत पदार्थ स्वतः सिद्ध होते हैं। संस्कृत धर्म ९४ है—रूप ११, चित्त ८, चैतसिक ५१ और चित्तविप्रयुक्त २४ तथा असंस्कृत धर्म ६ हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध, अचल, संज्ञावेदनानिरोध तथा तथता। असंस्कृत धर्मो म अन्तिम तीन धर्म विशेष हैं। अचल का अर्थ है उपेक्षा। इसमें योगा दुःखादि की उपेक्षा कर देता है। बाद में वह संज्ञा, वेदना आदि जैसे मानस धर्मो का आत्मवश कर लेता है और तदनन्तर योगी तथता (परमतत्व) को प्राप्त करता है। इस तथता को अविकृत, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ और धर्मधातु भी कहा गया है।

निःस्वभाववाद—विज्ञानवाद में सत्ता दो प्रकार को वर्णित है – पारमार्थिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता का स्वभाव दो प्रकार का है—

१—त्रिशिका भाष्य, पृ० १८

२—बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ३९१

परिकल्पित और परतन्त्र। विकल्प अथवा भ्रान्ति को परिकल्पित सत्ता कहा जाता है और प्रत्यय से उद्भूत परतन्त्र सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता परिनिष्पन्न स्वभाव वाली रहती है। इसी को तथता कहा जाता है। इनमें परिकल्पित स्वभाव प्रज्ञप्तिसत् है, परतन्त्र स्वभाव प्रज्ञाप्ति और वस्तुसत् है, तथा परिनिष्पन्न स्वभाव द्रव्यसत् है। ये तीनों स्वभाव परस्पर व्यतिरिक्त नहीं। स्वयं में निःस्वभावी होते हैं। उनमें क्रमशः लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता तथा परमार्थनिःस्वभावता रहती है।

संस्कृत धर्म उत्पत्ति, स्थिति, और समाहार का प्रतीक है। हीनयान में इन संस्कृत पदार्थों को स्वीकार किया गया था पर माध्यमिकों ने उसे नहीं माना। वे संस्कृत पदार्थों का उत्पादन न संस्कृत रूप से मानते हैं और न असंस्कृत रूप से। उनकी दृष्टि में ये उत्पादादि न व्यस्त रूप से पदार्थ के लक्षण होंगे और न समस्त रूप से। किसी अन्य उत्पादादि से भी संस्कृत लक्षणता की सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा अपर्यवसानदोष की प्रसक्ति हो जायगी। इस प्रकार महायान में संस्कृत धर्मों की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश को अस्वीकार करते हुए संस्कृत पदार्थों का निषेध करते हैं और उन्हें निःस्वभाव मानते हैं।

विज्ञानवाद के उक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि उसने बाह्यार्थ के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार किया गया और उनके दर्शन को मात्र वासनाजन्य मानकर कल्पना प्रसूत माना गया। परन्तु यह ठीक नहीं। न तो वासना के माध्यम से पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा सकता है और न ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति मानी जा सकती है। ज्ञान से तो पदार्थ के स्वरूप को परखा जाता है। और फिर जब पदार्थ ही नहीं होगा तो ज्ञान का क्या आधार रहेगा। आलय विज्ञान को नित्य मान कर भी यह समस्या सुलझती नहीं। इस सबके बावजूद विज्ञानवाद का योगदान अविस्मरणीय रहेगा।[1]

आर्यदेव का चित्त विशुद्धि प्रकरण और योगाचार

शून्यवादी आर्यदेव का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। वह है—चित्तविशुद्धिप्रकरण। इसे सर्वप्रथम महा० हरप्रसाद शास्त्री ने J. A. S. B. (पृ० १७५) में १८९८ में प्रकाशित किया था। इसके बाद प्रभुभाई भिखाभाई

१—विशेष देखिये—बौद्ध-धर्म-दर्शन, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, अभिधर्म कोश आदि ग्रन्थ।

पटेल ने पुनः इसका सम्पादन-संशोधन कर विश्व भारती से १९४९ में प्रकाशित कराया। श्री पटेल के अनुसार चित्तविशुद्धिप्रकरण का लेखक चतुःशतक के लेखक से भिन्न है। पर यह सही नहीं लगता। चतुःशतक के रचयिता आर्यदेव के काल में तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ चुका था। इसलिए चतुःशतक के रचयिता को चित्तविशुद्धिप्रकरण के रचयिता से पृथक् नहीं किया जा सकता।

उत्तर काल में महायान बौद्धधर्म की दो शाखायें हुईं—पारमितानय और मन्त्रनय। मन्त्रनय भी अनेक शाखाओं में विभक्त हुआ। चूँकि चित्तविशुद्धि-प्रकरण में भी योगाचार (५) शब्द आता है अतः संभवतः यह ग्रन्थ योग-तन्त्रयान से सम्बद्ध रहा होगा।

वज्रयान के विकास में माध्यमिक और योगाचार की दार्शनिक भूमिका का विशिष्ट योगदान रहा है। योगाचार में तो चित्त ही सब कुछ है यह चित्त बोधिचित्त का रूप है जो निर्वाण प्राप्ति का कारण होता है। आर्यदेव ने इसी चित्त (बोधिचित्त) का वर्णन किया है। बौद्धधर्म, विशेषतः महायान में चित्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे मूलतः "अनाविल" और "प्रकृतिप्रभास्वर" कहा गया है। माध्यमिक दर्शन का बोधिचित्त महायान सिद्धान्तों का पालन करने पर क्रमशः प्राप्त हो सकता है। पर चित्त विशुद्ध रूप से मन पर आधारित है। महायान बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति बोधिसत्व अवस्था प्राप्त कर सकता है। वासना और कर्म के कारण उसकी मूल अवस्था आवृत है। जैन सिद्धान्त का यह स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इस विशुद्ध बोधिचित्त से इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है (जन्मन्यत्रैव बुद्धत्वं प्राप्यते नात्र संशयः, चित्त० ८५)। वज्रयान में प्रपञ्च रहित प्रज्ञा और करुणामूलक उपाय का सुन्दर संमिश्रण तथा मन्त्र, साधना और धारणी का समन्वय बुद्धत्व प्राप्ति में कारण होता है।

चित्तविशुद्धिप्रकरण के अनुसार विशुद्ध चित्त होने पर पाप पुण्य की व्यवस्था भी अनावश्यक हो जाती है—

तस्मादाशय मूला हि पापपुण्यव्यवस्थितिः।
इत्युक्तमागमे यस्मान्नाप्तिः शुभचेतसाम् ॥१६॥

यहाँ यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार रजक मलीन द्रव्य से मलीन वस्त्रों को स्वच्छ करता है (वही, ३८), विष का प्रकोप से विषसे दूर किया जाता है, (वही ३६) तथा कर्णगत जल को कान में और जल डालकर समूचा जल

निकाला जाता है (वही, ३७) उसी प्रकार राग और काम भी राग और काम से ही दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि साधक ज्ञानवान् हो।

दुर्विज्ञैः सेवितः कामः कामो भवति बन्धनम्।
स एव सेवितो विज्ञैः कामो मोक्ष प्रसाधकः ॥ चित्त० ४२ ॥

यह चित्त पंकजात पद्म के समान पंक रूप राग, द्वेषादि से दूषित नहीं होता। वह तो संगमरमर पत्थर अथवा दर्पण के समान अलिप्त रहता है (वही, ११५, ११६)। इस ग्रन्थ में वैदिक यज्ञ-याज्ञ विधि आदि की तीव्र आलोचना की गई है।[1] ग्रन्थ के विषय से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वज्रयान के बीच योगाचार-काल में स्पष्ट रूप से सामने आने लगे थे।

बौद्ध न्याय

भारतीय दर्शनों को परम्परा से दो विचारधाराओं में विभक्त किया गया है– आस्तिक धारा और नास्तिकधारा। वैदिक संस्कृति में आस्तिक और नास्तिक शब्दों की व्याख्या वेद की स्थिति को स्वीकार और अस्वीकार करने पर आधारित है। इस दृष्टि से "वेदनिन्दको नास्तिकः" जैसी परिभाषायें साहित्य जगत् में उन्मुक्त रूप से सामने आयीं। जैन-बौद्ध विचारधारायें अथवा श्रमण संस्कृति नास्तिक विचारधारा के अन्तर्गत रखी गयी। परन्तु इन शब्दों की यह व्याख्या युक्ति संगत नहीं। वस्तुतः आस्तिक और नास्तिक शब्दों का सम्बन्ध आत्मा और लोक के अस्तित्व को स्वीकार करने और न करने पर निर्भर है। इस तथ्य के आधार पर चार्वाक् को ही नास्तिक कहा जायगा और शेष विचारधारायें आस्तिक के रूप में मान्य होगीं।

आत्मा और ज्ञान—वैदिक दर्शन में ब्रह्म (आत्मा) को चिद्रूप मानकर ज्ञान को अन्तःकरण का धर्म स्वीकार किया गया है। तदनुसार ब्रह्म की विशुद्ध अवस्था में ज्ञान प्रतिभासित नहीं होता।[2] सांख्य के अनुसार ज्ञान पुरुष (चैतन्य) का धर्म न होकर प्रकृति का विकार है। नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का अयुतसिद्ध गुण मानते हैं। जैन दर्शन में आत्मा उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक है, उपयोग और चैतन्य स्वरूप है। ज्ञान का आत्मा से तादात्म्य

१. विशेष देखिये, चित्तविशुद्धिप्रकरण—प्रभु भाई पटेल, भूमिका।
२. अन्तःकरणावृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाण चैतन्यं—वेदान्तपरिभाषा, पृ. १७

सम्बन्ध है। आत्मा की उस शक्ति का नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाना जाता है और उस शक्ति का नाम दर्शन है जिससे तत्वश्रद्धान होता है।[१] परन्तु बौद्ध दर्शन ज्ञान को चित्तप्रवाह के रूप में स्वीकार करता है। वहां ज्ञान जड़ पदार्थों का धर्म नहीं है।[२] वह विज्ञानधारा, आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से ज्ञेयों का प्रतिभास करता है।

प्रमाण-लक्षण—यही ज्ञान प्रमाण है - "प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्"। तथा "प्रमाकरण प्रमाणम्। प्रमा का करण क्या हो, यह विवाद का विषय है। न्याय-वैशेषिक सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रभाकर अनुभूति को और जैन ज्ञान को ही करण मानते हैं। पर बौद्ध परम्परा में अविसंवादिज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है और सारूप्य और योग्यता को करण माना गया है।[३] उसके अनुसार ज्ञान न मीमांसकों की तरह परोक्ष है, न नैयायिकों की तरह ज्ञानान्तरवेद्य है और न सांख्यों की तरह प्रकृति का धर्म है। वह तो जैनों की तरह स्वसंवेदित्व धर्म से विभूषित है।[४] विज्ञानवाद में बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया अतः वहां अविसंवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित है। पर सौत्रांतिक बाह्यार्थवादी हैं। अतः यह अविसंवादित्व स्वलक्षण पर आश्रित है।

प्रमाण भेद—प्रमाण के भेदों में बौद्ध और बौद्धेत्तर दार्शनिक एकमत नहीं। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण स्वीकार करते है। नैयायिक उसमें उपमान और जोड़ देते हैं। जैन इन सब प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष में गर्भित कर देते हैं। परन्तु बौद्ध-दृष्टि में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण है। उनके अनुसार विषय स्वलक्षणात्मक और सामान्यलक्षणात्मक होते हैं। स्वलक्षण में वस्तु का स्वरूप शब्दादि के बिना ही ग्रहण किया जाता है। यह वस्तु-ग्रहण प्रत्यक्ष का विषय है। पर सामान्यलक्षण में अनेक वस्तुओं के साथ वस्तु का ग्रहण होता है। यह वस्तुग्रहण अनुमान का विषय होता है। बौद्धों के अनुसार आगम आदि प्रमाणों

---

१. तत्वार्थवार्तिक, अ. १, पृ०४; प्रवचनसार, प्रथम अधिकार।

२. सौन्दरानन्द, १६.२८.२९

३. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देप्यभिप्रायानवेदनात्॥ प्रमाणवा. २.१.

४. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्तः तत्त्वसंग्रह, १३४४
सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्—न्यायवि० १।११

का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है क्योंकि शब्द आदि से सम्बद्ध परोक्ष अर्थ का बोध लैंगिक होता है जो अनुमान का ही शब्दान्तर है। अर्थापत्ति, स्मृति, अभाव, प्रत्यभिज्ञान, उपमान आदि प्रमाणान्तरों को भी अनुमान में ही गर्भित कर दिया जाता है। जैनों के अनुसार प्रमाण के दो ही भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान परोक्ष प्रमाण के ही भेद हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण—नाम, जाति आदि से संयुक्त, कल्पना विरहित और निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं--प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादि संयुतम्। प्रत्यक्ष के चार भेद हैं--इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्वलक्षण को विषय करता है। दिङ्नाग का यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। हीनयान ने आत्मा का निषेधकर प्रत्यक्ष को आन्तरिक बाह्य इन्द्रियों पर निर्भर कर दिया। महायान में माध्यमिकों ने शून्यवाद को अपनाया और विज्ञानवादियों ने 'आलय विज्ञान' को स्वीकार कर अनात्मवाद से उत्पन्न तर्कों को निरस्त्र करने का प्रयत्न किया। यही विज्ञानधारा आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से पदार्थज्ञान करती है। पदार्थज्ञान मे चार कारण माने गये हैं—आलम्बन, सहकारी, अधिपति, और समनन्तर। चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को समनन्तर प्रत्यय (वस्तु को साक्षात्कार करने की शक्ति) बनाकर जो मन उत्पन्न होता है वह मानस प्रत्यक्ष है।[1] निर्विकल्पक ज्ञान को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है (स्वसवित् निर्विकल्पकम्) और समाधि से उत्पन्न प्रत्यक्ष को योगिप्रत्यक्ष कहते है। यह प्रत्यक्ष कल्पना विरहित, निर्भ्रान्त और अर्थक्रियानुसारी होतो है।[2]

बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिकों के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षणिक परमाणु रूप स्वलक्षण से उत्पन्न होता है। इसमें स्वलक्षण पदार्थ आलम्बन कारण है, पूर्वज्ञान समनन्तर (उपादान) कारण, इन्द्रियाँ अधिपतिकारण, और प्रकाश आदि सहकारी कारण है। क्षणभंगुरता होने पर भी सन्तानमूलक एकत्वाध्यवसाय से अविसंवाद मान लिया जाता है। अनुमान में ग्राह्य विषय तो सामान्य लक्षण है, क्योंकि अग्निसामान्य ही उसका विषय है फिर भी प्राप्त स्वलक्षण होता है। अतः प्राप्य स्वलक्षण की अपेक्षा उसमे प्रामाण्य है।[3] यहाँ अनुमान रूप

१—प्रमाणवार्तिक, ३.२४३

२—तत्वार्थ वार्तिक, १, १२; न्या० कु० च०, पृ० ४६; न्याय वि० पृ०, ११

३—प्रमाणवार्तिक २,५७-५८; सिद्धिविनिश्चय टीका; प्र० भाग, पृ० ९९-१००

सविकल्पक ज्ञान है। प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थ को ग्रहण नहीं करता। अर्थ और शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है। इस स्थिति में अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग कैसे रह सकता है? और जब वह शब्द के अकार को धारण नहीं करता, तब वह शब्दग्राही कैसे हो सकता है? अतः जो ज्ञान अर्थ से संसृष्ट शब्द को वाचक रूप से ग्रहण करता है, वही सविकल्पक है, अन्य नहीं। यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान में सम्भव नहीं हैं। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। जैन दर्शन ने इस प्रकार के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को उपचार से प्रमाण माना है क्योंकि परम्परा से ये सभी ज्ञान सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होते हैं।[1] सन्निकर्ष को भी यहाँ प्रमाण नहीं माना गया है।

बौद्धदर्शन की मुख्य भूमिका क्षणभगुरवाद की है। अतः वस्तु के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होते ही वस्तु अतीत हो जाती है और तज्जन्य ज्ञान अर्थ के आकार का होता है। वह ज्ञान निराकार नही होता अन्यथा स्वरूप का प्रत्यक्ष, ज्ञानों मे परस्पर भेद और नियतार्थ में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः ज्ञान अर्थाकार होता है।

> भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
> हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः तदाकारार्पणक्षमम्॥ प्रमाण वा० ३.२४७
>
> अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
> तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाणं मेयरूपता॥ वही, ३.३०५

अनुमान प्रमाण—साधन (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्गी) के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहा जाता है।[2] जैसे धूम (साधन) से अग्नि (साध्य) का ज्ञान होना। साधन को हेतु भी कहा जाता है। हेतु का साधारणत. लक्षण है—साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणं हेतु। 'अन्यथानुपपत्ति' 'अथवा' अविना-भाव' हेतु का लक्षण माना जाता है। बौद्ध दर्शन में साध्याविनाभाव को हेतु का लक्षण न मानकर उसके तीन लक्षण स्थापित किये गये हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष असत्व। साध्य को सिद्धि के स्थान को पक्ष कहते हैं (पर्वत)। जहाँ साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव बताया जाय वह सपक्ष है (पाकशाला)। और जहाँ साध्य के अभाव में साधन का भी अभाव

१—जैन न्याय, पृ० ६४-६५,

२—साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।

दिखाया जाय वह विपक्ष है (सरोवर)। जिसमें ये तीनों लक्षण मिले वही सम्यक् हेतु है। जैसे इस पर्वत पर अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे सरोवर। हेतु का यह लक्षण असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों से विरहित है। अतः त्रैरूप्य ही हेतु का निर्दोष स्वरूप है।[1]

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान वह ज्ञान है जो निश्चित साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान कराये और परार्थानुमान वह ज्ञान है जो अविनाभावी साध्यसाधन के वचनों से साध्य का ज्ञान कराये। इस परिभाषा के आधार पर स्वार्थानुमान को ज्ञानात्मक और परार्थानुमान को शब्दात्मक कहा जा सकता है। स्वार्थानुमान के तीन अंग है—धर्मी, साध्य और साधन। धर्मी को पक्ष भी कहा जाता है।

उपर्युक्त हेतु के स्वरूप को नैयायिक पञ्चरूप वाला मानते हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। त्रैरूप्यवादी बौद्ध हेतु के इस पञ्चरूप में से अबाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक मानते है। तथा अविनाभाव को तादाम्य और तदुत्पत्ति से नियत बताते हैं। वहाँ हेतु के तीन भेद कहे गये हैं—स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु। प्रथम दो हेतु विधिसाधक है और अन्तिम हेतु प्रतिषेध साधक है। जैन दर्शन में हेतु के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर भेद किये गये है। जैन दर्शन में अकलंक ने हेतु के सामान्यतः दो भेद किये हैं—उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप। ये हेतु विधेयात्मक और प्रतिषेधात्मक होते हैं। उनमें प्रत्येक के ६ भेद हैं—स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। बौद्धदर्शन में स्वभाव और कार्य ये दो ही भेद स्वीकार किये गये हैं। जैनदर्शन में हेतु का एक ही रूप माना गया है—अविनाभाव नियम। उसके दो भेद हैं—सहभाव नियम और क्रमभाव नियम।

न्याय दर्शन में पदार्थानुमान के पाँच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनमें जैन दर्शन में प्रतिज्ञा और हेतु को आवश्यक माना गया है। परन्तु बौद्ध दर्शन केवल हेतु के प्रयोग को ही आवश्यक मानता है। उनके अनुसार पक्ष का प्रयोग निष्प्रयोजन है। मात्र हेतु के प्रयोग से ही गम्यमान पक्ष में साध्य का ज्ञान हो जाता है। सांख्य और मीमांसक उक्त पाँच हेतुओं में उपनय और निगमन को अवश्यक नहीं मानते।

१—न्या० कु० च० पृ० ४३८, हेतुस्त्रिरूप. न्यायप्रवेश, पृ० १, प्रमाण

हेत्वाभास—हेतु के स्वरूप से विरहित होकर भी जो हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो वह हेत्वाभास कहलाता है। नैयायिक हेतु के पञ्च रूप के समान पाँच हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरूद्ध अनैकान्तिक, कालात्यापदिष्ट और प्रकरणसम। बौद्ध त्रैरूप्य के रूप में तीन हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। जैन दर्शन में भी साधारणत: इन्हीं हेत्वाभासों को स्वीकार किया गया है। पर अकलंक मात्र असिद्ध को हेत्वाभास मानते हैं।

वादविवाद्—वादविवाद की परम्परा भारतीय संस्कृति में बहुत प्राचीन है। मिलिन्दपञ्ह में वाद के दो रूपों का उल्लेख आया है—पण्डितवाद और राजवाद। पण्डितवाद में शैक्षणिक स्तर पर वादविवाद किया जाता है। पर राजवाद में कठोर अनुशासन बना रहता है। न्यायशास्त्र में इसके तीन भेद मिलते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। वीतरागकथा को वाद कहा जाता है। इसमें तत्त्वनिर्णय करना मुख्य उद्देश्य है। यहाँ छल, जाति आदि निग्रह स्थानों का प्रयोग नहीं किया जाता। परन्तु जल्प और वितण्डा में जय-पराजय की भावना होती है और उसमें छलादि निग्रह स्थानों का यथासंभव प्रयोग किया जाता है। बौद्धदर्शन में उपायहृदय आदि ग्रन्थों में निग्रहस्थानों का प्रयोग प्रचलित रहा है परन्तु धर्मकीर्ति ने उनका प्रयोग अनुचित बताया है। यहाँ अहिंसा का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है। इसलिए धर्मकीर्ति ने असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नामक दो निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है।

शब्द अथवा आगमप्रमाण—शब्द अथवा आगम प्रमाण भी विवादास्पद विषय है। वैशेषिक शब्द को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते है। मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध बताते हैं तथा शब्द को नित्य मानकर वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वैयाकरणों के अनुसार शब्द क्षणिक होने से वे अर्थबोधक नहीं होते अत: वे स्फोट नामका एक अन्य नित्य तत्त्व मानते है तथा यह मत व्यक्त करते हैं कि संस्कृत शब्दों में ही अर्थबोधक शक्ति होती है। पालि-प्राकृत आदि देशी भाषाओं में उस शक्ति का अभाव है। जैन दार्शनिक शब्द या आगम प्रमाण को तीर्थङ्कर के वचनों से निबद्ध साक्षात् या प्रणीत ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रखते, बल्कि व्यवहार में संकेतादि से उत्पन्न ज्ञान को भी आगम प्रमाण में गर्भित कर लेते हैं। परन्तु बौद्ध[1] शब्द को ही प्रमाण नहीं मानते क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ उनकी दृष्टि में न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति। उनकी दृष्टि में शब्द विकल्प वासना से उत्पन्न होते हैं। अत: वे बाह्यार्थ का ग्रहण कराने में असमर्थ हैं। जैसे

---

१. प्रमाण वा. टी., ३. २१२; तत्वसंग्रह, पृ-४४०

"अंगुलि के अग्रभाग में सौ हाथी हैं।"[१] इस प्रकार के तथ्यहीन वाक्यों के उच्चारण में व्यक्ति अथवा वक्ता दोषी नहीं। क्योंकि यदि वक्ता गूंगा हो तो वह इस प्रकार का असत्य ज्ञान नहीं करा सकता। इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करने में तो शब्दों की ही महिमा मूल कारण है। अतः पुरुष भी यदि ये शब्द बोलेगा तब भी असत्य ज्ञान होगा। अतः विकल्प वासना से शब्दों का जन्म होता है और शब्दों से विकल्पों का जन्म होता है। शब्द अर्थ का स्पर्श भी नहीं करता।

बौद्धदर्शन में श्रुत को अविसंवादि नहीं माना है। उसक चिन्तन है कि जिस शब्द का प्रयोग सत् अर्थ में होता है वही शब्द अर्थ के अभाव में भी देखा जाता है। अतः शब्द विधि रूप से कथन नहीं करते। इसलिए अन्यापोह को ही शब्दार्थ मानना चाहिए। बौद्ध दृष्टि में शब्द और लिंग का विषय माना जाय तो वह बाह्य अर्थ न स्वलक्षण रूप हो सकता है और न सामान्य रूप हो सकता। सामान्य रूप में अर्थ भी शब्द का विषय इसलिए नहीं है कि वास्तविक सामान्य ही असम्भव है, अर्थ क्रियाकारी न होने के कारण। अपोह (निषेध) के दो पर्युदास और भेद हैं प्रसज्य। पर्युदास भी दो प्रकार का है—बुद्धिरूप और अर्थरूप। सविकल्पक ज्ञान में अर्थाकार रूप से जो अर्थ का आभास होता है उसे अपोह कहा जाता है। जिसके द्वारा अन्यका अपोह (निषेध) किया जाय उसे अन्यापोह कहते हैं। वह अन्यापोह शब्द का मुख्य रूप से अभिधेय है। तात्पर्य यह है कि शब्दज्ञान में जो प्रतिभासित हो उसे ही शब्दार्थ मानना उचित है। शब्द ज्ञान में न तो प्रसज्यप्रतिषेध (तुच्छाभावरूप) का ही अध्यवसाय होता है और न स्वलक्षण का ही प्रतिभास होता है। किन्तु बाह्यार्थ की निश्चायक एक शाब्दी बुद्धि उत्पन्न होती है। अतः उसे ही शब्दार्थ मानना चाहिए। शब्द का अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी कार्य कारण भाव से भिन्न नहीं है क्योंकि बुद्धि में जो अर्थ का प्रतिबिम्ब होता है वह शब्द-जन्य है इसलिए उसे वाच्य कहते हैं और शब्द का जनक होने से वाचक कहते हैं।[२]

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने दार्शनिक क्षेत्र में आकर चिन्तन की भूमिका को आगे बढ़ाया। आध्यात्मिक सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप देना और उस पर अपने ढंग से विचार प्रस्तुत करना बौद्ध दार्शनिकों का विशेषता है। दर्शन के क्षेत्र में यह उनका अविस्मरणीय योगदान कहा जा सकता है।

—: ० :—

१. प्रमाण वा. टी. १. पृ० २८८, जैन न्याय, पृ. १३६

२—जैन न्याय, पृष्ठ २४३–२४६

मूल-टिप्पण्युपयुक्तग्रन्थसङ्केतविवरणम्[1]

AK.	अभिधर्मकोश (BB)
AKV.	अभिधर्मकोश व्याख्या
B.	भास्कर, डॉ० भागचन्द्र जैन
BI.	Bibliotheca Indica Series
BCp.	बोधिचर्यावतारपञ्जिका (BI.)
Dsn.	धर्मसङ्गणी (p. T. S.)
JASB.	Journal of Asiatic Society of Bengal.
JRAS.	Journal of Royal Asiatic Society.
Kp.	काश्यपपरिवर्त, सम्पादक–Baron, A. १९२६.
MK.	मूलमाध्यमिक कारिका
MV.	माध्यमिकवृत्ति, चन्द्रकीर्तिकृत प्रसन्नपदा सहित (BB)।
MVt.	महाव्युत्पत्ति (BB).
NS.	न्यायसूत्र
NK.	न्यायकन्दली (प्रशस्तपादभाष्य)
S.	महा० हरप्रसाद शास्त्री, चतुःशतिका, Memoirs of the Asiatic Society of Bengal, vol. 3, No. 8, pp. 449–514.
T.	तिब्बती सीरिज चतुःशतक
V.	वैद्य, डॉ० पी० एल०, Eteedessur Aryadevaet Son Catuh Satak, १९२३
Vt.	अभिधम्मत्थसङ्ग्रह प्रकरण पर विभाविनीटीका



१—इस तालिका में निर्दिष्ट ग्रन्थ प्रायः वही है जिनका उपयोग डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य ने अपने चतुःशतक में किया था ।

भूमिका में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

प्राचीन ग्रन्थ

अभिधम्मत्थसंगह— सं० रेवतधम्मथेर, वाराणसी, १९६५

अभिधर्मकोश टीका— सं० राहुल सांकृत्यायन, वाराणसी

अभिधर्मकोश भाष्य— सं० डॉ० पी० प्रधान, पटना, १९६७

अभिधर्म विनिश्चयसूत्र— सं० डॉ० एन० एच० सामतानी, जायसवाल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पटना, १९७१.

उदान— सं० जगदीश कश्यप, नागरी संस्करण

इतिवुत्तक— सं० जगदीश कश्यप ना० स०

अंगुत्तरनिकाय— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

गुह्यसमाजतन्त्र— सं० १९३१ वी० भट्टाचार्य, बड़ोदा,

चतु:शतक— सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, विधुशेखर भट्टाचार्य, कलकत्ता १९३१

चित्तविशुद्धिप्रकरण— प्रभुभाई भिखाभाई पटेल, वि० भारती १९४९

तत्त्व सग्रह— सं० कृष्णमाचार्य, बड़ोदा, १९२६

तत्त्वार्थवार्तिक— सं० डॉ० महेन्द्रकुमार, वाराणसी, १९५३

दीघनिकाय— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

थेरगाथा— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

थेरीगाथा— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

धम्मपद— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

न्यायकुमुदचन्द्र— सं० महेन्द्र कुमार, बम्बई, १९३८

न्यायावतार वार्तिकवृत्ति—सं० दलसुख मालवणिया, बम्बई, १९४९

प्रमेयकमलमार्तण्ड— निर्णय सागर, बम्बई

बोधिचर्यावतार— सं० शान्तिभिक्षु शास्त्री, लखनऊ, १९५५

मज्झिमनिकाय— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

मूलमाध्यमिककारिका— सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १९६०

माध्यमिकावतार— सं० आयस्वामी शास्त्री, .O.R. मद्रास, १९३०

मिलिन्दपञ्ह— सं० आर० डी० वाडेकर, बम्बई, १९४०

ललितविस्तर— स० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १९५८

ललितविस्तारा— सं० भानुविजय गरिगवर, अहमदाबाद, १९६३
विनयपिटक— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०
विभङ्ग— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०
विसुद्धिमग्ग— धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९४०
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि— सं० महेश तिवारी, वाराणसी, १९६७
सद्धर्मपुण्डरीक— सं० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १९६०
साधनमाला— सं० बी० भट्टाचार्य, बड़ोदा, १९२५, १९२८
सिद्धिविनिश्चय टीका— सं० महेन्द्र कुमार, वाराणसी, १९५९
सुत्तनिपात— सं० धर्मरत्न, वाराणसी, १९६०
सौदरानन्द — सं० जोन्सन, लन्दन, १९२८
संयुत्तनिकाय— सं० जगदीश कश्यप, ना० सं०

आधुनिक ग्रन्थ

उपाध्याय, बलदेव बौद्धदर्शनमीमांसा, वाराणसी, १९५४
उपाध्याय, भरतसिंह, बौद्धधर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन, इलाहाबाद, १९५३
जोशी, लालमणि, स्टडीज इन दि बुद्धिस्ट कल्चर आफ इन्डिया, वाराणसी, १९५६
नरेन्द्रदेव, बौद्ध-धर्म-दर्शन, पटना, १९५६
पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १९६३
ओरिजन्स आफ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १९५७
भास्कर, भागचन्द्र जैन, जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, श्रमण भारती, नागपुर, १९७२
मूर्ति, टी० आर० व्ही० दि सेन्ट्रल फिलासिफी आफ बुद्धिज्म, लन्दन, १९५५
शास्त्री, कैलाशचन्द्र, जैन न्याय, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।
सांकृत्यायन, राहुल, दर्शन दिग्दर्शन, इलाहाबाद, १९४४
सेरवात्स्की थ० बौद्ध न्याय, Buddhist Logic का हिन्दी अनुवाद, वाराणसी
हरदयाल, दी बोधिसत्त्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, १९३२

चतुःशतकम्

चतुःशतकम्

सप्तमं प्रकरणम्

विषयसम्भोगाभिनिवेशप्रहाणोपायसन्दर्शनम्

१५१

§ १. क्लेशप्रहाणोपाय उक्तः । साम्प्रतं संसारदोषोपलम्भसन्दर्शनेन तत्रोत्पाद्योद्वेगार्थं कर्मप्रहाणोपायकथनकाम आह—

अस्य दुःखसमुद्रस्य सर्वथान्तो न विद्यते ।
निमग्नस्येह बालस्य भीतीस्ते किं न जायते ॥ १ ॥

१५२

§ २. अत्राह । यौवनादिदर्पसंमूढस्य संसाराद् भयं नोद्भवति । उच्यते—

पश्चाद् यौवनमुत्पद्य पूर्वमुत्पद्यते पुनः ।
अस्मिंल्लोके स्थितिरपि गतिस्पर्धेव दृश्यते ॥ २ ॥

§ ३. तस्य यौवनदर्पो न युज्यते । जन्ममरणवत् । चक्रपीडकच्छायावच्च । यथा प्राणिनां जन्ममरणे परिवर्तमाने पूर्वं भूत्वा पश्चाद् भवतः, अपि च, यथा छिद्रवता चक्रेण तिलान् पीडयतां छाया पूर्वं भूत्वा पश्चाद् भवति, तथा यौवनमपि भवति । द्रुतः क्षिप्रोऽहं पूर्वमहं पूर्वमिति परस्परमाजौ साहसेन रथि धावकवत् । एवं यौवनादीनां अस्थितिः परीक्षणीया ॥ २ ॥

१५३

§ ४. अत्राह । यद्यपि गतिधर्मकत्वाल्लोकस्यावश्यमेव गतिस्तथापि स्वयं तस्य न तस्माद्भयम् । उच्यते—

स्वेच्छया विद्यते नैव गतिरन्या भवेत् तव ।
पारतन्त्र्योऽपि निर्भीको भवेत् कः खलु बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

§ ५. संसारे नित्यं तत्र तत्र भ्रमतः स्वेच्छया देवमनुष्यादिषु गतिषु गमनं कदापि न भवति । अपि च, यः स्वेच्छया त्यक्त्वा न गच्छति स आत्म-

वशो न भवति । यदि [पुनर्] आत्मवशवान् निर्भीको भवेत् तस्मान् मूढनरः कोऽन्यो भवेत् । बुद्धिमान् हि परवशभूतो न निर्भीको भवति ॥ ३ ॥

१५४

§ ६. आह चात्र :

संसृतौ संसृतेर्जन्तोर्यत्कर्मवशतो गतिः ।
छेत्तव्यं कर्म तत् कस्माद् गतिर्नैव भवेदिति ॥

अत्राह । अस्य सुखाभिमुखत्वाद् गतिश्छेत्तुं न शक्यते । अनागते जन्मनि योगः करिष्यते । उच्यते—

सर्वमनागते नास्ति सर्वदापि पृथग्जनः ।
अतीते त्वं यथात्रापि न तथेति तथा गुरुः ॥ ४ ॥

§ ७. अनागते कालेऽनन्तं कर्म । अतीतेऽपि तथा । त्वमप्यतीते काले सर्वतः पृथग्जनः । अतीतः कालस्ते तथा निरर्थको जातस्तथानागतोऽपि मा भूदिति तथा कुरु । क्लेशोपशमनमननुभवतस्तेऽतीतः कालो गतः । तस्मादेवमपि यथास्य भवस्यान्तो भवेत् तथोद्यमो कार्यः ॥ ४ ॥

१५५

§ ७. यथातीतः कालो निरर्थकः क्लेशेनातिक्रान्तस्तद्वदनागतोऽपि तथा न भविष्यतीति तथा कुर्वित्युक्तम् । अत्राह—

"अस्मिन्नेवोद्यमं काले कुर्याद् विमुक्तिसिद्धये ।
निश्चयः परलोके कः सद्धर्मभक्तिसम्भवे ॥"

सूत्रे[1]ऽपि उक्तं "लभ्यते बुद्धोत्पादशतं लभ्यते च मनुष्यलाभसमूहः । श्रद्धा-धर्म श्रवणं च शतेऽपीदृशेषु कल्पेष्वतिदुर्लभमिति ।"

§ ८. अत्राह । अथास्य संसारस्यान्तोऽस्ति न वा । यद्यस्ति तदा विना प्रयासेनान्तोऽस्तीत्युद्यमो निरर्थक एव । अथ नास्ति । तदा कृतेऽपि प्रयासेऽन्तो नास्तीत्युद्यमो निरर्थक एव ।

उच्यते । नेदमेकान्तेनावधारयितुं शक्यम् । कुत इति । निःस्वभावत्वात् । निःस्वभावस्यान्तवत्त्वानन्तवत्त्वज्ञानाज्ञानहेत्वभावात् । तद्वयस्याप्यनेकप्रत्ययान्तरायत्वात् । प्रत्ययानामप्यतिदुर्लभत्वादिदं द्वयमत्र निश्चयेन व्यवस्थापयितुं न शक्यते । तमनिश्चयमुपपादयन्नाह—

---

१. महाव्युत्पत्ति, २०६.५, मज्झिमनिकाय भाग, १, पृ० ४२६.

श्रोतृश्रोतव्यवक्तृणामुद्भवोऽत्यन्तदुर्लभः ।
संसारस्तेन सूत्रे नानन्तवानन्तवान् न च ॥ ५ ॥

१५६

§ ९. यद्यपि प्रवचनस्थितया द्वयं भवत्येव तथापि श्रोता न सम्भवति । कुत इति । यस्मात्—

प्रायेण यदसत्पक्षं परिगृह्णन्ति मानवाः ।
तस्मात्पृथग्जनाः प्रायो ध्रुवं गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥ ६ ॥

§ १०. यस्मात् सत्त्वाः प्रायेणाज्ञानान्धाः परक्लेशे रमन्ते । एते हि नरा असत्पुरुषसंसर्गेण [illegible]त् प्रायेण दुर्गतिं गच्छन्ति ॥ ६ ॥

१५७

§ ११. आह चात्र—

"यत्पृथुं गच्छति गतिं गतिं गच्छति वा पृथक् ।
गतिं पृथुं जनयति तेनोक्तोऽत्र पृथग्जनः ॥"

§ १२. अत्राह । यद्यपि दुर्गतिरक्षणत्वाद्[1] विविध क्लेशभावाच्चाभिरति-स्थानं भवत्येव तथापि पुण्यद्वारा सुगतिगमनमभिरतिस्थानं भवति । उपद्रवरहितत्वात् । तस्मात् तत्र खेदो न कर्तव्यः । उच्यते । दुर्गताविव सुगतावपि खेद उचितः । तथा हि—

दृश्यते भूतले पापविपाकस्य विडम्बना ।
भवो हि भासते तेन सूनास्थानसमः सताम् ॥ ७ ॥

सुगतावुपन्ना अपि [illegible]-दारिद्रदौर्बल्यप्रज्ञादारिद्रसदवद्याचारशङ्कारूपविडम्बनातिव्यसनाप्रीतिमनुभवन्ति॥७॥

१५८

§ १३. अत्राह । यदि सतां भवः सूनास्थानसमः किं तस्माल्लोकस्य नोद्वेगः । उन्मत्तहस्तिनो मदोन्मदवद् उन्मत्तस्वभावत्वात् । किम् अस्मिन् लोके सर्वस्योन्मादः । तथेत्याह । उन्मत्तलक्षणत्वात् । इह [illegible]दनवस्थितचित्त-वृत्ति पुद्गलं लोकश्चेदुन्मत्त इति कथयेत् । स्वभावेन चलचित्तमप्यन्वस्थित-वृत्तिर्भव (कथयेत) । तथाहि—

---

१. महाव्युत्पत्ति, § १२०, बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० १०८

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारौ मूकताहृष्टाविहाक्षणाः ॥

विज्ञानस्यानवस्थानादुन्मत्तो जायते यदि ।
तत्को भवस्थं न ब्रूयादुन्मत्त इति पण्डितः ॥ ८ ॥

§ १४. पण्डिताह्यनवस्थितविज्ञा[१]नमेवोन्मत्तं वदन्ति । यो भवपर्यापन्न आर्यैर्नोन्मत्त इत्युच्यते, यस्य चैकस्मिन्नालम्बने विज्ञानं सदावतिष्ठते, न स कश्चिदपि पृथग्जनो वर्तते । तस्मादुन्मादहेतुरिति मद्यपानवदयमा[२]त्मश्रेयस्कामेन परिवर्जयितुं युक्तः ॥८॥

१५६

§ १५. तदेवं सूनास्थानसमत्वाच्च[३]पण्डितैः परिवर्जनीयो भवः । स च सर्वकर्मप्रवृत्तिनिरोधेन[४] परिव[५]र्जनीयः । [६]अस्ति चास्य भवस्य परिवर्जनोपायश्च सर्वकर्मक्षयः[७] । स कथं भवतीति तदुपायावेदनायाह—

ह्रीयमानां रुजं दृष्ट्वा गमनादेर्विपर्यये ।
सर्वकर्मक्षये तेन करोति मतिमान् मतिम् ॥ ९ ॥

१६०

§ १६. यथा गम[८]नादिजनिता रुजश्चङ्क्रमणादि[९]परिवर्जने पूर्वाक्षेपवेग[१०]क्षयादनुपूर्वं क्षीयन्ते तथा सर्वेण सर्वं सर्वरुजः सर्वकर्मोच्छेदैः[११] । ततः सर्वकर्मप्रबन्धोच्छेदमर्थयमनाः[१२] कुशलःपुरुषः सर्वकर्मक्षयाय[१३] वर्तते ॥ ९ ॥

§ १७. तदेवं सर्वकर्मक्षयः सर्वदुःखनिवृत्तिकारणमिति सर्वकर्मक्षये मतिमता मतिः कार्येति । इतश्च युक्तः संसारत्यागो धीमतां भयकारणत्वात् । तथाहि—

---

१. विज्ञानस्यार्थश्चित्त
२. भवस्यात्रोल्लेखः ।
३. T. सूतास्थानसमत्वात्
४. T. (साहित्पर) निरोध द्वारा ।
५. T. वर्जनीयः ।
६. T. न तत्र वावत्यमिदं वर्तते ।
७. T. ह्रीयमाना रुजो
८. S. गमनादौ
९. T. रुजः परिवर्जने
१०. S. आवेधपरिक्षयाद्
११. तुलनार्थं द्रष्टव्यम् दिव्यावदान, पृ. ३९, १४०, २७०, दीघनिकाय, द्वीतीय भाग; पृ-५७
१२. S. सकलोच्छेदमन्वयमानः
१३. S.सर्वकर्मक्षयायायं

यदैकस्यापि कार्यस्य दृश्यते नादिकारणम् ।
तदा कस्य भयं न स्याद् दृष्ट्वैकस्यापि विस्तरम् ॥ १६ ॥

§ १८. इहैकस्यापि तावत् कार्यस्य भौतिकस्य चैत्तसिकस्य[१] वा पूर्वपारम्पर्येण परिक्ष्यमाणस्यादिकारणं यदा न दृश्यतेऽनादिमत्त्वाज्जगत्प्रवृत्तेः[२]। एवमेवैकस्यापि कार्यस्यानन्त्यमतिविस्तारं[३] दृष्ट्वा तदा कस्येह पुरुषस्याधिगतभयस्य जगत्प्रवृत्तिदर्शनाद्भयं न स्यात् ॥ १० ॥

१६१

§ १९. अपि च । [illegible] परिस्पन्दते, तस्य यदि नियमतः[४] सिद्धिः स्याद् युक्तं स्पन्दितुम् । तस्य च —

सिद्धिः सर्वस्य कार्यस्य नियमेन न जायते ।
नियमेन कृतस्यान्तः किं तदर्थं विहन्यते ॥ ११ ॥

§ २०. इह हि सर्वस्यैव कार्यस्य प्रारब्धस्य सिद्धिर्भवति न वा । सिद्धस्य तु सर्वस्यैव[५] कार्यस्य नियमादवश्यमेव विनाशो भवति । तत्र यस्य कृतस्याचिरा[६]दवश्यमेव नियमतो विनाशः किं तदर्थमयं बालो[७] विहन्यते ॥ ११ ॥

१६२

§ २१. यथा च कार्यस्य[८] ध्रुवो विनाशस्तथा कर्मणोऽपीति प्रतिपादयन्नाह—

यत्नतः क्रियते कर्म कृते नश्यत्ययत्नतः ।
विरागोऽस्ति न ते कश्चिदेवं सत्यपि कर्मणि ॥ १२ ॥

§ २२. इह खलु महता यत्नेन बहुभिः साधनोपायैः कर्म क्रियते तत्तु प्रयत्नेन बहुभिरपि साधनैः कृतमयत्नादेव कार्यवद्[९] विनश्यति । तदेवमतिमहा-

---

१. S. भौतिकस्य वात्तिकस्य पैत्तिकस्य वा चैत्तसिकस्य
२. T. (साहित्यिक) एकैकजन्मपरम्परायाः
३. S. सविस्तरं
४. S. नियोगतः
५. T. सिद्धस्य तु कार्यस्य
६. S. सुचिराद्
७. T. लोको
८. S. कायस्य
९. S. कायवत्

पुरुष[1]कारसाधन[2]मपार्थकमिति कर्मणि[3] कथं नाम न स्याद् वैराग्यं विदुषः। तव पुन[4]स्तत्कर्माचरणाद् विरागाभावो जड़तामेव वेदयते ॥ १२ ॥

१६३

§ २३. अत्राह यद्यप्ययत्नात् कार्यं[5] नश्यति तथापि सुखहेतुत्वान्न तत्र वैराग्यं भवतीति । उच्यते—

अतीतस्य सुखं नास्ति नाप्यप्राप्तस्य विद्यते।
वर्तमानोऽपि यात्येव श्रमोऽयं कस्य नाम ते ॥ १३ ॥

§ २४. अतीतस्य तावद् विज्ञानस्य सुखं नास्ति निरयत्वात् । अनागतस्य सुखं नास्ति स्थित्यभावात् । तदेवमसति सुखे तेनानुग्रहाभावात् सुखसम्भोगलालसस्य योऽयं सुखहेतुकर्मोपार्जनश्रमो भवतः स कस्य कृते भवतु । विफल एव सर्वथा सुखहेतूपार्जनपरिश्रमोपायास इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

१६४

§२५. अत्राह । यद्यप्येवं तथापि स्वर्गसुखार्थमवश्यमेव कुशलं कर्म कर्तव्यमिति उच्यते—

स्वर्गो निरयतुल्योऽपि विदुषां स्याद् भयङ्करः।
सर्वथा दुर्लभस्तेषां भवो यो न भयङ्करः ॥ १४ ॥

§२६. तत्र विविधसंक्लेशोदय[6]द्वारत्वात् तीव्रतरः[7] [illegible]-सन्दीपितत्वान् मोहभूयस्त्वाच्च स्वर्गमपि निरयवद् भयङ्करत्वात् परिवर्जयन्ति सन्तः। अपि शब्दश्चात्र भिन्नक्रमः[8] स्वर्गशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। तिष्ठतु तावदन्यो भवः स्वर्गोऽपि विदुषां निरयतुल्य इति व्याख्येयम् ॥ १४ ॥

---

१. T. एवं महापुरुष
२. S. धन
३. T. साधनेऽपार्थके कर्मणि
४. S. तत्पुनःपुनः ।
५. S. कार्यं
६. S. क्लेशाय
७. T. तीव्र
८. T. भिन्नक्रमप्रयोगः

१६५

§२७. अपि च । यथा खलु पण्डिताः संसारदोषप्रत्यवेक्षणनिपुणाः [illegible] दुःखाग्नि-ज्वालापरिगतमेकान्तदुखं संसारं यथावदीक्षन्ते तथा खलु—

संसारदुखं जानीयाद् यदि बालोऽपि सर्वशः ।
गच्छेदत्यन्ततो नाशं सह चित्तेन तत्क्षणम् ॥ १५ ॥

§२८. यद्दुःखं भावयन्त[1] आचार्याः संसारादुद्विजन्ते तद्यपि पृथग्जनः [illegible] तदा तत्क्षणमेव[2] शतधा[3] विशीर्येत हृदयम् । अनवबोधात् त्वयं[4] अभिरमते संसारे । अत्यन्ततो नाशं गच्छेन्मोक्षमित्यर्थः ।

१६६

§२९. अपि च । संसारे क्रियासु सामर्थ्यवतः समीहमानस्य सुखं स्यात् । स च निरूप्यमाणः—

अमानी दुर्लभः सत्त्वो[5] मानी नास्ति घृणान्वितः ।
उक्तः सुदुर्लभस्तेन ज्योतिर्ज्योतिःपरायणः ॥ १६ ॥

§ ३०. शक्तस्यैव क्रियासु पुरुषकारेणा[6]नुपात्त[7]सुखवेदनीयविषयोपार्जनाद् [illegible] पुरुषस्य[8] मान उपजायते । मानतश्चायमात्मानं विशेषतः परिकल्पयन्नधिकसहमानस्तदुपजिघांसया निर्दयो भवति । निर्दयस्यं चास्यापाय[9]पर्यवसानतया [कुत्र सन्ति] सम्पदो यतोऽस्य सुखानुभवः सम्भाव्येत । अतएव भगवता ज्योतिर्ज्योतिःपरायणः पुद्गलो दुर्लभ इत्युक्तं कुलभोगैश्वर्य-मानेन नियतमधःपतनात् ॥ १६ ॥

१६७

§ ३१ .यद्येवं मानिनः पापाचरणादपायनिष्ठा इति गर्हिता विपर्ययेण त्वमानिनः[10] स्वर्गसुखसाधनधर्माचरणात् प्रशस्यास्ततश्चैकान्तेन [न] गर्हितः संसार इति । उच्यते । धर्मेऽपि वैपरीत्यादयुक्तः सङ्गः । तथा हि—

---

१. S. आकारयन्तः
२. T. देहेन सह तत्क्षणमेव
३. T. शब्दोऽत्र न विद्यते ।
४. T. त्वयम् रिक्तेन सहायेन प्रतिच्छशत्रुकार्यवत्
५. T. शक्तः
६. T. शक्तस्यैवानुपात्तः
७. S. उपात्त
८. T. पुरुषस्य दधिमांसवतः
९. T. दुर्गति
१०. S. ब्रह्ममानिनः

निवृत्त विषयस्येह विषयः किल लभ्यते ।
केनापि हेतुना धर्मो विपरीतोऽपि स स्मृतः ॥ १७ ॥

§ ३२. यः किल विषयेष्वनास्थस्तान्[1] परित्यजति अ[illegible]मान् तस्ये[2]तपच्युतस्येश्वरकुले स्वर्गे[3] वोत्पन्नस्य [इष्टो विषयो लभ्यते यस्मादयं त्यागशील इव स्वयं लब्धरूपं फलमभिसम्पादयति तस्माद् धर्मे विपरीतः । स चैवं विपरीतोऽपि केनापि हेतुनेति सतामनाभिमतेन केनापिविपरीत भू] तेन लोकेनाङ्गीकृतश्चेति नात्राभिनिवेशो न्यायान् ॥ १६७ ॥

१६८

§ ३३. एवं तावद्धर्मे विपरीतत्वात्त्याज्यः । यदपि तद्ध[4]र्मफलमैश्वर्यं तदपि स्ववशत्वाभावाद्[5] विविधव्यसनस्थानत्वाच्च नास्थेयं विदुषा । तथा हि—

पुण्यस्य फलमैश्वर्यं तच्च रक्ष्यं सदान्यतः ।
कथं नाम तदात्मीयं यद् रक्ष्यं सर्वदान्यतः ॥ १८ ॥

§ ३४. पूर्वकृतस्य पुण्यस्य[6] फलमैश्वर्यम् । तच्चात्मीयसंज्ञितम् । तच्चेह सदैव रक्षणीयं[7] प्रत्यर्थिभ्यः । यदि तदात्मीयं[8] स्यान्नैव[9] प्रत्यर्थिभ्यो रक्षणीयं स्यात् । यच्च परैराच्छेद्यत्वात् सततमाधीयमान[10]रक्षाविधानं कथं तदात्मीयमिति शक्यं वक्तुम् । तदयं रक्षाविधान निरन्तरः परमनिर्वृत्तः कदा नाम विषयरसमास्वादयेत् । तस्मात् फलमप्यस्य नानुग्रहाय पर्याप्तम् ॥ १८ ॥

१६९

§ ३५. अनवस्थितत्वाच्च लौकिकस्य धर्मस्य तत्रास्था न ज्यायसी । तथा हि—

या या लोकस्थितिस्तां तां धर्मः समनुवर्तते ।
धर्मादपि ततो लोको बलवानिव दृश्यते ॥ १९ ॥

---

१. S. तान् विषयान्
२. S. तस्येह, T. ततः
३. T. इश्वरकुले स्वर्गे वोत्पन्नस्य : S.
४. T. तत्कर्म
५. S. वशत्वाभावाद्
६. S. कर्मणः
७. S. संरक्ष्यते
८. S. आत्मनीनम्
९. T. स्यानैवात्मीय (?) दस्यूदकाग्निवातादिभ्यः
१०. T. विधीयमान

§ ३६. लोको हि यां यां स्थितिं व्यवस्थापयति कन्यादानोद्वहनादिकां तां तां धर्मः समनुवर्तते[१]। तस्यास्तस्याः स्थिते धर्म इति प्रसिद्धेः[२]। न चैव स्वभावव्यवस्थितस्य न्यायो युज्यते यद्देशकालभेदयोरन्यथात्वादन्यथा स्यात्। ततो नात्रात्यन्तादरो युक्तः ॥ १६ ॥

१७०

§ ३७. अत्राह अभिलषितविषयसमुत्पादमन्तरेण सुखवेदनानुभवो नास्ति। सच विषयोत्पादः कृतपुण्यानामेव यस्माद् भवति तस्माद् विषयार्थिना कर्तव्य एव धर्म इति। उच्यते—

विषयश्च शुभेनेष्टो विषयः स च कुत्सितः।
श्रेयान् यस्य परित्यागो निष्पन्नेनापि तेन किम् ॥ २० ॥

§ ३८. योऽय[३]मिहेष्टपञ्चकाम[४]गुणात्मको विषयो[५] रूपशब्दगन्धरसस्पष्टव्यसंज्ञितः स शुभेन कर्मणा लभ्यते। स एव सत्वानां मोक्षकामाणां कुत्सितोऽमेध्यालिप्तगात्र इव। यस्य च श्रेयान् परित्यागोऽनर्थमूलकत्वाद् अनित्य दुःखाऽशुच्यनात्मकत्वेनानिर्वृतकरत्वाद् रागादिकक्लेशोत्पादकत्वेन प्रमादस्थानत्वाच्च निष्पन्नेनापि तेन न किञ्चित् प्रयोजनमिति।

१७१

§ ३९. अत्राह। यद्यपि विषयस्य कुत्सितत्वाद् विषयसाधनार्थो धर्मो निष्प्रयोजनस्तथाप्याज्ञारसास्वादसुखगुरूणि राज्यानीति तदर्थं राज्याधिपत्यपुण्येषु प्रवर्तितव्यमिति। उच्यते। नैव हि सर्वेषामाज्ञया कार्यं भवन्ति। ततश्च—

कार्यं नास्त्याज्ञया यस्य तस्य धर्मो निरर्थकः।
आज्ञार्थः खलु यस्य स्यात् स जडो नाम जन्मनि ॥ २१ ॥

§ ४०. यस्य हि समीहितार्थसंसिद्धिरन्यथा न सम्भवति स [परस्तत्साधयितुं प्रवर्तिष्यत इत्याज्ञादानश्रमं प्राप्नोति। परो विनाज्ञया ध्रुवं सिद्धिमनायासेन

१. T. अनुवर्तते
२. S. प्रसिद्धिगमनात्
३. T. अयमिति शब्दो न विद्यते
४. S. काय
५. T. इष्टो विषयो।

प्राप्नोति । तस्याज्ञया न किमपि प्रयोजनम् । यस्याज्ञया न प्रयोजनं तस्य तद्धेतुर्धर्मोऽपि निरर्थकः । एवं तावदाज्ञार्थः स धर्मो न भवति । अथाज्ञार्थो भवति तस्य धर्मः सफल इति तदर्थो युज्यते । अत्रोच्यते—

आज्ञार्थः खलु यस्य स्यात् स जडो नाम जन्मनि ।

४१. जडस्य हि युक्तमयुक्तं च चरितुं शक्तिर्नास्त्येवेत्याज्ञायाः प्रार्थनं भवति । पण्डितस्तु बाह्यानन्द (?) प्रयोजनश्रमं सुखं न मन्यते । अन्यच्चायमाज्ञाबाधया प्रीतिविरहेण तदननुकूलेषु प्रवृत्त्यावस्थितविष्टवद् कार्यं करोति । तस्मादतिदुःखस्थानावकाशात् प्रार्थनं न युज्यते । यद्ययं शुभकर्मणाज्ञामात्रं प्रार्थयते अशुभस्कन्धराज्यं प्रार्थयते । तस्माज्जडतरः कोऽपरो भवेत्]

१७२

§ ४२. अत्राह । स्वर्गपदे नरेषु धर्मफलमैश्वर्यविशेषमुपलभ्यानागतफलविशेषेच्छायां कः खलु पण्डितः श्रद्धावान् पुण्यानि न कुर्यात् । उच्यते—

धर्मरागेण रागे ते दृष्ट्वा फलमनागतम् ।
अनागतस्य दृष्टान्तं किं नु तत् कुरुतेऽभयं ॥ २२ ॥

§ ४३. अनागताभीष्टफलकाम एष कुशलेषु संस्कारेषु रागं पोषयति । तत्फलं तु तदनन्तरमुत्पन्ना दुर्गतिरत्यन्तमनिष्टम् । तत्परित्यागेन फलवद्धर्मेऽप्यास्था त्याज्या । फले धर्मे च रागाभावो हि नूनं परिनिर्वाणधर्मको भवति ॥ २२ ॥

१७३

§ ४४. अन्यच्च फलनिमित्तं शुभमिष्यते—

पुण्यं सर्वप्रकारेण भृतानां भृतिसन्निभम् ।
शुभं न कामयन्ते ये ते कुर्वन्त्यशुभं कथम् ॥ २३ ॥

यथा भृतकः फलेच्छायां भृत्यर्थं कर्म करोति तथा सोऽपि जनः फलनिमित्तं दानभिक्षायां प्रवर्तते । तस्माद् भृतकवद् भवतीतीष्टफलनिमित्तं दानादिकर्मणि न प्रयतितव्यम् । तत्र पण्डितानां तस्मान्निवर्तनं नाशङ्कितव्यम् तथाहि—

शुभं न कामयन्ते ये ते कुर्वन्त्यशुभं कथम् ॥

अभीष्टे हि कार्ये स्वपरसुखोद्भवहेतुतया पुण्यकार्ये प्रधाने सति ये तदपि संसारहेतुत्वान्न कामयन्ते ते साम्प्रतं स्वपरात्यन्तानर्थभूतमशुभं कथं कुर्वन्ति । ये भवहेतुरिति पुण्यान्यपि कर्तुं न शक्नुवन्ति ते कथं दुर्गतिमूलमित्यपुण्यानि कुर्वन्ति ॥ २३ ॥

१७४

§ ४५. **जगद् यन्त्रसमूहाभं मायापुरुष सन्निभम् ।**
येऽपश्यंस्ते व्यक्ततरं गच्छन्ति पदमुत्तमम् ॥ २४ ॥

यन्त्रं ह्यनेकसूत्रकाष्ठादिभः सम्पद्यते । माया रहस्यमन्त्रमहौषधबलप्रत्ययोद्भूतस्त्रीपुरुषवेशाः । यथा यानि विपरीतानि कर्माण्यपण्डितानां संक्लेशहेतवस्तानि खलु तत्स्वरूपपण्डितानां यन्त्रमायाकाराणां स्त्रीपुरुषस्वभावशून्यतादर्शिनां संक्लेशहेतवो न भवन्ति तथा ये जगत् प्रतीत्यसमुत्पादाद् यन्त्रमायादिवत् स्वभावरहितमभावस्वरूपं पश्यन्ति ते [illegible] संसारमुत्तीर्य पुण्यपापकार्यातीतनिर्वाणपुरैकान्तगा भवन्ति । ।२४ ॥

१७५

§ ४६. तस्मादेवं मायास्वभावस्य अविश्वासधर्मस्वभावस्य च । (१) विज्ञानाम्—

येषां भवति संसारे न रतिर्विषयैरपि ।
एतस्मिन् सर्वथा तेषां रतिर्नैवोपपद्यते ॥ २५ ॥

योगाचारे चतुःशतके मानुषेष्टसम्भोगाभिनिवेशप्रहाणोपाय सन्दर्शनं सप्तमं प्रकरणम् ॥

विषयरागो हि बालानां संसार स्थितिहेतुः । येषां धर्मस्वभावसुप्रत्यवेक्षणान्न संसारेऽभिरतिर्न चानुकूलेस्वपि देवमानवविषयेष्वभिरतिर्ननु तेषामुद्वेगात्यनुकूलजन्मजराव्याधिमृत्युशोकपरिदेवनासंग्रामविशेषवन्यन्नस्मिन्यभिरतिर्भवेदित्यसम्भवो मन्यते । तेषामिह रतिः सर्वथा नोपपद्यत इत्युच्यते । पण्डितानां हि रतिहेतुविपर्यासप्रहाणात् संसाररति र्न भवति ॥ २५ ॥

अचार्यार्थदेवीये बोधिसत्त्वयोगाचारे चतुःशतके मानुषाभीष्टविषयसम्भोगाभिनिवेशप्रहाणोपायसन्दर्शननामक सप्तमप्रकरणवृत्ति ।

अष्टमं प्रकरणम्

शिष्यचर्या

१७६

१. यो महता रागबन्धनेन बन्धनसमर्पितत्वादात्मनोऽन्यस्य च रागप्रहाणं न सम्भाव्यत इत्याशङ्कते, तमाह—

नरेषु प्रतिकूलेषु[१] चिरं स्नेहो[२] न तिष्ठति।
एवं सर्वत्र दोषज्ञे चिरं रागो न तिष्ठति॥ १॥

२. एवं यथा विरुद्धेषु नरेषु स्नेहश्चिरं न तिष्ठति तथा योगिनोऽपि बाह्यान्तरभावानां दोषदर्शनात् कथं सर्वस्माद् विरागो न सम्भाव्यते॥ १॥

१७७

३. इतश्च तत्प्रहाणं[३] सम्भाव्यते रागवस्त्वभावात्[४]। यथा च तद्वस्तु नास्ति[५] तथा प्रतिपादयन्नाह—

तत्रैव रज्यते कश्चित् कश्चित्तत्रैव दुष्यति।
कश्चिन्मुह्यति तत्रैव तस्मात् कामो[६] निरर्थकः॥ २॥

रञ्जनीयवस्त्वायत्तोदयो[७] हि रागः। तच्च रञ्जनीयं वस्तु स्वरूपासिद्धम्। तथाहि[८]—यदेव ह्येकस्य रञ्जनीयं तदेवापरस्य द्वेषणीयं मोहनीयं[९] वोपलभ्यते। यदि च रञ्जनीयं वस्तु स्वरूपतः स्यात् सर्वदा सर्वस्य च तथैव स्यात्। न त्वेष नियमो दृष्टः। तथाहि— यत्रैको रज्यति तत्रैवापरो दुष्यति तत्रैवापरो मुह्यति।

---

१. V. अनुरूपेषु

२. V. रागो; [११]. शब्दस्यास्य नानुकूल्यं, "स्नेहो" इति शब्दोऽनुकूलतरो, तदर्थं वृत्तिर्द्रष्टव्या— तथा कस्यचिद् राज्ञः पुत्रोऽतीवापायः (S. प्रियः)। स कदाचिद् व्युत्थितः। स तेन राज्ञा संग्रामे निर्जित्य ग्रहीतः। तस्य च राज्ञस्तद्दोषदर्शनात् (S. दर्शितत्वात्)। तस्मात् स्नेहो विगतः।

३. S. तन्नप्रहाणं

४. S. रागवस्त्वभावत्वात्

५. S. शब्दस्यास्याभावस्तन्न।

६. S. कायो; V. रागो, तत्तु नानुकूलः, वृत्तौ हि कथितः—तस्माद् विषयकामः स्वरूपासिद्धित्वात् शून्यः।

७. T. रञ्जनीयवस्त्वायत्तो

८. S. तथा

९. S. नात्र शब्दो 'मोहनीयं'।

तस्माद विषयकाम:[१] स्वरूपासिद्धत्वाच्छून्यः। न चैवं रञ्जनीयवस्तुशून्यताभावना-तत्परस्य योगिनो रागप्रहाणं[२] न सम्भाव्यत् इति[३] ॥ २ ॥

१७८

५. एवं[४] नास्ति रागादीनामालम्बनस्य स्वरूपसिद्धिः। एवं तावदालम्बना-सिद्धया रागाद्यसिद्धि प्रतिपाद्य हेत्वसिद्ध्यापि रागाद्यसिद्धिप्रतिपादयितुकाम[५] आह।

विना कल्पनयास्तित्वं रागादीनां न विद्यते।
भूतार्थकल्पना चेति को ग्रहीष्यति बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

६. विषयेष्वयोनिशः कल्पना रागादिक्लेशकारणम्[६]। ततश्च येषां सत्यामेव कल्पनायामस्तित्वम् असत्यां च कल्पनायां नास्तित्वं[७] ध्रुवं तेषां रज्जुकुण्डलके परि[८]कल्पितसर्पवत् स्वरूपासिद्धिरवसीयते। यस्तु स्वरूपासिद्धि रागादीनामभ्युपैति नियतं तेन कल्पनापेक्ष्यजन्मत्वं स्वरूपसिद्धिविरुद्धं नाभ्युपेतव्यम्। यदि ह्यसौ भूतोऽर्थः किमर्थं तदर्थं कल्पनापेक्ष्यते। कथमसौ भूतार्थः। इत्येवयं[९] सोपपत्तिकागमभासावभासितचित्तसन्तानत्वान् न विद्वांसःस्वरूपसिद्धस्य कल्पना-जनितत्वमङ्गी कुर्वन्ति। जडास्तु कथञ्चिद् विपर्य्यासात्प्रव र्तन्ते ॥ ३ ॥

१७९

७. अत्राह। विद्यत एव रागादीनां स्वभावो बन्धनत्वात्। तथाहि—स्त्री पुरुषविषयेण रागेण पुरुषेण सह बद्धा नातिक्रामति पुरुषम्! पुरुषश्च स्त्रीविषयेण रागेण स्त्रिया सह बद्धो न परित्यजति[१०] स्त्रियमिति उच्यते—

---

१. T. तस्मात्काम:
२. T. 'न' इति निषेधात्मकशब्दस्याभावः। cr सर्वदर्शनसंग्रह (Bi) पृ०१५,
३. S. इति विद्यत एव रागप्रहाणम्।
४. T. एवमितिति शब्दाभावः।
५. T. प्रतिपादयितुम्।
६. T. रागादिक्लेशकारणं हि विषयेष्वयोनिशः कल्पना।
७. S. असत्यां च कल्पनायां नास्तित्वमित्यंशाभावः।
८. T. परीतिशब्दाभावः।
९. T. इतीति शब्दाभावः
१०. T. त्यजति

कस्यचित् केनचित् सार्धं बन्धो नाम न विद्यते[१] !
परेण सह बन्धस्य[२] विप्रयोगो न युज्यते ॥ ४ ॥

८. यथैव[३] हि रागः कल्पनापेक्ष्यजन्मत्वात् स्वभावासिद्धस्तद्वत् स्त्रीपुरुषयोरपि स्वरूपासिद्धत्वात् कस्यचिदर्थस्य केनचिदर्थेन सह नास्ति स्वरूपतो बन्ध इति न बन्धकारणत्वाद् रागः स्वरूपतः सिध्यति । अथावप्यवधूयेत्थं विचारं परेण सह परस्य बन्धः परिकल्प्यते[४] एवमपि परेण सह बन्धस्य विप्रयोगो न युज्यते ।

९. विप्रयोगो विमोक्षो मुक्तिरित्यनर्थान्तरम्[५] । यदि हि स्वरूपस्य परेण[६] बन्धकारणत्वं स्यात् तदा स्वरूपस्यान्थाभावासम्भवान् मुक्त्यभाव एव[७] स्यात् । अस्ति च मुक्ति[८]रिति नास्ति बन्धनकारणत्वं रागस्य[९] । असति च[१०] बन्धनकारणे कुतो बन्ध इति स्वभाव शून्या एव रागादयः स्वभावशून्यतादर्शनात् प्रहीयन्त इति शक्यमास्थातुम् ॥ ४ ॥

१८०

§ १०. यद्येवं विचारात् क्लेशा निवर्तन्ते तत् किमित्यजितक्लेशाः प्रायो दृश्यन्ते । गम्भीरधर्माधिमुक्तिविरहात् । तथाहि—

अस्मिन् धर्मेऽल्पपुण्यस्य सन्देहोऽपि न जायते
भवः सन्देहमात्रेण जायते जर्जरीकृतः ॥ ५ ॥

§ ११. अनादिसंसाराभ्यस्तविपर्यास[११]दर्शनो । ह्यविद्वान् प्रतिबिम्बोपमेषु

---

१. V. युज्यते
२. V. बद्धस्य
३. T. एवं, तथा
४. T. कल्प्यते
५. S. वाक्यमिदं "यदि ही एवं स्या" दिति वाक्यानन्तरे शास्त्रिभ महोदयेन युज्यते ।
६. S. परस्य स्वरूपतो
७. T. नाऽत्र 'एवं' शब्दः
८. T. विमुक्ति
९. S. परस्य रागस्य
१०. S. असति चेति शब्दाभावः
११. S. सन्दर्शनो

पदार्थेष्विदं सत्याभिनिविष्टः स्वभाव[1]शून्यतोपदेशं प्रपातमिव मन्यते । शून्यताधि-मुक्ति[2]हेतुकुशलमूल[3]विरहितचित्तसन्तानत्वात् तथाविधस्य ऽस्वस्यास्मिन्[4] विपरीतविनिश्चयविनिर्मुक्ते[5] शून्यताधर्मे किमेवं नैवमिति सन्देहोऽपि न जायते, अन्यत्र विपरीतनिश्चयात्[6] । ततश्च मुक्तिहेतुविपर्ययत्वात् कुतोऽस्य मोक्षः[7] । यदि त्वयं केनापि[8] हेतुना शून्यताधर्मे सम्य[9]गुपदिश्यमाने संशयमुत्पादयेत् किमयं धर्म एवं[10] नैवमिति नियतमस्य तेनापि सन्देहमात्रेण जर्जर[11] एव संसारो[12] जायते । सन्देहकालेऽपि जर्जर एवास्य संसार लक्ष्यते तद्भे[13]दानुकूलावस्थाऽवस्थितत्वात् ॥ ५ ॥

१८१

§ १२. अपि च[14] योऽयं स्वभावशून्यता लक्षणो धर्मो यस्मिन् सन्देहोऽपि भवस्य जर्जरत्वाय संवर्तते[15] तस्य भगवता प्रथमक्षान्तिक्षणमुपादाय यावन् मोक्षस्तावदपरिहानिर्वृद्धिश्चोपवर्णिता । न त्वेवं लौकिकानां धर्माणाम् । ते हि विपाकक्षयादपि क्षीयन्ते प्रत्ययवैकल्यादपि न प्रवर्तन्ते । न हि प्रज्ञापारमिता-निधिष्ठिता दानादयः समर्था जात्यन्धा इव सर्वज्ञतानगरमनुप्राप्तुमित्युवाच शास्ता । तदेवम् —

आ मोक्षाद्यस्य[16] धर्मस्य वृद्धिमेवोक्तवान् मुनिः ।
तत्र भक्ति र्न यस्यास्ति सुव्यक्तं बुद्धिमान् न सः ॥६॥

---

१. T. नाऽत्र स्वभावेति शब्दः
२. S. शून्यविमुक्ति
३. S. मूलेति शब्दाभावः
४. S. मतस्यास्मिन्
५. नाऽत्र शब्दोऽयंविद्यते
६. B. शब्दस्यास्याभावः
७. T. मोक्षदर्शनम् ।
८. T. केनापि एकेन
९. S. उपदिश्यमाने
१०. T. नाऽत्र शब्दोऽयम् ।
११. जीर्ण
१२. संसारभावो
१३. तद्भेदोन्मूलनानुकूला...।
१४. S. नाऽत्र शब्दायऽमिति ।
१५. T. जर्जरत्वहेतुर्भवति ।
१६. T. आत्मा ह्याद्यस्य ।

§ १३. यो ह्यत्यन्तोपकारिणि धर्मे वृद्धिप्रकर्षवति नोत्पादयति भक्तिं स[1] क्षेमस्थाने[2] भयदर्शित्वात्[3] मूढता[4]मेवात्मनो जडः[5] प्रकटयति ।- तदित्थं मूढता मा भून्ममे[6]ति विद्वद्भिः स्वभावशून्यता दर्शने भक्तिरास्थेया ॥ ६ ॥

१८२

§ १४. किं पुनरिमे पदार्था अशून्या[7] एव वैराग्यार्थं शून्यवद् दृश्यन्ते अथ प्रकृत्यैव शून्या[8] इति व्यपदिश्यन्ते । उच्यते—

नाशून्यं शून्यवद्दृष्टं निर्वाणं मे भवत्विति ।
मिथ्यादृष्टेर्न निर्वाणं वर्णयन्ति तथागताः ॥७॥

§ १५. अन्यथावस्थितस्य वस्तुनो यदन्यथा दर्शनं[9] तन्मिथ्यादर्शनम् । यदि च स्वभावाशून्याः[10]सन्तः पदार्थाः स्वभावशून्या इति दृश्येरंस्तदा मिथ्यादर्शनादेवनिर्वाणाधिगमः[11] स्यात् । न च मिथ्यादृष्टेः पुद्गलस्य निर्वाणाधिगमं बुद्ध्वा भगवन्तो व्यवस्थापयन्ति । सम्यग्दृष्टिपुरःसरेणैव यथा निर्वाणप्राप्तिमवस्थानात् । ततश्च मायावत् प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात् स्वभावशून्या एव सन्तो भावाः शून्या स्वभावेनेत्यधिगम्यन्ते ॥ ७ ॥

१८३

§ १६. ननु परमार्थत्वात्[12] स्वभावशून्यतैव केवल[13]मुपदेष्टव्येति । नैतदेवम् । नैव हि लौकिकं प्रवृत्यात्मकं परमार्थात्[14]पूर्वमनुपदिश्य[15]शक्यं स्वभाव-

१. T. स मूढः ।
२. T. त्यक्तस्थाने ।
३. तस्माद्भयदर्शित्वात् ।
४. T. जडताम् ।
५. T. 'जड' इति शब्दाभावः ।
६. T. ममेति शब्दाभावः
७. S. शून्या
८. प्रकृत्या शून्यैव
९. T. परिदर्शनम् ।
१०. S. शून्याः ।
११. S. शून्याः ।
१२. S. स्वभावपरमार्थत्वात् ।
१३. T. एका ।
१४. S. परमार्थं ।
१५. S. सदुपदिश्य ।

शून्यतालक्षणं[1] [illegible] । तस्मात्[2] तत्वावतारसोपानभूतत्वात्[3] प्रवृत्त्युपदेशोऽपि कर्तव्यः । सर्वसङ्गपरित्यागेन निर्वाण[4]सुखावाप्तिहेतुः[5] स्वभावशून्यतोपदेशोऽपि कर्तव्यः । तदत्र तथागते प्रवचने—

*** लौकिकी देशना यत्र प्रवृत्तिस्तत्र वर्ण्यते ।**
परमार्थकथा यत्र निवृत्तिस्तत्र वर्ण्यते ॥८॥

§ १७. यत्र संसार प्रवृत्तिक्रमोऽविद्यासंस्कारादिना क्रमेणाहेतुविषम-हेतुविनाशार्थं स्वसामान्यलक्षणसत्यत्व[6]कल्पनया देश्यते ज्ञातव्यं विदुषा प्रवृत्ति-क्रमस्तत्र वर्ण्यत इति । यत्र तु प्रतीत्यसमुत्पादस्य स्वभावानुत्पादेन[7] स्वभावशून्य-तोपदिश्यते[8] तत्र संसारप्रवृत्तेनिवृत्तिर्वर्ण्यते ॥८॥

१८४

§ १८. यद्येवं परमार्थकथायां न किञ्चिदस्ति शून्यत्वात् सर्वभावानां तदा सर्वाभावः प्रसज्यते । सर्वाभावाच्च न किञ्चित् कर्तव्यं स्यात् कर्तृकर्मक्रिया[9]दीनां सर्वथाभावात् । अभावाच्च क्रियादीनां[10] न स्यात् मोक्ष इति सर्वमेवायुक्तमिति । उच्यते—

*** किं करिष्याम्यसत् सर्वमिति ते जायते भयम् ।**
विद्यते यदि कर्तव्यं नायं धर्मो निवर्तकः ॥९॥

१९. यत एव हि सर्वमसदत एवायं परमार्थधर्मः प्रवृत्तिनिवर्तको युज्यते । तत् किमिति निवृत्त्यर्थी क्रियाद्यधिष्ठानसर्वाभावं[11] न समीहते । अथायऽपि[12] प्रवृत्ताविव कर्तव्यं स्यात् तदा क्रियाफलस्यापि पदार्थस्य प्रवृत्तेः सैव प्रवृत्तिरिति कथमयं धर्मो निर्वाणवाहकः स्यात् ॥९॥

---

१. S. स्वभावशून्यतालक्षणतत्वं ।
२. S. तन्मतानुसारेण शब्दस्यास्थाभावः ।
३. T. तत्वामृतावताराधिकारभूतत्वात् ।
४. S. निवृत्ति
५. S. निमित्तं
६. T. सत्यभाव, S. सद्भाव
७. S. स्वभावानुत्पादेन प्रतीत्यसमुत्पादस्वभावशून्यतोपदिश्यते
८. T. कर्तृकर्मक्रियाकार्यादीनां
९. T. कार्यादीनां
१०. S. सर्वाभावं क्रियाद्यनधिष्ठानं
११. T. तत्रापि, S. अथ हि नामात्रापि

१८५

§ २०. निवर्तके धर्मे न किञ्चित् कर्मास्ति तस्माच्छून्यपक्षः श्रेयानिति यस्तु शून्यतामार्गे रज्यति विपरीतस्वभावे च पक्षे दुष्यति तमुपालभते—

*** स्वपक्षे विद्यते रागः परपक्षस्तु तेऽप्रियः ।**
न गमिष्यसि निर्वाणं न शिवं द्वन्द्वचारिणः ॥ १० ॥

§ २१. द्विविधो हि पक्षः समासतः स्वपक्षः परपक्षश्च । तत्र यदि स्वपक्षे ते रागो[१]ऽस्ति स्वभावशून्यतापक्षः[२] श्रेयानीति, परपक्षश्च ते मिथ्येति कृत्वा[३]प्रियो न गमिष्यसि निर्वाणम् । न ह्यनुनय[४]प्रतिघहतस्य द्वन्दचारिणो निर्वाणमस्ति । सर्वत्र हि सन्त[५] उदासीनाः सङ्गच्छेदादनपायसुखैकरसं शिवमाप्नुवन्ति ॥ १० ॥

१८६

§ २२ अत्राह । यद्यपि निर्वाण परमसुखं सकलोपद्रवरहितत्वात् तथापि तदशक्यं प्राप्तुं [illegible][६]तिदुष्करत्वात् । भवस्त्वयत्नसाध्यत्वाद् यस्मात्[७] सुखेन[८] प्राप्यते तस्मात् तत्रास्माकं[९] प्रवृत्तिरिति[१०] । उच्यते विपरीत मवधारितम् । यस्मात्[११]—

*** अकुर्वाणस्य निर्वाणं कुर्वाणस्य पुनर्भव ।**
निश्चिन्तेन सुखं प्राप्तुं निर्वाणं तेन नेतरः ॥ ११ ॥

§ २३. सर्वासु[१२] कुशलादि[१३] क्रियासु निरस्तव्यापारेण निश्चिन्तेन निर्वाणमवाप्यते[१४] । तस्मात् सुखं प्राप्तुं निर्वाणम् । कुशलाकुशलादि[१५]प्रवृत्ति साध्यत्वात्

---

१. T. रागोऽभिनिवेशोऽस्ति ।
२. S. स्वभावशून्यपक्षः ।
३. T. मिथ्येति कृत्वेति स्थाने अन्यः सम्यग् न अवतीति ज्ञात्वा ।
४. S. ह्यत्र
५. S. "सन्त" शब्दस्याभावः ।
६. S. [illegible] ।
७. T. यस्मात् शब्दस्याभावः
८. T. सुसिध्यति सुखेन सिध्यति वा ।
९. S. अस्यामिति शब्दस्याभावः
१०. S. न प्रवृत्तिरिति ।
११. T. तथाहि
१२. T. यस्मात्सर्वासु
१३. B. क्रियासु
१४. T. नायं शब्दोऽत्र विद्यते ।
१५. T. कुशलाकुशलप्रवृत्तिसाध्यत्वात् ।

तु निर्वाणादितरः पुनर्भवो न सुखेन प्राप्यते। न विदुषोऽप्रयत्नलभ्यं निर्वाण-मवधूय युक्तं विविधव्यापारपरिखेदलभ्यं पुनर्भवमर्थयितुम् ॥ ११ ॥

१८७

§२४. यदि खल्वकुर्वाणस्य निर्वाणं[१] किमर्थं त्वयात्र शास्त्रे अनित्याद्यर्थ प्रतिपादनं क्रियत इति[२]। उच्यते[३]। संसाररक्तं[४] जगत्। संसारादुन्द्वेजनार्थम्[५]। तथाहि—

* उद्वेगो यस्य नास्तीह भक्तिस्तस्य कुतः शिवे।
निर्गमश्च भवादस्मात् स्वगृहादिव दुष्करः॥ १२ ॥

§ २५ संसारादुद्विग्नचेतस[६]स्तन्निःसरणाय[७] निर्वाणं भजन्ते। यस्य तु नास्त्युद्वेगः स किमिति तदर्थयेत्[८] उ[९]द्वेगाभावादेव च भवान् निर्गन्तु[१०]मल्प-बुद्धयो नोत्सहन्ते। इह यथा स्वगृहमल्पसारमपि व्यासङ्गपरिच्छेदस्य दुष्कर-त्वान् न त्यक्तुं पार्यते तादृशमेतत् ॥ १२ ॥

१८८

§ २६. विपन्नानुज्ञसम्भोगसुलभानि[११]गृहाणि त्यक्तुमाढ्यानां मा भूत् सामर्थ्यं[१२] निर्वाणं[१३] च गन्तुम्। येषां तु व्याधिदारिद्र्यादीनां दुःखहेतूनां प्रतिविधानासम्भ-वस्तेषां युक्त एव संसारानन्दपरित्यागः। तथाहि—

* दुःखाभिभूता दृश्यन्ते केचिद् मरणकाङ्क्षिणः।
ते तदा केवलं मोहान्न गच्छन्ति परं पदम् ॥१३॥

---

१. S. तन्निर्वाणं
२. S. इति' शब्दाभावः
३. S. नात्र शब्दोऽयम्।
४. S. संसारभुक्तम्।
५. T. उद्वेजनीयमिति।
६. T. बहुवचनम्, S. एकवचनम्।
७. S. निःसारणाय
८. S. अर्थयते।
९. S. तदुद्वेगाभावादेव।
१०. T. संसारान्निःसर्तुम्।
११. T. [illegible]।
१२. S. तत्सामर्थ्यम्।
१३. T. निर्वाणं प्राप्यम्।

§ २७. व्याधिदारिद्र्येष्टविप्रयोगदुःखातुराः[१] केचिदात्मस्नेहमपास्यातटादात्मानमुत् सृजन्ति अग्न्युदकप्रवेशादीन्यपि[२] कुर्वन्ति । तथैव यदि संसारं दुःखतो निर्धा[३]र्यात्मस्नेहमत्यन्त[४]मुद्धरेयुरदूरे निर्वृत्तिसुखस्यवर्तेरन् । विपर्यासितदर्शनास्तु[५] महामोहात्[६] तथा न प्रवर्तन्ते येन[७] निर्वाणनासादयन्तु[८] ॥ १३ ॥

१८६

§ २८. यद्येवं सर्वभवपरित्यागेना[९]जरामरणं पदं[१०]निर्वाणमेवैक[११]मर्थनीयम् । तत्प्राप्तये भावना कथैवास्तु । किमर्थ[१२] भगवता दानशीलकथे अपि विहिते इति । उच्यते । त्रिविधो[१३] हि सत्त्वधातुर्हीनमध्यमोत्तमभेदात् । तद्भेदाच्च[१४] भगवतो [महोपायवतो महाकारुणिकस्य आशयप्रमादशयनज्ञस्य धर्म[१५]] देशनावैचित्र्यम् । तत्र तेन भगवता[१६]—

निकृष्टस्योच्यते दानं मध्यस्य शीलमुच्यते ।
उत्तमस्योच्यते शान्तिस्तन्नित्यमुत्तमं कुरु ॥ १४ ॥[१७]

§ २९. हीनस्य पुद्गलस्य दानमेव न शीलं भावना च । तयो र्द्वयोरभाजनत्वात् । मध्यमस्य शीलमेवोक्तं न दानं न च भावना । दानस्य निष्ठितत्वाद् भावनासामर्थ्याभावाच्च उत्तमस्य भावेनैवनोक्ते दानशीले । तयो र्निष्ठितत्वात् ।

---

१. S. व्याधिविप्रयोगदुःखान्वितः ।
२. S. शब्दस्यास्याभावः ।
३. S. निवार्य ।
४. S. अत्यन्तायम् ।
५. T. असद्विपर्यासितदर्शनासुद्विपर्यस्ता
६. S. मोहात्
७. S. ये,
८. S. नासादयन्तु ।
९. S. सर्वपरित्यागेन ।
१०. S. निर्वाणपदम् ।
११. S. निर्वाणमेवार्थम् ।
१२. S. तत्किमर्थम् ।
१३. T. विविधो ।
१४. S. तद्भेदार्थम् ।
१५. S. नाऽत्र वाक्यमिदं विद्यते ।
१६. S. नाऽत्र वाक्यमिदं विद्यते ।
१७. V. हीनस्य दानं निर्दिष्टं शीलं मध्यस्य चैव ।
शिवमग्र्यस्य कथितं तस्मादग्र्यं सदा श्रुतं ॥

§ ३०. तत्र दानेन महासम्भोगः। शीलेन दैवनरजातिः। भावनया क्लेश-निरोधतो निरुद्धत्वान्निर्वाणमिति न सर्वस्य निर्वाणमुच्यते। तस्मात् स्वयमुत्तमो भवेति निर्वाणायाभिरतिं कुरु॥ १४॥

१९०

§ ३१. उत्तमभूतत्वात् प्रथमतरमेव निर्वाणकथा न कार्या—

*** वारणं प्रागपुण्यस्य मध्ये वारणमात्मनः।**
सर्वस्य वारणं पश्चाद् यो जानीते स बुद्धिमान्॥१५॥[1]

§ ३२. शासनेऽस्मिन् क्रमेण सर्वं संस्कृतं वारयितव्यम्। तत्रेह तावत् सर्वस्यापुण्यपक्षस्य वारणं प्रथमं कर्तव्यं दृष्टादृष्टनानादोषशतहेतुरिति। सुप्रहाणं प्रथमं वारयितव्यम्। पापवारणेन स्कन्धधात्वायतनेष्वात्मा पञ्चविधोऽपि[2] न सम्भाव्यत इति विंशत्यंशात्मदृष्टि[3]स्त्याज्या। पश्चादात्मस्नेहसम्यगुपदेशेन स्कन्धधात्वायतनस्नेहोऽपि परित्याज्य इति सर्वं वस्तु वारणीयम्।

§ ३३. तदेवं बुद्धिमतोऽस्यानादानात् परिनिर्वाणम्। एवं क्रमद्वारा यस्तत्सर्ववारणोपायं जानाति स बुद्धशासनविचक्षण इत्युच्यते॥१५॥

१९१

§३४. अपि च। कथं पुनर्बिनैवादानं प्राप्स्यत इति। सर्वेषां भावानां निःस्व-भावत्वदर्शनात्। यदि भावाः अनन्ताः कथं स विषयी तान् द्रष्टुं शक्नुयादेक-मपि धर्ममपरिजानन्नप्रजहद्। दुःखेनाप्यन्तकरणं न सम्भाव्यते। एवमेव भगवतैकक्षणया प्रज्ञया यदीषज् ज्ञातव्यं द्रष्टव्यं प्रत्यक्षीकर्तव्यं च तत् सर्वं प्रत्यक्षमुक्तमित्यभ्यस्यते। तस्मादेवं द्रष्टव्यमिति। उच्यते —

---

१. इयं कारिका माध्यमिक वृत्तावपि (पृ०३५९) द्रष्टव्या।
२. रूप वेदनासंज्ञासंस्कार विज्ञानस्वरूपः
३. १- रूपमात्मा स्वामिवत्, २- रूपवान् आत्मा अलंकारवत्, ३- आत्मीयं रूपं भृत्यवत्, ४- रूपात्मा भाजनवत्, ५- वेदनात्मा, ६- वेदनावान् आत्मा, ७- आत्मीया वेदना, ८- वेदनायामात्मा, ९- संज्ञात्मा, १०- संज्ञावान् आत्मा ११- आत्मीया संज्ञा, १२- संज्ञायामात्मा, १३- संस्कारात्मा, १४- संस्कार वान् आत्मा, १५- आत्मीयाः संस्काराः, १६- संस्कारेष्वात्मा, १७- विज्ञान-मात्मा, १८- आत्मीयं विज्ञानम्, १९- विज्ञानात्मा। —महाव्युत्पत्ति, २०८

*** भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृतः ।**
एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ॥१६॥[1]

§ ३५. रूपस्य या स्वभावशून्यता सैव वेदनादिस्कन्धानां स्वभावशून्यता एवं चक्षुरायतनस्य या स्वभावशून्यता सैवाष्टादशानां धातूनामपि । एवं भावविषय कालाधाराणां (?) नानाविधेस्वनन्तप्रकारेषु प्रथमस्यैकस्य या स्वभावशून्यता सैव सर्वेषां भावानां स्वभावशून्यता ॥१६॥

§ ३६. अत्राह । यदि सर्वे धर्मा शून्या इति हेया । एवं भिक्षव आदरः क्रियते । कृत्वा चादरं कृतस्य पुण्यस्य विपाककामेन दुःखं व्यसनमिष्टं च पृथगनुभूयत इति त्रिभिर्व्युच्यताम् । नेदं विरुद्धम् । कुतः—

उच्यते स्वर्गकामेभ्यो धर्मे रागस्तथागतैः ।
तस्यैव मोक्षकामेभ्यो निन्दान्या तु किमुच्यते ॥ १७ ॥[2]

§ ३७. धर्मे रागो हि तदुपायस्वरूप इन्यवश्यं कर्तव्यः । पुण्यानि कर्तुं योग्यानि । अकृतपुण्यस्य दुःखम् । कृतपुण्यस्यास्मिल्लोके परत्र चानन्दः । इति बुद्धेन भगवता कामिनो दुर्गतिगमनेन भयं भयभावनाऽसमर्थेभ्य उक्तम् । न मोक्षकामेभ्यः ! तेषां धर्मकामः संसारकाराबन्धनमेव । यतो धर्मपर्यायो नौवत् ।

§ ३८. सर्वज्ञ धर्मेषु हेयेषु किं पुनरधर्माणां कथनेन । उक्तत्वात् । विमुक्तिसुखकामस्य कश्चिदपि रागो न ज्ञायते । तद्धि निरवशेषरागच्छेदनेन प्राप्यमिति । अजितसूत्रवत् । यदा भगवाञ्छाक्यमुनिर्वाणास्यां [तदा] त्वमनागते काले तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धो मैत्रेयो भविष्यसि । अपि च तदा चक्रवर्ती राजा शङ्खो

---

१. V. भावस्यैकस्य या दृष्टिः सैव सर्वस्य कथ्यते ।
एकस्य शून्यता यस्ति सैव सर्वस्य शन्यता ॥

तुलनार्थम् द्रष्टाव्या—

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥
—अचाराङ्गसूत्र, १.३.४,१(PTS.p.11)

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥

—स्याद्वादमञ्जरी, पृ.४, ११२; षड्दर्शनसमुच्चय, पृ.२२२

२. V. उक्तस्तथागतैर्धर्मानुरागः स्वर्गकाङ्क्षिणाम् ।
मुमुक्षूणां तथान्यत्र तत्त्वमेवोपदिश्यते ॥१७॥

नाम भविष्यति । तस्मिन्नेव नगरे परिनिर्वाणे महान्तमादरं कृत्वा प्रव्रज्याहृत्त्वेन परिनिवृतो भविष्यसि । बोधिसत्वोऽजितो नाम देशनां करिष्यति । ततस्तत्परिवार मध्येऽजितो नाम भिक्षुर्भविष्यति । स हन्ताहं चतुर्द्वीपेश्वरश्चक्रवर्ती शक्रो भवेयमिति प्रणिधानं विधाय भगवतैवं दुःखं वारयितव्यमिति प्रव्रज्य त्वं दुःखमेव कामयसे जड़ः पुरुषोऽसीति निन्दितः । तद् देशयित्वा भगवांस्तस्य क्षणमात्रस्यापि भवस्याभिसिद्धि न प्राशंसत् । तत् किमति । भिक्षूणां भवाभिसिद्धिर्दुःखम् । सैवं निन्दता ॥१७॥

१६३

§ ३६. अत्राह । यदि शून्यतया निरस्तेन रागेण दुःखोल्लासो निवर्तते तदा समस्तदुःखसमुपच्छेदहेतुत्वेनैकं तत्त्वमुपदेष्टव्यम् । तन्नैवम् । भाजनविशेषस्यापेक्षणात् । तथाहि । अभाजनस्य शासनाच्छून्यता ह्याहारदोषस्य पानभोजनादि वदनर्थहेतुर्भवति । सोऽनधिकाधिमोक्षेण भगवतः शून्यतां त्यजेद् । शून्यतार्थं सर्वाभावार्थं विपर्यासेन परीक्ष्य विपर्यस्तदर्शनेन दुर्गतिं वा गच्छेत् । तस्मात्—

> **शून्यता पुण्य कामेन वक्तव्या नैव सर्वदा ।**
> **ननुप्रयुक्तमस्थाने गरलं ननु जायते ॥ [1]१८ ॥**

§ ४०. इह कृपालुना पुण्यकामानां सत्त्वानांमनुग्रहेच्छया प्रथमं सत्त्वानपरिपाच्यापक्वकुशलमूलेभ्यः शून्यता न वक्तव्या । निरर्थकत्वात्

१६४

§ ४१. तस्मात् सत्त्वानां चित्तसन्तानकर्म कुर्तुमुचितमिति प्रथमतरमेव लौकिका भाषा यथावस्थिता वक्तव्याः । तत्र ते विचक्षणाः शून्यतायां सुखेन प्रवर्तन्त इति । तत एव ।

---

१. V. सर्वदा नैव वक्तव्या पुण्य कामेन शून्यता ।
 अयोगयुक्तं भैषज्यं गरलं कि न जायते ॥ १८ ॥

मूलकारिका सुभाषितसंग्रहे (पृ० ११) प्राप्ता—

 शून्यता पुण्यकामेन वक्तव्या नैव सर्वदा ।
 ननु प्रयुक्तमस्थाने जायते विषमौषधम् ॥

यथोक्तम्—

 उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
 पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्[2] ॥

२. पञ्चतंत्र, १, ३८९

आदौ दानादिकथया चित्तस्योत्पाद्य साधुताम् ।
धर्मस्य भावनाऽगन्धवस्त्ररञ्जनवत् कृता ।।

इत्युक्तं । [illegible]

*** नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा ।**
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ।। [1]१९ ।।

§ ४२. यथा म्लेच्छोऽन्यां भाषां न जानातीति स्वभाषयैवोपदेष्टव्य एवं लोकोऽपि लौकिक भावव्यवस्था द्वारा तत्त्वं प्रवेष्टुं शक्नोति ।[2]

बालदारकवत् । यथा बालदारको नान्यया भाषया शक्यते बोधयितुं तथा पृथग्जनो लोकः ।। १९ ।।

१९५

§ ४३. अतएव लोकावतारोपायत्वात्[3] सदसदादिदेशनानां भगवता—

*** सदसत् सदसच्चेति नोभयं चेति कथ्यते ।**
ननु व्याधिवशात् सर्वमौषधं नाम जायते ।। २०[7] ।।

§ ४४. सर्वाभावदर्शनमलक्षालनाय भगवता विनयेभ्यः सदिति कथितम्[4] । सर्वभावाभिनिवेशप्रहाणाया[5]सदिति[6] कथितम् । उभयाकारदर्शनत्यागाय सदसदित्यावेदितम् । सर्वाकारप्रपञ्चोच्छेदाय नोभयमिति प्रकाशितम् । अपि च त्वमेव तावद् विचारय ।

---

१. माध्यमिकवृत्ति पृ०३७०, JA, १९०२, ११. पृ०२५७
माध्यमिककारिका, पृ० १२०

२. यथोक्तं—
जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।[1]
तह वोहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।[1]
१. माध्यमिकवृत्ति पृ० ३७०, माध्यमिकावतार, Tib पृ० १२०, cf.
माध्यमिक वृत्ति पृ०३७०, माध्यमिकावतार, पृ०१२० समयप्राभृत, १, ८.

३. T. लोकग्रहणोपायत्वात्
४. S. सर्वभावदर्शनमलक्षालनाय सदिति कथितम् ।
५. S. भावाभिनिवेशप्रहाणाय ।
६. T. किञ्चन्नास्तीति ।
७. माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३७२

§ ४५. ननु व्याधिवशात् सर्वमौषधि नाम जायते। व्याधयः प्रतिविधातव्याः। तेषां च निदानभेदादनेकमौषधम्। नैकमेव सर्वत्रोपयुज्यते। तादृशमेतत् ॥ २० ॥

१९६

§ ४६. आसां च सदसदादिदेशनानामध्यात्मचिन्ता प्रवृत्तत्वाद्[1] यैषा नोभयदेशना सा[2] परमार्थदेशना। तस्मिंश्च परमार्थे[3]—

*** सम्यग् दृष्टे परं स्थानं किञ्चिद्दृष्टे शुभा गतिः।**
तस्मादध्यात्मचिन्तायां कार्या नित्यं मतिर्बुधैः ॥ २१ ॥

§ ४७. परमार्थज्ञानेन खलु सम्यग्दृष्टे परमार्थे[4] प्राप्यते परं स्थानं निर्वाणम्। किञ्चिद् ईषद्[5] दृष्टे शुभा देवमनुष्यगतिर्भवति। यस्माच्च सम्पूर्णे[7] ज्ञानदर्शने निर्वाणं प्राप्यते असमाप्ते च शुभा गतिस्तस्यादध्यात्मचिन्तायां विदुषा नित्यमेव बुद्धिः कर्तव्येति ॥ २१ ॥

१९७

§ ४८. एवमस्याध्यात्मचिन्तायां नियतं फलं निर्वाणं प्राप्यते। अथ कुतश्चित् प्रत्ययवैकल्यात्—

*** इह यद्यपि तत्त्वज्ञो निर्वाणं नाधिगच्छति।**
प्राप्नोत्ययत्नतोऽवश्यं पुनर्जन्मनि कर्मवत् ॥ २२ ॥

§ ४९. यद्यपीह जन्मनि तत्वदर्शनाभियुक्तो विरागावसानं[10] न लभते परमार्थज्ञाननिस्यन्दा[11]दप्रयत्नादवश्यमेव पुनर्जन्मनि स निर्वाणं प्राप्नोति कर्मवत्।

---

१. S. चिन्ताप्रवृत्तत्वात्।
२. S. ऐषा
३. T. तस्यां च परमार्थदेशनायाम्।
४. T. तस्मिन् परमार्थे
५. S. ईषत् किञ्चित्
७. T. सम्पूर्ण
८. T. पर जन्मनि अनुजन्मनि वा, तुलनार्थम्-माध्यमिकावतार पृ० २।
९. माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३७८
१०. तुलनार्थम् महाव्युत्पत्ति, २६७. २
११. परमार्थज्ञानसिद्धे

यथा नामेह[१] कृतस्य नियतं[२] कर्मणः फलं यद्यप्यस्मिन् जन्मनि नास्ति[३] तस्य त्ववश्यमेवान्यजन्मनि फलं भवति ॥ २२ ॥

§ ५०. यद्येवं तत्वज्ञानमस्ति किमर्थं[४] मुक्ता न दृश्यन्ते। दृश्यन्त एव[५] च केचित्। अपि खलु—

*** सर्व कार्येषु निष्पत्तिश्चिन्त्यमाना सुदुर्लभा।**
न च नास्तीह निर्वाणं युक्ता मुक्ताश्च दुर्लभा ॥ २३ ॥

§ ५१. न च केवलं निर्वाणमेव दुर्लभम्[६]। अपि खलु सर्वारम्भा दुखसेय-फलारम्भाः। न च चिन्तैव फलसाधिका। किं तर्हि। हेतुप्रत्ययसामग्रीसमीहित-फलसाधिका। सा[७]प्यतिदुर्लभा। तस्मादिह चिन्तया[८] सर्वकार्येषु सुदुर्लभा निष्पत्तिः। तस्मादिह सुगतशासने[९] यद्यपि निर्वाणं समीहितमस्ति[१०] तथापि कल्याणमित्रविरहाद्[११] योनिशो मनस्काराभावाच्च[१२] युक्ताः सुदुर्लभाः। ततो[१३] मुक्ता अपि दुर्लभा भवन्ति। अस्मान्नशक्यं मुक्तादर्शनात् तत्वदर्शना-भावः[१४] प्रतिपत्तुम् ॥२३॥

१६६

§ ५२. केचिद् बाला हीनमात्मानं मन्यमाना नोत्सहन्ते बुद्धत्वं[१५] घटयितुम्। यदि पुनर्न्यायेन घटेरन् लभेरन् बुद्धत्वमवश्यम्। कथं पुनरेतदवसातुं शक्यं यदेवं चिरकालप्रवृत्तस्य क्लेशगणस्य क्षयोऽस्तीति। उच्यते—

---

१. T. मोह
२. S. नियतस्य
३. T. नास्ति निरुद्धाद्वीजादनन्तरमङ्कुरपत्रपुष्पफलादिवत्
४. T. किम्
५. T. शब्दाभावः
६. S. केवलं विराग एव दुर्लभदर्शनः
७. S. हेतुप्रत्ययसामग्री
८. T. चिन्तायां
९. S. शासने
१०. S. निर्वाणमस्ति
११. S. वैकल्याद्
१२. S. विकल्पाभावाच्च
१३. S. यस्मात् ततो
१४. S. दर्शनादत्तभावः
१५. S. बुद्धत्वाय

* श्रुत्वा शरीरनैर्गुण्यं क्षणं रागो न तिष्ठति ।
प्राप्तस्तेनैव मार्गेण सर्वस्यापि ननु क्षयः ॥२४॥

§ ५३. यथेह चिरकालं ममत्वाभिरक्षितस्य शरीरस्य विचित्रैर्भोगै[1]रूपलालितस्यापि विनाशधर्मिणो[2]ऽकृतज्ञस्य नैर्गुण्यं श्रुत्वा पण्डितस्य तत्क्षणं रागो न जायते तथा तेनैव मार्गेण वैराग्यजनकेन[3] सुभावितेन चिरप्रवृत्तस्यापि रागस्य सर्वस्यैवा[4]त्यन्तशो ननु क्षयः प्राप्तः । ततश्च सर्वस्यैव बाह्यास्याध्यात्मिकस्य च वस्तुनः स्वभावशून्यतासारत्वदर्शनात् निरवशेषरा[5]गादिक्लेशबन्धनच्छेदात् मुक्तिः ॥२४॥

§ ५४. अत्राह । अनादिकालप्रवृत्तस्यास्य जन्मसन्तानस्य कथमन्तो भविष्यतीति । उच्यते —

* यथा बीजस्य दृष्टोऽन्तो न चादिस्तस्य विद्यते ।
तथा कारणवैकल्याज्जन्मनोऽपि न सम्भवः ॥ २५ ॥

§ ५५. यथा नाम चिरकालप्रवृत्तस्य[6] हेतुपरम्परया प्रवर्तमानस्य बीजसन्तानस्यानादिमतोऽन्तो दृष्टोऽग्निदाहात् तथानादिकालप्रवृत्तस्य जन्मपरम्परया[7] हेतुतः प्रवर्तमान[8]स्यानादिमतोऽपि विज्ञानबीजस्य जन्मनः[9] कारणवैकल्यात्

---

१. T. आत्मना भोगैः
२. S. विरागधर्मेण
३. S. वैराग्यजनने
४. T. सर्वस्याऽपि
५. T. निवशेषादिक्लेश·········
S. निरववशेषरागबन्धनादि······
६. S. चिरकालप्रवृत्तस्यास्य
७. S. परम्परया ।
८. T. शब्दस्यास्याभावः ।
९. S. विज्ञानबीजजन्मनः ।

पुनः सम्भवो[1] नास्ति। क्लेशापेक्षं हि कर्म जन्माक्षेप्तुं पर्याप्तुम्। क्लेशाश्च[2] ज्ञानाग्निदहनेऽभावमुपगच्छन्ति[3]। तदसम[4]र्थं कर्म नसहायाभावाज्जन्माक्षेप्तुम्।

योगाचारे चतुःशतके शिष्यचर्याप्रकरणमष्टमम्[5]

---

१. T. चित्तसम्भवो

२. S. ते च क्लेशाः

३. S. ज्ञानतेजःस्पर्शादभावं गताः

४. S. तदयमसमर्थः कर्मस्यासमर्थम्।

५. T. शिष्यचर्या, तिब्बती वृत्तौ शिस्यपरिचर्या तत्संस्कृतानुवादे च आचार्यदेवीये बोधिसत्वयोगाचारे चतुःशतके पारिकर्मिक प्रकरणम्अष्टमम्।

T. दृष्टान्त

माध्यमिकवृत्ति, पृ० २२०

नवमं प्रकरणम्

नित्यार्थप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्

२०१

§ १. समतिक्रान्त[1]प्रकरणजलधिजलक्षोभक्षालित[2]चित्तसन्तानस्य तत्त्वामृत-देशनापात्रस्य शिष्यस्याचार्योऽतः परमवशिष्टैः प्रकरणैर्यथावस्थितपदार्थतत्वा-धिगमाय[3] तत्वविनिश्चयमारब्धुकामः संस्कृतस्योदयव्ययवत्त्वेना[4]मारनामुद्भाव-यन्नाह—

* सर्वं कार्यार्थमुत्पन्नं तेन नित्यं न विद्यते।
तस्मान् मुनिमृते नास्ति यथा भावस्तथा गतः ॥१॥

§ २. कार्यार्था हि प्रवृत्तिर्लोके न स्वाभाविकी। संस्कृतस्य च भूतभौतिक-चित्तचैत्तलक्ष्यलक्षणादेरेकस्यैकस्योदयाभावाद् यथासम्भवं[5] कलापरूपस्यैवोत्पादः। तस्य कलापस्य मिथः कार्यकारणावस्थानाद् यस्मिन् सति यद्भवति यदभावे च यन्न भवति तत् तस्य कारणमितरत् कार्यमिति। पृथिवीमन्तरेण भूतत्रयस्या-भावात् सत्यां च भावाद् भवति कार्यप्रयोजना पृथिव्या उत्पत्ति[6]रित्येवं सर्वमेव संस्कृतं यथावत्[7] कार्यार्थमुत्पन्नम्। यच्च कार्यार्थमुत्पन्नं[8] न तन्नित्यम्। नित्य-शब्दस्य स्वभावसत्त्वाऽपरवशानुद्रव्यपर्यायत्वात् तदभावेन निःस्वभावमसत्यमसार-

---

१. T. अनन्तरातिक्रान्त; S. समनुक्रान्त
२. S. प्रकरणजलप्रक्षालित
३. T. समस्तपदार्थतत्वयथावदधिगमाय
४. S. व्ययत्वेना
५. T. यद्योग्यं
६. S. समुत्पत्ति
७. S. यथास्वं
८. T. तस्मात्

-मवस्त्वद्रव्यं[१] संस्कृत[२]मिति गम्यते[३]। अतएव तन्मृषा मोषधर्मकं यदेतत् संस्कृत-मित्युवाच शास्ता[४]। एतच्च[५] वक्ष्यमाणयुक्त्युपेतम्। तन्निश्चित्याचा[६]र्य आह—तस्मात् "मुनिमृते नास्ति यथा भावस्तथा गतः।"

§ ३. अशैक्ष्यकायवाङ्मनोमौनयोगात् मुनिर्बुद्धो भगवान्। स एवानित्य-शून्यतोपदेशेन यथा भावानां स्वाभावस्तथा गतो बुद्धस्तथागत इत्युच्यते नान्यो विपरीततत्वोपदेशेन यथास्थिततत्वार्थानभिसम्बोधात्। यथा चोक्तम्—

अतीता तथता यद्वत् प्रत्युत्पन्नाप्यनागता।
सर्वधर्मास्तथा दृष्टास्तेनोक्तः स तथागतः॥१॥

२०२

§ ४. अत्राहुरेके। सत्यं यत् कार्यार्थमुत्पन्नं न तन्नित्यं भवतीति। ये तूभयाङ्गविकलाः पदार्थास्तद् यथाकाशादयो मनःपर्यन्ताः। येऽपि चैकाङ्गविकला पदार्थास्तद्-यथा पृथिव्यादि परमाणवस्ते नित्या भविष्यन्ति। तेषाञ्चास्ति-त्वनास्तित्वानवगमात् नाविपरीतदर्शो तथागत इति। तेषां मतस्यायुक्ततामुद्-भावयन्नाह आचार्यः—

*** अप्रतीतयास्तिता नास्ति कदाचित् कस्यचित् क्वचित्।**
न कदाचित् क्वचित् कश्चिद् विद्यते तेन शाश्वतः॥२॥

§ ५. यथास्वं[७] हेतुप्रत्ययोत्पन्नानां सुखादीनामस्तित्वमुपलभ्य कथमयमर्था-पत्याऽप्रतीत्यसमुत्पन्नानां नास्तित्वं न प्रतिपद्यते[८]। अर्हत्येवायं स्फुटतरं गगनो-त्पलादीनामिवासत्वं प्रतिपत्तुम्। तच्चेन्न प्रतिपद्यते नियतमस्य तैमिरिकस्येव समा-रोपकृतं दर्शनवैकृतमभिलक्ष्यत[९] इत्यतः "अप्रतीत्यास्तिता नास्ति"।

---

१. T. वञ्चनात्मकं बाललोकमोहनमवस्त्वद्रव्यं।
२. T. संस्कृतशब्दस्य स्थानपरिवर्तनमत्र विद्यते–संस्कृत–निःस्वभावादि। S. असंस्कृतं।
३. S. गण्यते
४. दृष्टव्या-माध्यमिकवृत्ति, पृ० ४२,
५. S. एतच्च वचनं
६. T. नात्र शब्दोऽयं विद्यते
७. T. यथा
८. S. प्रतिपाद्येत
९. S. उपलक्ष्यत्

§ ६. सचैषन्यायः कालवस्तुदेशभेदभिन्ने पदार्थे सर्वत्राव्यभिचारीत्याह"[१]
"कदाचित् कस्यचित् क्वचित्[२] "

इति यतश्चैवं "न कदाचित् क्वचित् कश्चिद् विद्यते तेन शाश्वतः"। पूर्वार्द्धेन सिद्धस्यैतन्निगनम् ॥२॥

२०३

§ ७. अथ स्यात् । सुखादयस्तावत् प्रतीत्यसमुत्पन्नाः सन्ति । तेषां च समवायिकारणमात्मा । न चासतः समवायिकारणत्वं न्याय्यमित्यतस्तत् कार्योपलम्भादस्ति तावदात्मा । स चैष नित्यः । सदकारणत्वात्[३] । यदस्ति न चास्य कारणमुपलभ्यते तन्नित्यम् सति चात्मनि तज्जातीया अपि पदार्था भविष्यन्तीति । अत्रोच्यते । स्यादेवं[४] यद्यात्मैव स्यात् । न त्वस्ति[५] । कथं कृत्वा । एवम्[६]—

*** न विना हेतुना भावो हेतुमान् नास्ति शाश्वतः ।**
तेनाकरणतः सिद्धिः सिद्धिर्नेत्याह तत्त्ववित् ॥३॥

§ ८. भावः स्वभाव आत्मेति[७] पर्यायाः । सविना हेतुना न सम्भवति । तथाहि—परेणैवास्याकारणत्वमभ्युपेताम्[८] । यन्निर्हेतुकं तत्[९] खरविषाणवन् नास्तीति सिद्धम् । आकाशादिभिरनैकान्तिकतेति चेत् न[१०] । तेषामपि तद्वदेवास्तित्वस्य निषिध्यमानत्वात् ।

§ ९. अथैवं[११] दोषपरिजिहीर्षयाभ्युपेत्‌विरुद्धनाम हेतुनत्वनङ्गीक्रियते एवमप्यस्य हीयते नित्यत्वम् । यस्मात् "हेतुमान् नास्ति शाश्वतः" ।—हेतुमत्वात् सुखादिवदनित्य[१२] इत्यभिप्रायः । यत एतदेवं "तेनाकारणतः सिद्धिः सिद्धिर्नेत्याह तत्त्व-

---

१. S. नात्र 'इति' शब्दः
२. S. नात्र 'क्वचित्' शब्दः
* माध्यमिकवृत्ति, पृ. ९३७.५०५
३. S. सदाकारणत्वात् ।
४. S. स्युस्तज्जातिया: पदार्थाः
५. T. "न त्वस्ति, कथं कृत्वा"
६. S. यस्मात्
७. T. नित्यो ध्रुव आत्मा ।
८. T. स्याकारणवन्वेऽभ्युपेतेऽकार······।
९. S. तच्चनिर्हेतुकं
१०. S. नात्र शस्दोऽयं विद्यते ।
११. T. अन्य
१२ S. नित्यवद्

वित्" । —अस्या देशनाया यथोपवर्णितोपपत्त्यनुगमादविपरीतार्थवित् तथागत एवेति सिद्धम् ॥३॥

२०४

§ १० अथ स्याद् घटसुखादेः कृतकस्यार्थस्यानित्यत्वमुपलभ्यार्थापत्त्या-ऽकृतकस्यात्मादेर्नित्यत्वं भविष्यतीति। एतदप्ययुक्तम् । यस्मात्[1] कृतकस्य घटसुखा-देरस्तित्वमुपलभ्य तद्विपर्यत्येणार्थापत्त्याऽ[2]कृतकस्यात्मादेर्नास्तित्वमापन्नमिति । तदेव प्रतिपादयन्नाह—

*** अनित्यं कृतकं दृष्ट्वा शाश्वतो कृतको यदि ।**
कृतकस्यास्तितां दृष्ट्वा नास्ति तेनास्तु[3] शाश्वतः ॥४॥

§ ११. न चाविद्यमानस्य नित्यत्वं युज्यत इति नास्त्येव नित्यस्य वस्तुनोऽ-स्तित्वम् । [illegible][4] ॥४॥

२०५

§ १२. अथ स्यादाकाशप्रतिसंख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधा[5]नामभिधर्म-शास्त्रपरिपठिता[6]नामकृतकानां[7] नित्यत्वास्तित्वेना[8]भ्युपगमादकृतकस्यासत्त्वप्रति-पानमभ्युपेतेन बाध्यत इति । एतदपि नास्ति । यस्मात्—

*** आकाशादीनि कल्प्यन्ते नित्यानीति पृथग्जनैः ।**
लौकिकेनापि तेष्वर्थान्, न पश्यन्ति विचक्षणाः ॥५॥

§ १३. रूपाभावामात्र एवाकाश व्यवहारान् न किञ्चनाकाशं नाम वस्तुरूप-मस्ति । रूपान्तराभावे[9] तु रूपिणामुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावात् त एव रूपान्तराभावो भृशमस्यान्तः काशन्ते भावा इत्याकाशमित्याख्यातः[10] । तदरूपावस्तुसतोऽकिञ्चनस्य

---

१. S. यस्मादेवमिष्यमाणे ।
२. T. विपर्ययेण ।
३. V. तेनैवास्तु ।
४. S. न चाविद्यमानस्य नित्यत्वं नापि सदेवानित्यं वस्तु ।
५. S. अप्रतिसंख्या निरोध प्रतिसंख्या निरोध····· ।
६. T. शास्त्रपठिता······।
७. S. सतामकृतकानां
८. T. नित्यत्वेनानास्तित्वेन च
९. T. रूपान्तराभावेन
१०. तुलनार्थम्—अभिधर्मकोषव्याख्या, १,५, पृ० १५, ११, १६, २०

नामधेयमात्रोपदेशविमूढै[१] र्यद्वस्तुत्वमारोपितं न तत्प्रमाणमिति न तेनास्माक-मभ्युगमबाधाचोदनं न्याय्यम्[२] ।

§ १४. तथाहि । पदार्थस्वभावापरिडता[३] आकाशाभिधाने प्रयुज्यमाने लौकि-केनापि ज्ञानेनाभिधेयं नाम न किञ्चित् स्वरूपमुपलभन्ते[४] यथा पृथिव्याद्यभिधानेषु काठिन्यादिकम् । किमुत पदार्थस्वभावज्ञानावस्थिताः[५] सर्वं बाह्यं चाध्यात्मिकं च वस्त्वनुपलभमानास्तस्य स्वरूपमुपलप्स्यन्त इति । एवमप्रतिसंख्या निरोधप्रति-संख्यानिरोधयोरपि[६] वक्तव्यम् ॥५॥

२०६

§ १५. अत्राह । नित्यमेवाकाशं विभुत्वात् । यदनित्यं न तद् विभु । तद्यथा घट इति । अत्रोच्यते । यद्यजातस्यासत्त्वप्रतिपादनेन[७] तदधिकारणसर्वाधेयासम्भवो-ऽप्यर्थादुपपादितस्तथापि परमतप्रसिद्धपदार्थस्वरूपविशेषापाकरणमुखेन तन्मतस्या-युक्ततामुद्भिभावयिषुराकाशस्य विभुत्वप्रतिषेधेन नित्यतामपाकर्तुकाम आह—

*** प्रदेशिनि न सर्वस्मिन् प्रदेशो नाम वर्तते ।**
तस्मात् सुव्यक्तमन्योऽपि प्रदेशोऽस्ति प्रदेशिनो ॥ ६ ॥

§ १६. आकाशस्य येऽवयवास्तेऽस्य प्रदेशाः । तैःप्रदेशैर्याकाशम्[८] तस्मिन्-योऽन्य[१०] संयोगीप्रदेशः स तदितरसंयोगिनि प्रदेने वर्तते । यदि हि वर्तते तदा[११] तेना-भिन्नदेशस्यापि[१२] घटस्य[१३] सर्वगतत्वं स्यात् । नै चैतदस्तीत्ययुक्तमेतत् । अपि च यदि सर्वोऽपि[१४] प्रदेशः सर्वत्र वर्तते सोऽपि व्यापित्वात्[१५] प्रदेशिवत् प्रदेशाभिधान-भाग् न स्यात् । प्रदेशाभावाच्च प्रदेशिनोऽप्यभावः स्यात् ।

§ १७. अथैतद्दोषपरिजीहीर्षया प्रदेशिनि सर्वस्मिन् प्रदेशो नाम न वर्तत इत्यभिमतं तदावश्यं सुव्यक्तमन्योऽपि प्रदेशोऽस्ति प्रदेशिनीत्यभ्युपेयम् । ततश्च-सर्वगतप्रदेशवत् आकाशस्य प्रदेशिनो घटादिवद् विभुत्वमवहीयेत । न च परस्पर-

---

१. S. विमूढैरभिधर्मशास्त्रे वैभाषिकैः ।
२. T. तत्प्रमाणमिति अस्माक... ।
३. T. S. स्वभावपरिडताः ।
४. T. किञ्चिदुपलभन्ते ।
५. T. ज्ञानावस्थाः ।
६. T. एवमन्यस्य निरोधद्वयास्यपि ।
७. T. प्रतिपादनार्थं
८. T. अवयविः, S. प्रदेशस्य
९. T. आकाशं ह्याकाशस्य येऽव-यवास्तैरवयविरवयविराकशम् ।
१०. T. घटसंयोगीप्रदेशः ।
११. T. तन्निमित्तम् ।
१२. T. आभिन्नदेशाद् ।
१३. T. घटस्यापि ।
१४. S. यदि प्रदेशोऽपि सर्वत्र ।
१५. T. व्यापिप्रदेशैवत् ।

व्यत्तिभिन्न[1]प्रदेशमात्रव्यतिरेकेण प्रदेशी नाम कश्चिदुपलभ्यत इति कुतोऽस्या-सिद्धसत्ताकस्य[2] नित्यत्वमिति न नित्यमाकाशम् ॥ ६ ॥

२०७

§ १८. कालवादी तु मन्यते । कालकृतौ जगत्प्रवृत्युपसंहारावुपलभ्य काल-सद्भावो[3]ऽनुमीयते । तथाहि । सत्स्वपि बीजादिषु[4] प्रत्ययेषु न सर्वदाङ्कुरादे-रुदय उपलभ्यते । अथ कदाचिदेवोपलभ्यते । तदवस्थानविरोधिकालसन्निधाने च निवर्तते । तदेवम्—

*** यस्मिन् भावे प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्चोपलभ्यते ।**
अन्यायत्तो भवत्येष कार्यस्तेन च जायते[5] ॥ ७ ॥

§ १९. स तथानुमितः कालो नामास्ति । तस्य च सतोऽपि कारणानुपल-म्भान्नित्यत्वमिति । ननु चैवं सति नित्यत्वात् कालस्य तदायत्तोदयानामङ्कुरा-दीनां सदैवोत्पादः प्राप्नोति । अथ सतोऽपि[6] कदाचित् कार्यक्रियासूपरत[7]व्यापा-रतास्येति कल्प्येत । एवमपि सैवास्यासत्वमापादयिष्यति । अथ सतोऽपि बीजा-दिवत् कार्यप्रवृत्तियोग्यात्मातिशयानुवृत्त्यभावान् नास्ति सर्वदा कार्यमिति ।

§ २०. एवमपि बीजादिवद् तद्योग्यात्मातिशयः स कदाचिदेव भवतीति न नित्यः । सोऽपि कुतः सर्वदा नेष्यते । अथ प्रत्ययान्तरायत्तस्य तस्यासन्निधाने सर्वदा न भवतीति । एवमपि प्रत्ययस्य भावे भावादभावे चाभावाद् भूत्वा पुन र्न भवतीति नूनं "अन्यायत्तो भवत्येषः ।" तस्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च यदायत्ता तदायत्तत्वात् सोऽन्यायत्तो भवति । तस्मादङ्कुरादिवत् कार्यत्वं नातिक्रामतीति प्रतिपादयन् " तेन कार्यश्च जायते " इत्याह । कार्यभूतश्चाङ्कुरादिवदनित्य एव ॥ ७ ॥

२०८

§ २१ अन्यच्च । कालहेतुवादिना जगत्प्रवृत्तौ कालस्य हेतुभावकल्पनायां पश्चात् तस्य फलत्वमेवाभ्युपगम्येत । कथं कृत्वेति । यस्मात्

---

१. T. परस्पराव्यतिभिन्न ।

२. T. सिद्धसत्ताकस्य ।

३. T. कालसम्भवः ।

४. S. बीजक्षितिसलिलज्व लनपवनाख्येषु ।

५. V. अन्यायत्ताश्च सोप्यस्ति कार्यं तेनैव विद्यते ।

६. S. न सतोऽपि ।

७. S. उपनत ।

विना फलेन यद्धेतोर्हेतुभावो न विद्यते।
हेतूनां तेन सर्वेषां फलभावः प्रसज्यते ॥ ८ ॥[1]

§ २२. किञ्च । अक्रियस्य हेतुत्वं न सम्भवतीतीह हेतुर्नाम न कश्चित् पदार्थः स्वेतरोऽस्तीति फलार्थोदयस्य हेतुत्वे न कथं स्वस्यैव फलत्वम् । फलत्वे चाङ्कुरादिवदस्य नित्यत्वदृष्टिः कुतो भवेत् । तस्मादेवं हेतुफलव्यवस्थाभावाद् द्वयमपि स्वरूपेण न सिध्यति ।

§ २३. अथ फलं नाम हेतुर्भूत्वा भावः । तथा हि । बीजसद्भावेऽङ्कुरो भवति । न त्वङ्कुरसद्भावे बीजम् । तस्मान्न हेतोः फलत्वमिति । एतदपि न भवति । यस्माद्यो बीजाख्यो भावस्तस्याङ्कुरोत्पत्तेर्न युज्यते । हेतुरेव च फलं जायत इति प्रदर्श्यते । तेन फलं प्रागुत्पत्तेर्न सम्भवति । अथोत्पत्स्यमानस्य फलस्य विनाप्यन्वयं किञ्चित् फलत्वप्रतीतिः । तदा सर्वं सर्वस्य फलं भवेदित्येवमपीदं न भवति । तस्मादहेतुत्वप्राप्तेः हेतुः फलोत्पादे न स्थाप्यते न च कर्मसिद्धिर्भवति । तस्माद्धेतूनां सर्वेषां "फलभावः प्रसज्यते" इति न खलु न लभ्यते ॥ ८ ॥

२०६

§ २४. यदि कालवादिनां...कालोऽस्य विचित्रस्य जगतः कारणं तदा तेन नियतं पूर्वावस्थातो नानारूपेण विकारेण कार्यस्योत्पत्तावुपकारः कर्तव्यः । तथा हि लोके—

*** कारणं विकृतिं गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम् ।**
विकृतिर्जायते यस्य शाश्वतमिति तन्न हि ॥[2] **९ ॥**

§ २५. बीजमिति यन् मूलकारणं तत् स्वयं विकृतिं गच्छदङ्कुरस्य कारणं भवति न पूर्वावस्थाया अपरित्यागे । तथा हि । यदि विचित्रं जगत् कालकृतं स्यात्, तदा कालोऽपि नियतं कार्योत्पादने पूर्वां दूरस्था (?) मवस्थां त्यजन् विकृतावस्थः कार्योत्पादानुरूपो भवत् । तस्माद्बीजवदनित्य एवेत्युच्यत— "विकृतिर्जायते यस्य शाश्वतमिति तन्न हि" ॥ ९ ॥

§ २६. अथ न भवेत् तदास्य हेतुभावपरिकल्पना केवलं निरर्थकमेव क्रियते । तद्धेतुमत्वेनेष्टं फलमप्य हेतुकं जायत इत्युच्यते—

---

१. V. न कार्येण विना हेतोर्हेतुत्वं येन विद्यते ।
हेतूनामेव सर्वेषां कार्यता तत्प्रसज्यते ॥ ८ ॥

२. V. हेतुश्चेद्विकृतोऽन्यस्य कारणं जायते ननु ।
विकारो यस्य भवति शाश्वतः स न युज्यते ॥ ९ ॥

२१०

शाश्वतं कारणं यस्य भावो भूत्वा स जायते ।
स्वयमेवोद्भवस्तस्य कारणं विनिवर्तते ॥ १० ॥[1]

§ २७. विकृताद् बीजाज्जातोऽङ्कुरो बीजान्यत्वासम्भवाद् बीजानुविधायित्वात् सहानवस्थानाच्चान्य एव जात इति न मन्तव्यम् । असदृशानां च सहावस्थितानां हेतुत्वासम्भवात् कालस्य नित्यत्वाच्च हेतोः फलादन्यत्वम् । तस्मादेवासदृशेन सहावस्थानमपि भवति । जातेऽपि फले कालस्याविकारात् । तस्माद् यत् फलं कालाज्जातं तदभूत्वा जायते । हेतुप्रत्ययावनपेक्षमाणं स्वयमेवोद्भवतीत्यर्थः ।

§ २८. [illegible] उद्भवे वा [illegible] नेदं युज्यते । तत्र न सर्वात्मना भूत्वा भावोऽभावात् । यस्य सर्वात्मना भावो न सम्भवति तत् खरविषाणवद् हेतु[illegible] जनयितुं न शक्यते । तस्माद्धेतुधर्मातीतो नित्यो भावो यस्य हेतुरिष्टः स [illegible]त्वा जायते । एष निर्हेतुको जायते । स्वयमेवोद्भवतीत्यर्थः । एवं चास्य किं निरर्थया [illegible]—"स्वयमेवोद्भवस्तस्य कारणं वितिवर्तते ।" स्वमेव सिद्धेरस्य जगतो हेतुः काल इति निष्प्रयोजनम् । अतो हेतोर्हेतुत्वमयुक्तम् ॥ १० ॥

२११

§ २९. इतश्चायुक्तम् । तथा हि— ।

उत्पन्नः शाश्वताद् भावात् कथमशाश्वतो भवेत् ।
वैलक्षण्यं द्वयो र्हेतुफलयो र्जातु नेक्ष्यते ॥ ११ ॥

§ ३०. लोके ह्यनित्यस्यैव बीजस्य फलमङ्कुरो नामानित्यो जायत इति प्रसिद्धम् । कुतश्चिन्नित्यात् किञ्चिदनित्यं भवतीति न भवति चेत्तस्य नित्यस्य कालस्य फलमनित्यमिति तत्कथं सिद्ध्येत् यथा लोके—वैलक्षण्यंद्वयोर्हेतुफलयोर्जातु नेक्ष्यते ॥ १ ॥

२१२

§ ३१. तस्मादेवं कालवादी निषिद्धः । परमाणुवादी तु मन्यते नित्यानां

---

१. V. शाश्वतं कारणं यस्याभावोऽभावाद् भविष्यति ।
स्वत एवोद्भवस्तस्य हेतुश्चैवं निरर्थकः ॥ १० ॥

[illegible] मेणावयविद्रव्यारम्भक्रियाभिर्विचित्रं जगज्जायत इति । तन्मतमपि न युज्यत एवेत्युद्भावयन्नाह—

हेतुः कश्चन देशः स्याद्यस्याहेतुश्च कश्चन ।
स तेन जायते नाना नाना नित्यो न जायते ॥१२॥[1]

§ ३२. सर्वस्यावयविनः [illegible] परिजिहीर्षया हेतुवृत्ति यत् पारिमाण्डल्यं तत् फलवृत्ति न भवतीत्यवश्यं ग्राह्यम् । यस्मादेतदेवं तस्मात् परमाणुषु सर्वात्मतो योगो नोपपद्यते । यदापरमाणुषु सर्वात्मना योगो न भवति तदा तस्य येनांशेन परमाणोः परमाण्वन्तरेण योगः सोऽशो हेतुः । तथा सति यस्प कश्चिद्देशो हेतुः [illegible]श्चिद्देशा न हेतुः स नानास्वरूपत्वन्नाना । तस्माच्चित्रवदनित्य इति प्रतिपादयन्नाह—"नाना नित्यो न युज्यते ॥१२॥

२१३

§ ३३. अथ [illegible] प्रदेशस्य प्रदेशेनायोग एव । सर्वात्मना तु सर्वस्य योगः स्यात् । तस्मात् संयोगलक्षणवत्त्वमस्ति । प्रदेशवत्त्वं तु नास्तीति । अथोच्यते—

हेतोर्यत् पारिमाण्डल्यं फले तन्नैव विद्यते ।
योगः सर्वात्मना तस्मादणूनां नोपपद्यते ॥१३॥[2]

§ ३४. हेतुत्वं पारिमाण्डल्यमप्रदेशत्वं चेति [illegible] लक्षणम् । यदि परमाणुः सर्वात्मना परमाण्वन्तरेण युज्यते न प्रदेशेन तदा हेतुः । परमाणुवृत्ति यत् पारिमाण्डल्यं तत्फले द्व्यणु[illegible] प्रसज्यते । तेन सर्वेषामवयविनां परमाणुमात्रत्वादतीन्द्रियत्वं भवति । न तु तेषां परमाणुमात्रत्वं । तेन परमाणूनां सर्वात्मना योगो नोपपद्यते ॥१३॥[3]

---

१. V. प्रदेशो यस्प हेतुः स्यादहेतुरपि कश्चन ।
भिन्नत्वादभिन्नदेशत्वं नित्यता युज्यते कथम् ॥१२॥

२. V. वृत्तो यो विद्यते हेतुः स फलाय न कल्प्यते ।
अणूनां तेन संयोगः स्वास्मिन्नैवोपपद्यते ॥१३॥

३. तुलनार्थं दृष्टव्यम्— वेदान्तसूत्रे—
[illegible] सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा । सर्वात्मना चेदुपच[illegible] दृष्टविपर्ययश्च । तथैव वसुवन्धुः कथयति—

षटकेन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।
तेशामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥

२१४

§ ३५. अपि च यदा परमाण्वन्तरेण सर्वात्मना न योगस्तदा—

अणोरेकस्य यत् स्थानं तदन्यस्यापि नेष्यते ।
तद् द्वयोर्हेतफलयोः संस्थानं नेष्यते समम् ॥१४॥[1]

§ ३६. तस्मादेवं परमाणूनां परमाण्वन्तरेण [illegible]-द्रव्याणां नातीन्द्रियत्वं । अक्षोभ्यश्च प्रदेशवत्त्वं परमाणोः । प्रदेशवत्त्वाच्चास्य नाना त्वम् । तस्मान्न नित्य इति स्थितम् ॥१४॥

२१५

§ ३७. इह फलद्रव्यारम्भकाले दोष इष्टः । फलारम्भपूर्वावस्थायां तु परमाणूनां निरवयवत्वाद् यथोक्तदोषप्राप्त्यभाव इति । तस्यामप्यवस्थायां पूर्वादिप्रदेशांशोऽयं कार्यः । तदा नूनम्—

यस्य पूर्वः प्रदेशोऽस्ति पूर्वोऽशस्तस्य विद्यते ।
अणोर्येन प्रदेशोऽस्ति तेनाणुर्नाणुरुच्यते ॥१५॥[2]

§ ३८. तस्मादस्य प्रदेश वत्त्वेन घटादिवत् परमाणुत्वं न भवतीत्युच्यते—अणोर्येन प्रदेशोऽस्ति तेनाणुर्नाणुरुच्यते" ॥१५॥

२१६

§ ३९. परमाणुश्चेन्निरवयवः स्यात् तस्य गत्यभावेन परमाण्वन्तरेण संयोगो न स्यात् । न च स्यादवयविद्रव्यारम्भ एव तथाहि । गमनकाले देह्यर्थम्—

ग्रहणं पूर्वभागेण पश्चाद्भागेन वर्जनम् ।
तद्वयं नैव यस्यास्ति स गन्ताऽपि न जायते ॥ १६ ॥

§ ४०. गमनाभिमुखदेह्यर्थं देशस्य पूर्वः प्रदेशः पीड्यते पश्चाद्देशस्य पश्चात्प्रदेशश्च त्यज्यते । तेन [illegible] । अनंशत्वाद्यस्य परमाणोरग्रिमेण पश्चिमेन चावयवेन ग्रहणं वर्जनं च नास्ति स न गन्ता । तदभावात् कार्यारम्भ एव न भवतीति परमाणुवस्त्वस्तीति वक्तुं न युज्यते ॥ १६ ॥

---

१. V. अणोरेकस्य यत्स्थानं तदेवान्यस्य नेष्यते ।
उभयोर्हेतुफलयो र्यौगपद्यं न चेष्यते ॥१४॥

२. V. पूर्वो यस्य प्रदेशः स्यात् पूर्वांशस्तस्य विद्यते ।
अणोर्येन प्रदेशःस्यात्तेनाणुरनणुर्भवेत् ॥१५॥

२१७

§ ४१. अत्राह । यदि परमाणोरभावो नायं योगिभिरुपलभ्येत । उपलभ्यते त्वयं योगिभिर्दर्शनेन । तस्मात् परमाणुर्नित्यः । उच्यते—

आदिर्न विद्यते यस्य यस्य मध्यं न विद्यते ।
विद्यते न च यस्यान्तः सोऽव्यक्तः केन दृश्यते ॥ १७[1] ॥

§ ४२. अनवयवस्य परमाणोः नाग्रांशो: न च पश्चादेशः । तस्मादव्यक्तः । व्यक्तः स्पष्टो ग्राह्यो दृश्य इत्यर्थः । स न भवतीत्यव्यक्तः । दृश्यो न भवति केनापि द्रष्टुं न शक्यते । योगिभिरप्युपलब्धुमनर्हत्वात् । तस्मात् परमाणुर्न नित्यः ॥ १७[2] ॥

२१८

§ ४३. अत्राह परमाणवो नित्या एव । स्थूलानामुद्भवस्य बीजस्वभावानुगमात् । यदि ते न स्यु बीजमन्तरेण स्थूलानामुद्भवो भवेत् । तथा हि । कुतः प्रथमे कल्पे स्थूलानामुद्भवः । प्रलयकाले हि सर्वाण्यवयविद्रव्याणि विशीर्यमाणशरीराणि । न स्थूलानां सम्भवः । यदि तस्यामवस्थायां स्थूलवत् परमाणवोऽपि न स्युस्तदा हेतुमन्तरेण स्थूलानामुद्भवः स्यात् । तस्मादवयविद्रव्यस्य हेतुभूताः परमाणवः सन्त्येव । ते च नित्याः । सतोऽहेतुमत्त्वात् । तदपि न युज्यते । कुतः—

नष्टः फलेन यद्धेतुस्तेन हेतुर्न शाश्वतः ।
यस्मिंश्च विद्यते हेतुः फलं तस्मिन्न विद्यते ॥ १८[3] ॥

§ ४४. परमाणवश्चेद् हेतुरेव स्युरङ्कुरेण बीजवत्[4] ते द्व्यणुकादिभिरवयविद्रव्यै विनश्येयुः । तस्मात् तस्मिन् फले सहानवस्थानात् परमाणवो बीजवन्न नित्याः । यदैवं हेतुत्वं न सम्भवति तदा परमाणूनां नित्यत्वपरीक्षा निरर्थेति किं [तैः] प्रयोजनम् । तस्मात् परमाणवो न नित्याः ॥ १८ ॥

---

१. V. यस्यादिर्नैव भवति मध्यं यस्य न विद्यते ।
विद्यते न च यस्यान्तः सोऽव्यक्तः केन दृश्यते ॥ १७ ॥

२. तुलनार्थं द्रष्टव्या मूलमाध्यमिककारिका, ११. २
माण्डूक्यकारिका, ४, ३१, भागवतपुराण, ११, २८, २
योगवासिष्ठ, ३, २, १३ आचाराङ्गसूत्र,१. ४. ४(pTS पृ० २०) ।

३. V. हेतो विनाशः कार्येण तेन हेतुर्न शाश्वतः ।
अथ हेतुर्भवति यः स कार्यं नैव जायते ॥ १८ ॥

४. T. बीजेनाङ्कुरवत् ।

२१६

§ ४५. इतोऽपि परमाणवो न नित्याः । कुतः—

संश्लेषो शाश्वतो भावो न कस्मिन्नपि दृश्यते ।
शाश्वतत्वमणोस्तेन जातु बुद्धैर्न वर्ण्यते ॥ १६[1] ॥

§ ४६. इह परमाणौ परमाण्वन्तरं सर्वात्मना न वर्तत इति परमाणोः संश्लेषित्वे संश्लेषिणां घटानामिव नित्यत्वमपि न युज्यते । तस्मात् परमाणोर्न नित्यत्वम् । येन न नित्यत्वं "शाश्वतत्वमणोस्तेन जातु बुद्धैर्न वर्ण्यते" ।

तस्माद्वैशेषिकाणामिव सौगतानां दर्शने परमाणुद्रव्यमिति नास्ति । तस्मात् तथागतैरपि परमाणो नित्यत्वप्रतिपादनं न कृतम् । स्वमेव तथाऽदर्शनात् ।

§ ४७. एवं तस्योत्पत्तिस्थितिनिरोधाः क्रमेण यौगपद्येन च न भवन्तीति न वर्तन्ते । उत्पत्त्यादिविरहे च सत्त्वमपि न युज्यते ।

§ ४८. यस्माल्लौकिका भावा लोकोत्तरपरिदर्शनविचाराप्रविष्टा लोके यथा भवन्ति तथाभ्युपगन्तव्याः । यथा विज्ञानं लौकिकं तथा परमाणुरपीति न्यायावतारेऽपि परमाणुः प्रकाशयितुं न शक्यते । तथाभूतस्य लोकागमविरोधेन विरुद्धत्वात् । एवं निषिद्ध परमाणुवादः ॥ १६ ॥

२२०

§ ४६. [अत्र] केचित् । बुद्धैः परमाणूनां नित्यत्वं नोक्तम् । इदं सत्यमेव । यस्य तु नित्यत्वमुक्तं तन्नित्यमेव । यथा भगवता अस्ति भिक्षवस्तदजातमभूतमसंस्कृतम्[2]—इत्युक्तेऽसंस्कृतधर्मा नित्या इत्यप्युक्तम् । तस्मान्निर्वाणं नाम तन्नित्यम् । न चेद् दुःखसत्यस्य समुदयसत्यस्य च प्रवृत्तिक्षेपे तृतीयार्यसत्यस्य शासनमपि न भवतीति भवत्युपदेशः । तस्मात् तदस्ति । अत्रोच्यते—

उपायाद् बन्धनाद् बन्ध्यादन्यो मोक्षो भवेद्यदि ।
न तस्माज्जायते किञ्चिन्मोक्षः स इति नोच्यते ॥ २० ॥[3]

---

१. V. संयोगि शाश्वतो भावो येन दृष्टो न विद्यते ।
शाश्वतत्त्वमणोस्तेन जातु बुद्धैर्न कथ्यते ॥ १६ ॥

२. तुलनार्थम्—उदान, ८.३–अत्थिभिक्खवे अजातं अभूतं असंखतं ।

३. V. बद्धस्य बन्धनोपायाद् निर्वाणं यदि भिद्यते ।
अजातं तदतस्तेन निर्वाणं इति नोच्यते ॥

§ ५०. तत्र बन्धनं समुदयसत्यम् । बन्ध्यस्यास्वतन्त्रीकरणेन बन्धनं भवतीति । बन्ध्यं दुःखसत्यम् । क्लेशस्य परतन्त्रत्वात् । तन्निवर्तक उपायो मार्गसत्यम् । क्लेशनिवर्तकत्वात् । बन्धनं बन्ध्यं च विना बन्धनकार्यं न सम्भाव्यत इति बन्ध्य-बन्धनयोरस्तित्वं तदस्तित्वस्य हेतुः तथा निवर्त्य निवर्तकं च विना निवृत्तिर्न भवति । तत् सत्वान् निवर्त्यनिवर्तकयोः सत्वम् । तत्र निवर्त्यः सङ्क्लेशः । निवर्तको मार्गः । तमसि दीपवत् । यथा सत्यत्रयमिद सङ्क्लेशतन्निवर्तकमार्गानुमित-(?) सत्वमस्ति तथा क्लेशक्षयलक्षणो मोक्षो नास्ति । यतस्तस्मात् किञ्चिन्मात्र-मपि न जायते । बन्धमोक्षयोरप्यवयवस्वभावानुपगतत्वात् । स्याच्चेदस्य कुत्रचिदु-पयोगस्तदा तेन फलेनानुमित (?) मस्य सत्वं स्यात् । न चेदमेव मस्ति । तस्मान्नास्य सत्वम् ।

§ ५१. अथ मोक्षो मुक्तिरिति मन्यते । तथाप्येष मुक्तिभूतत्वेन नार्थान्तरं भवति । एवमसति तस्मिन्नैव तेन सम्बन्धः । न च किञ्चित् क्रियते । तस्मादयं मोक्षो वक्तुं न युज्यते । तेन "मोक्षः स इति नोच्यते ।"

§ ५२. तस्माज्जातिक्लेशयोरनुद्भवस्तत्कृत इति नैतत् परीक्षितुं युक्तम् । हेतुप्रत्ययसामग्र्युद्भवानां भावानामभावाद् बीजास्थितोऽङ्कुरादिवत् कदापि जातिर्न भवति । तस्मात् तदर्थमर्थान्तरपरीक्षाधर्मो न श्रेयान् ।

§ ५३. तृतीयसत्य[१]वाच्यत्वमपि न विरुद्धम् । जातिक्लेशयोः पुनरनुद्भव-मात्रस्य तृतीयशब्दवाच्यत्वात् । न चाभावभूतस्य संख्यया न परिसङ्ख्यानं भवति । उक्तं हि भगवता—"पञ्चेमानि भिक्षवो नाममात्रं प्रतिज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं संवृतिमात्रम् । तद्यथातीतोऽध्वानागतोऽध्वाकाशो निर्वाणं पुद्गलश्चेत्यादि ।"[२]

२२१

§ ५४. स्कन्धाः सन्ति न निर्वाणे पुद्गलस्य न संभवः ।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत् ॥२१[३]॥

§ ५५. अन्यच्च । उक्तमेवं भगवता—यद्दुःखं निरवशेषमिदं प्रहीणम् । क्षयो विरागो[४] निरोध उपशमोऽस्तदुःखमयुक्तान्यसन्धिकं निरुपादानमिदं शान्तं

---

१. दुःखनिरोधसत्यम्

२. गद्यांशोऽयं गुणरत्नेन षड्दर्शनसमुच्चय उद्धृतः ।

३. V. स्कन्धा न सन्ति निर्वाणे पुद्गलस्य न संभवः ।
यत्र दृष्टं न निर्वाणे निर्वाणं तत्र किं भवेत् ॥

४. सुत्तनिपात, २२५ : खयं विरागं ।

प्रणीतमिति[1]। एवं सर्वस्कन्धप्रहाणं भवक्षयो विरागो निरोधो निर्वाणमिति[2]। अस्मादागमात् सर्वथा निर्वाणे स्कन्धा न भवन्ति। न च सम्भवति पुद्गलः। यदि निर्वाणे स्कन्धाः स्युः पुद्गलोऽपिस्यात्। तदा तेषां सत्वानां निर्वाणोपलम्भे सूत्रविरोधो निर्वाणं च संसारानतीतं स्यात्। तस्मात् तस्मिन् निर्वाणे निर्वाणभूतं किञ्चदपि नोपलभ्यते। तस्माद्—"यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणं तत्र किं भवेत्।"

§ ५६. निर्वाणं हि निर्वृतिः। तच्च भावरूपत्वादाधारायत्तम्। आधारश्चास्य निर्वाणभूतः। स च स्कन्धा वा पुद्गलो वा। तदभावे चाधाराभावः। तत्पक्षे निर्वाणं किं भवेत्। एकरूपेण च निर्वाणपदार्थस्य सत्यत्ववादिना परिकल्प्यमानं निर्वाणनाधारभूतमाधेयभूतं वा परिकल्प्यते। तत्र तावदाधारभूतं न युक्तम् तथाहि—स्कन्धा सन्ति न निर्वाणे पुद्गलस्य न सम्भवः।

§ ५७. तयोरभावेन यत्र निर्वाणं जायते न तु किञ्चिदुपलभ्यते किं तत्र निर्वाणं भवेत्। तथा च निर्वाणं तावन्नाधारभूतं सम्भवति। यत्र पुनराधेयभूतं तत्रापि स एव दोषः। यतः—

स्कन्धाः सन्ति न निर्वाणे पुद्गलस्य न सम्भवः।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाणे तत्र किं भवेत्॥

निराधारस्याभावात् निर्वाणं किं भवेत्। असति च न ज्ञायते नित्यत्वमिति न सन्ति नित्या भावाः ॥२१॥

२२२

§ ५८. साङ्ख्या हि गुणपुरुषभेदज्ञानात् महदादिप्रवृत्तिविपरीतक्रमेण विकृतिसमूहानां सर्वथा शान्त्या मोक्षावस्थायां पुरुषस्य ज्ञातावस्थानादात्मनो मुक्तिर्यथोक्तदोषप्रहाणेन च मोक्षो भवतीति कल्पयन्ति तेषां तत्रापि—

ज्ञानेन मोक्षकाले स्याद् भवहीनस्य को गुणः।
सत्त्वेऽज्ञानस्य च व्यक्तं स्यात् सत्त्वं नास्तितासमम् ॥२२॥[3]

५९. "ज्ञानेन मोक्षकालेस्याद् भवहीनस्य को गुणः।" मुक्तभूतस्य पुरुषस्य मोक्षावस्थायां ज्ञानास्तित्वं कल्पयितुं न युक्तम्। तेषां हि दर्शने पुरुषो बुद्ध्याध्यवसायार्थं जानाति। ज्ञान[4]मप्यग्नेरुष्णत्ववत् तत्स्वरूपमित्यभीष्टम्। तदपि यथोप

---

१. संयुक्तनिकाय, १.१३६

२. तदेव।

३. ज्ञानसत्वमपि

४. V. निर्वाणं यद्भवाभावे तदा ज्ञानेन को गुणः।
अज्ञानस्य हि यो भावः स व्यक्तं नास्तितासमः ॥२३॥

दर्शितविषयपरिच्छेदस्वभावकम् । प्रकृति र्हि विषयसम्भोगकामाज्ज्ञातपुरुषादभेदेन प्रतीतेः [illegible] पुरुषस्य [illegible] यदा विषयोपसम्भोगकामः पुरुषस्य निवर्तते । तदाभवोनिवर्तते भव इष्टे (?) तस्य भवहीनस्य ज्ञानसद्भावेन न कश्चिदपि गुणः । तेन तदा न कोप्यर्थः सम्यगनुभूयते । हेतुफलात्मकस्य विकारसमूहस्य सर्वतः प्रशान्तत्वात् । तस्मान्न मुक्तस्यात्मनो मोक्षज्ञानं युज्यते ।

§ ६०. अथ तदा पुरुषस्य ज्ञानं नास्तीति ज्ञायते । एवमपि" सत्वेऽज्ञानस्य च व्यक्तं स्यात् सत्वं नास्तितासमम्" इतीदं किं न स्यात् । ज्ञानभावादभिन्नस्वभावस्य पुरुषस्य ज्ञाननास्तित्वेऽज्ञानस्य यत् सत्वं[1] कल्प्यते तद् व्यक्ततरं [illegible] ॥ २२ ॥

२२३

§ ६१. अथ मोक्षावस्थायां ज्ञानास्तित्वशक्तिसत्वादात्मा विद्यत इति मन्यते इदमप्यसारम् । कुतः

आत्मा यदि भवेन् मोक्षे ज्ञानबीजस्य सम्भवः ।
तदभावो यदि भवभावनापि न विद्यते ॥२३॥[2]

§ ६२. यदि मुक्त्यवस्थायामात्मा प्रत्येतु शक्येत तदात्मनः सत्वेन तदाश्रितज्ञानसत्वेन च शक्तिर्भवेत् । सा च ज्ञानास्तित्वरूपेति तदभावे न भवतीति निराश्रया शक्ति र्न सम्भवति ।

यदाश्रयाभावेन ते[3] सर्वथा न विद्येते तदा "तदभावो यदि भवभावनापि न विद्यते ॥ २३ ॥

२२४

§ ६३. अङ्कुरादिशक्त्याश्रये बीजे दग्धभूतेऽङ्कु[illegible]ऽपि सन्तानमात्रस्य सर्वथाप्रवृत्त्या मोक्षो युक्तः । यस्मादेतदेवं तस्मात्—

नृषु दुःखाद् विमुक्तेषु नूनमन्यत्र विद्यते ।
श्रेयानात्मक्षयस्तस्मात् सर्वथामीति कथ्यते ॥ २४ ॥[4]

---

१. T. सत्यं

२. ज्ञानास्तित्वं तच्छक्तिश्च

३. V. आत्मैव यदि निर्वाणे ज्ञानं पूर्णं भवो भवेत् ।
तदभावे हि संसारे भावनापि न विद्यते ॥ २३ ॥

४. V. नरेषु दुःखमुक्तेषु परो नाम न विद्यते ।
सर्वथात्माक्षयस्तेन श्रेयानित्यभिधीयते ॥ २४ ॥

§ ६४. दुःखान्मुक्तस्य दुःखं नोद्भवति । दुःखानि चोत्पादनिरोधधर्मकस्य संस्कारकर्मणा क्लेशेन चोत्पाद्यन्ते । तानि च प्रतीत्य पुद्गलो बध्यते । स चात्मा । दुःखे च निरुद्धे तेन सह सिद्धिसुखैकोगादातुरात्मनः सर्वथा पश्चाद-भूतात्मकत्वेन यः क्षयः स एव श्रेयानिति नास्ति मुक्त आत्मा । स तावद-कारणत्वेन न स्वयं विद्यते । बन्ध्यापुत्रवत् । तस्य स्वरूप सद्भावे च नित्यत्वेना-विकाराद् बन्धमोक्षोभयविशेषाभावेन पूर्वमिव संसारनिवृत्ति र्न स्यात् । विशेषा-भ्युपगमे च[1] विकारसद्भावादनित्यः स्यात् । अनित्यस्य[2] च सकारणत्वं स्यात् । ततश्च दुःखसन्तानः सदृश एव स्यात् स्ववादत्यागश्च[3] । तस्मान्न युक्तम्— स्यात्मानमभ्युपेतुम् । अभ्युपेत्यापि हि यत्परं प्रति प्रतिपादनासामर्थ्याद्दुक्तदोषाच्च परित्याज्यं किं तेनाभ्युपगतेन प्रयोजनमिति त्यज्यतामात्मवादः ॥ २४ ॥

२२५

§ ६५. यद्येवं मुक्तावस्थायां मुक्तात्मनोऽप्यसद्भावः संस्काराणा चापुन-रुत्पाया सर्वथा[4] परिक्षयरूपं परमार्थसंज्ञकं निर्वाणं वर्ण्यते तदलमेतेनेदृशेन परमार्थेनार्थितेनेत्यत आत्मकामस्य[5]—

*** वरं लौकिकमेवेदं परमार्थो न सर्वथा ।**
लौकिके विद्यते किञ्चित्परमार्थे न विद्यते ॥ २५ ॥

योगाचारे[6] चतुःशतके नित्यार्थप्रतिषेधभावना[7] सन्दर्शनं नवमं प्रकरणम् ॥२५॥

§ ६६. नैव ह्यात्मकामो[8] लोचनामयसम्पाताशङ्क्याक्ष्णोरुत्पादनमनुतिष्ठति करोति त्वामयोपघातमेव । तथा संसारदुःखोद्विग्नस्य दुःखत्याग एव ज्यायान् न तु सर्वाभावः । सर्वाभावे हि सति सर्वस्य सुखस्याप्युच्छित्या न किञ्चिदनेनात्मन न उपकृतं भवति । ततश्च वरं लौकिकमेवेदम् ।

---

१. S. विशेषाभ्युपगमेन
२. T. ततः
३. S. एवं च सति स्वभावत्यागः स्यात् ।
४. T. अत्यतं
५. T. आत्मश्रेयत्कामस्य
६. चन्द्रकीर्तिना - बोधिसत्वयोगाचारे
७. T. समापत्तिसन्दर्शनं
८. T. ह्यात्मश्रेयकामे

§ ६७. लौकिके हि[१] त्वया किञ्चदङ्गीक्रियते यत् प्रतीत्यसमुत्पन्नमुपदाय च प्रज्ञप्तम्[२] । किञ्चन्नाङ्गीक्रियते यत् तीर्थकैरभूतमारोपितं सत्वाभाव्यं च भावानाम् । अथवा यददत्तफलम[३]तीतं कर्म तत्फल[४]ञ्चा[५]नागतं प्रत्युत्पन्नाश्च संस्कारा इत्येतत् तव लौकिके[६]ऽस्ति । तदवशिष्टं नास्तीति वरमेतल्लौकिकं यत्र न सर्वाभावः । परमार्थस्तु न श्रेयान्[७] सर्वथाप्यात्मनोऽप्यसद्भावात्[८] ॥२५॥

———

१. T. ह्यस्मिन्
२. T. यच्चक्षुराद्यङ्कुरादि वा प्रतीत्यारोपितं घटपटगृह... वनसेनाराम याननौकादि
३. T. यत्कुशलाकुशलाद्यनुद्भूतफलम् ।
४. T. शुभाफलं ।
५. T. वा
६. S. लौकिकेन
७. S. परमार्थस्तु सर्वथा न श्रेयान् ।
८. T. सर्वथात्मनो सद्भावात् ॥

दशमं प्रकरणम्

आत्मप्रतिषेधभावनासंदर्शनम्

२२६

§ १. अत्राह। यद्यात्मा नाम कश्चिद् स्वरूपतः स्यात्तस्य निर्वाणे सर्वथोच्छेददर्शनान् "नास्त्यहं[1] न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति" इति परिशङ्कितस्य स्यादेवं

वरं लौकिकमेवेदं परमार्थो न सर्वथा।
लौकिके विद्यते किञ्चित्परमार्थे न विद्यते॥

§ २. न चात्मा नाम कश्चित्स्वरूपतः सम्भवति। यदि हि स्यात् स नियतं स्त्रीत्वेन वा स्यात् पुरुषत्वेन वा नपुंसकत्वेन वा। ततोऽन्यस्य कल्पनान्तरस्याभावात्। द्विविधं ह्यात्मानं वर्णयन्ति तीर्थिका यदुतान्तरात्मानं बहिरात्मानं च। तत्रान्तरात्मा नाम यः शरीरागारान्तर्व्यवस्थितः[2] शरीरेन्द्रिय[3]सङ्घातस्तत्र[4] तत्र प्रवर्तयितान्तर्व्यापारपुरुषो जगदहङ्कारनिबन्धनः कुशलादिकर्मफलोपभोक्ता[5] प्रतितन्त्रमनेकविकल्पभेदभिन्नः बहिरात्मा तु देहेन्द्रियसङ्घातरूपोन्तरात्मन उपकारी[6]। तत्र यस्तावदयमन्तरात्मा[7] स यदि स्त्रीत्वेन परिकल्प्येत[8] तदा तस्याजहद्रूपत्वाज्जन्मान्तरपरिवर्ते[9]ऽपि लिङ्गान्तराप्रतिपत्त्या नित्यमेव स्त्रीत्वं स्यात्। न चैवं भवति[10]। व्यत्योपलब्धेः [illegible]। एवं स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे च वाच्यम्। तदेवम्—

अन्तरात्मा यदा न स्त्री न पुमान्न नपुंसकम्।
तदा केवलमज्ञानाद् भावस्तेहं पुमानिति॥ १॥

§ ३. पुमानित्युपलक्षणत्वादहं स्त्री नपुंसकमिति। सर्वमेवाज्ञानाद् भवति विचार्यमाणस्य वस्तुसत्त्वस्य तथासिद्ध वादज्ञानं मुक्त्वा नान्यत्तथापरिकल्पनकारणं[11] युक्तम्। रज्जुस्वरूपापरिज्ञाने सर्पाध्यारोपवदित्यभिप्रायः॥ १॥

---

१. S. नास्म्यहं।
२. T. शरीरागारव्यवस्थितः।
३. T. शरीरतदिन्द्रिय।
४. S. सङ्घातस्य तत्र।
५. S. कुशलाकुशलनानागमोपदिष्टकर्मफलोपभोक्ता।
६. S. अपकारिव।
७. T. यस्तावदन्तरा मा।
८. T. कल्प्यते।
९. T. परिवर्त्तयुरन्तरानु... ..
१०. S. दृश्यते
११. T. तथापरिकल्पनादप्रतीतिकारणं।

२२७

§ ४. एवं तावदन्तरात्मनोऽयः स्त्रीत्वादिपरिकल्पो नासौ वस्त्वनुविधायीति स्थितम् । अथमन्यसे बहिरात्मनो लिङ्गान्येतानि स्त्रीपुंनपुंसकत्वानि तत्सम्बन्धादन्तरात्मन्यपि परिकल्प्यन्त[१] इति । स्यादेतदेवं[२] यदि बहिरात्मनोऽप्येतानि युज्यन्ते । कथं कृत्वा । इहाकाशस्य तावन्महाभूतत्वायोगाच्चत्वार्थेव महाभूतानि । यस्यापि[३] पञ्चमहाभूतानि तस्याप्याकाशस्य शरीरारम्भकत्वायोगाच्चत्वार्थेव महाभूतानि कारणभावं प्रतिपद्यन्ते । तेषु च स्त्रीपुंनपुंसकत्वानि स्वरूपतो न विद्यन्ते । यदि स्युस्तदा तत्स्वभावानुरोधात् सर्वदेहानां नियतलिङ्गता स्यात् । कललादपि च लिङ्गोपलब्धिः स्यान्न चैतदस्तीत्यतः—

यदा सर्वेषु भूतेषु नास्ति स्त्रीपुंनपुंसकम् ।
तदा किं नाम तान्नेव प्राप्य स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ २ ॥

§ ५. किं नामात्र कारणं यत् स्वरूपतो लिङ्गरहितानि महाभूतानि प्राप्य स्त्रीपुनपुंसकानि देहानां सम्भविष्यन्ति । तदेवं बहिरात्मनोऽपि स्त्रीपुंनपुंसकत्वानामयोगात् केवलमज्ञानात् तवायमभिप्रायः पुमानहं स्त्र्यहं[४] नपुंसकमहमिति ॥२॥

२२८

§ ६. इतश्चात्मा स्वरूपतो नास्ति ।[५] यदि ह्यात्मा स्वरूपतः स्यात् स यथैकस्याहङ्कारस्यालम्बनं तथा सर्वेषामहङ्कारस्यालम्बनं स्यात्[६] । न हि लोकेऽग्नेरौष्ण्यं स्वभावः कस्यचिदनौष्ण्यं[७] भवति । एवमात्मा यदि स्वरूपतः स्यात् सर्वेषामात्मेति स्यादहङ्कारविषयश्च । न चैतदेवम् तथाहि—

यस्तवात्मा ममानात्मा मेनात्मा नियमान्न[८] सः ।
नन्वनित्येषु भावेषु[९] कल्पना नाम जायते[१०] ॥

§ ७. यो हि तवात्मा त्वदहङ्कारविषय आत्मस्नेहविषयश्च स एव ममानात्मा भवत्यस्मदहङ्कारा विषयत्वादात्मस्नेहाविषयत्वाच्च । यत एतदेवं तेन नियमान्न सः । यश्च नियमादात्मा न भवति स स्वभावतो नास्तीति त्यज्यतामसदर्थ आत्माध्यारोपः ।

---

१. T. कल्प्यन्त
२. T. नैवं
३. T. यस्यापि दर्शने
४. S. स्त्रीनपुंसक…।
५. T. तथाहि यदि ।
६. S. नात्र शब्दोऽयं वर्तते ।
७. T. कस्यचिदग्नेरनौष्ण्यं ।
८. T. B. अनियमान्न ।
९. S. अभावेषु
१०. T. कल्पनेत्युपजायते ।
V. कल्पना ननु जायते ।

§ ८. यद्यात्मा नास्ति क्व ताविमावहङ्कारात्मस्नेहावित्याह नत्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते ।

यथोपवर्णितेन न्यायेन स्वरूपसिद्धस्य स्कन्ध व्यतिरिक्तस्यात्मनः सर्वथाभावान्[1] नन्वनित्येषु रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाख्येषु भावेष्वात्मेति कल्पना अभूता[2]र्थारोपणं क्रियत आत्मा सत्त्वो जीवो जन्तुरिति[3] । यथा[4] हीन्धनमुपादायाग्निरेवं [illegible] प्रज्ञप्यते । स च स्कन्धेभ्यस्तत्त्वान्यत्वेन पञ्चधा च निरूप्यमाणः स्वभावतो नास्तीत्युपादाय प्रज्ञप्त्या परिकल्प्यत इत्यनित्येषु संस्कारेस्वात्मपरिकल्पना भवतीति स्थितम् ॥ ३ ॥

२२६

§ ९. अत्राह[5] । अस्त्येवात्मा स्वभावतः । प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणत्वात् । यद्यात्मा न स्यात् कः शुभमशुभं वा[6] कर्मकृत्वा तत्फलं संवेदयेत । स हि शुभमशुभं वा[6] जातिगतियोन्यादिभेदभिन्ने त्रैधातुके कर्मानुरूपं जन्मप्रबन्धमन[7]न्तं सुखदुःखदुःखफलोपभोगनिबन्धनमासादयति । स ह्यभिसंस्कर्ता च प्रत्यनुभविता च स हन्यते चाधर्मेण[8] स्पृश्यते मुच्यते[9] च । तस्मादस्ति स्वरूपत आत्मेति । कि पुनरयमात्मा[10] जन्मान्तरपरिवर्तेषु[11] देहादिविकारमनुरुध्यतेऽथ न । यदि तावन्[12] नानुरुध्यते तदा किमनेनाकिञ्चित्करेणात्मपरिकल्पनेन[13] । अथानुरुध्यते तदा नियतं तव— ।

* **देहाद्विकृतं याति पुमाञ्जन्मनि जन्मनि ।**
देहात्त[14]वान्यता तस्य नित्यता च न युज्यते ॥ ४ ॥

---

१. T. सर्वथानुपलम्भात्
२. S. स्वभूतार्थारोपणं
३. T. नन्वनित्येत्यारभ्य जन्तुरितिपर्यन्तस्थाने—"अनित्येषु भावेषु रूपादिसंज्ञकेषु निःस्वभावेषु आत्मेति सत्व इति जीव इति जन्तुरिति मनुज इति कारक इति वेदक इत्याद्यहमिति विपरीत कल्पना क्रियते ।
४. S. यदा ।
५. T. अत्र ।
६. T. आचल वा अध्रुवक वा ।
७. S. अनन्तप्रभेदं
८. T. बाध्यते ।
९. T. बध्यते ।
१०. T. इदानीं
११. T. जन्मान्तरेषु
१२. T. शब्दस्याभावः ।
१३. T. कल्पनेन
१४. S. & V. देहान्तेन

§ १०. नासौ देहादन्यो देहविकारानुविधायित्वाद् देहैकदेशवत् । नापि नित्यो देहादनन्यत्वात् । तस्मादयुक्त[1] आत्माध्यारोपः ॥४॥

२३०

§ ११. अत्राह । यद्यात्मा न स्वरूपेण सिद्धस्तदा देहस्य चेष्टासङ्कोचन-प्रसारणादीनां कः प्रवर्तयिता । न ह्यचालको रथश्चलति । तस्मादवश्यमेव रथ-चालकदेवदत्तवद्देहचेष्टाहेतुः कश्चिदन्तःकरणपुरुषोऽभ्युपेतव्यः । इदमपि न युक्तमिति प्रतिपादयन्नाह—

भावस्य नास्पर्शवतः प्रेरणा नाम जायते ।
तस्माद्देहस्य चेष्टायाः कर्ता जीवो न जायते ॥ ५ ॥[2]

§ १२. रथो हि केनचिदस्पर्शवता पदार्थेन प्रेरयितुं न शक्यते । स्पर्शवतो हि सा प्रेरणा । भवद्भिः परीक्षित आत्मापि न स्पर्शवान् कालवद्देहाभावात् । कस्याप्यस्पर्शवता केनचित्पदार्थेन स्पर्शो न भवति ।[3] यदैतदेवं तदा कुतो देहचेष्टा-हेतुत्वेनास्य सद्भावानुमानमस्पर्शवतोऽस्माद्भावात् प्रेरणा च । अन्यच्चायमात्मा प्रदेशाभावान्न स्पर्शवान् । योऽप्रदेशो न तस्य संयोगः । संयोगविरहितस्य च प्रेरणा न भवतीति न क्रियावत्त्वेन तत्सद्भावोऽभ्युपगन्तुं युज्यते ॥ ५ ॥

२३१

§ १३. अपि च । यद्ययमात्मा नित्यः स्यात्तस्यापरिरक्षणीयत्वादहिंसात्मक-धर्मोपदेशो न स्यादाकाशवत् । असिसाधाराग्निविषाशनिपातादिभिरस्य रोमापि कम्पयितुं न शक्यते । तस्मादेवोच्यते—

अहिंसा नित्य आत्मा च को हेतुरिह मन्यते ।
सर्वथा घुणतो वज्रो रक्षणीयो न जायते ॥ ६ ॥[4]

§ १४. अनपकाराशङ्कस्य वज्रस्य घुणात्परिरक्षणं नारभ्यते । तथात्मा नित्यश्चेदहिंसात्मको धर्मो न युज्यते । विद्यत एव चायमहिंसात्मको धर्मः तस्मादात्मा वा नित्यो नाभ्युपगन्तव्यः । कारणान्तरं वा वक्तव्यम् । तच्च नोच्यत इति न तद्युक्तम् ॥६॥

---

१. S. तस्माद्देहस्त्वात्मद्विति अयुक्त ।

२. V. अस्पर्शवत्सु भावेषु चेष्टा नाम न जायते ।
तस्माच्छरीरेच्चेष्टाया जीवः कर्ता न जायते ॥

३. दृष्टव्या कारिका, ३३३

४. V. शाश्वतस्यामरस्यास्यात्मनो हेतु हि को मतः ।
सर्वथा कीटकाद्वज्रभक्षणं नैव जायते ॥

२३२

§ १५. अत्राह । नित्य एवात्मा जातिस्मरणसद्भावात् । उत्पन्नेषु संस्कारेष्वनन्तरभङ्गशीलेषु जात्यन्तरस्मरणं न युज्यते । जन्मान्तरसंस्कारा हि यत्रोत्पन्नाः [तत्र] एव नश्यन्ति । इहान्य उत्पद्यन्ते । तस्मादात्मातीते काल एवमेवमभूदिति स्मृति र्न युज्यते स्याच्चेदात्मा नित्यस्तदैव जात्यन्तरचारित्वेनानुस्मृति र्युज्यते । अस्याप्यनैकान्तिकत्वमुद्भावयन्नाह—

जातिस्मरणसद्भावादात्मा ते यदि शाश्वतः ।
क्षतं पूर्वकृतं दृष्ट्वा कायस्ते[2] किमशाश्वतः ॥ ७ ॥[1]

§ १६. इह जात्यन्तरेषु शूलाद्याघातोद्भूतानि क्षतानि भवन्ति । तथोपलक्षितकायाः केचिद्विनश्यन्ति । तथाभिलक्षितकायाश्चैव जायन्ते । [illegible] च यथानुभवं काल जात्यन्तरजातावसानप्रकाशतत्परंमुपलभ्यते । तस्माज्जातिस्मरणसद्भावकृतात्मनित्यत्वपरिकल्पनावत्तेषां कायनित्यत्वं कल्पयितव्यं चेदेवमपीदं न भवतीति न तद्भवति ।

§ १७. तस्माज्जातिस्मरणसद्भावादेतस्मादात्मा नित्यो न युज्यते कायस्यापि नित्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ७ ॥

२३३

§ १८. अपि च । कथमयमात्मा जन्म स्मरतीति कल्प्यते । यदि स्वभावादेवेति । न तद् युज्यते । तस्याकल्पकस्वभावत्वात् । अथ सचित्तत्वादिति कल्प्यते । तदपि न युज्यते । स्वभावत्यागप्रसङ्गात् । तदेव प्रतिपादयन्नाह—

आत्मनश्चेत्सचित्तस्य ज्ञातृत्वं जायते ततः ।
सचित्तस्य न चित्तं स्यात्पुरुषो न च शाश्वतः ॥ ८ ॥[3]

§ १९. यदि बुद्ध्यादय आत्मनो गुणास्तद्योगेनात्मा गुणानुरूपं प्रवर्तते । भावा अपि प्रकृतिं न त्यजन्ति । ते चेदर्थान्तरसम्बन्धात् क्रियाविशेषवन्तस्तदा तेषां विशेषस्य पूर्वमभावेन विकारत्वम् । विकारवतां च स्वरूपं नास्तीति नास्ति तवात्मनः स्वरूपम् । चित्रादिवद् विकारवत्वात् ।

§ २०. अन्यच्च । यथा चित्तवत्वेनात्मा चित्तवांस्तथाचित्तात्मकत्वेन चित्तवानपि किमचित्तवान् न स्यात् ।

---

१. V. स्मृति[illegible]त्मा नित्यो मतस्तव ।
दृष्ट्वा भाग्यक्षयं तस्य सोऽनित्यः किं न ते मतः ॥

२. B. अनुवादस्तु तवात्मा

३. V. आत्मनश्चेच्चैत्तवतो ज्ञातृत्वं जायते तदा ।
नास्ति चित्तं च चैत्तं च पुमान्नित्यो न जायते ॥

तस्मादिह न केवलं [illegible] सचित्तत्वमपि न युक्तमिति नित्यत्वमपि न भवतीति नास्यात्मनो नित्यत्वम् ॥ ८ ॥

२३४

§ २१. अन्यच्च । यथायमात्मा सत्त्ववत्त्वेन चेतयति तथा सुखदुःखादिमत्त्वेन पूर्वस्वरूपविनाशात् तं तं विशेषं प्राप्स्यति । तस्मादयमनित्य एव जायत इति प्रतिपादयन्नाह—

जीवैः सुखादिमान्नाना दृश्यते यत्सुखादिवत् ।
तस्मात्सुखादिवत्तस्य नित्यतापि न युज्यते ॥ ९ ॥[1]

§ २२. यदि सुखदुःखावस्थास्वस्य न कश्चिदपि विशेषः स्यान्न स्यात्तासामान्योन्यं भेदः । ततश्चात्मगुणानां भेदो न स्यात् । अतोऽवश्यमनेनात्मना विविधं सुखाद्यनुविधातव्यम् । तदनुविधाने च सुखादिवदेवास्य नित्यत्वं न युक्तम् ॥ ९ ॥

२३५

§ २३. अपि चान्य आहुः । यस्य दर्शने पुरुषो न सचित्तस्तस्येह दोषः । अस्माकं तु दर्शने पुरुषश्चैतन्यस्वरूप इति नानिष्टं भवतीति । तेषां मतमप्ययुक्तमित्युद्भावयन्नाह—

कारणं जायते मिथ्या चैतन्यं शाश्वतं यदि ।
शाश्वतश्चेद्भवेदग्निरिन्धनं स्यान्निरर्थकम् ॥ १० ॥[2]

§ २४. इह यदा कारणभूतानां चक्षुरादीनां प्रवृत्तयो रूपाद्यर्थेषु पतन्ति तदा रूपादिबुद्धयो [illegible] उपजायन्ते । तं च बुद्धिव्यवसायकृतमर्थं पुरुषश्चेतयते । चैतन्यं च विषयकल्पनास्वरूपं । स च पुरुषस्तस्मादभिन्नरूपो नित्यश्च । सर्वदा सन्निधानात् । पुरुषस्वरूपादभेदेनावस्थितेश्चैतन्यं च सर्वदा सन्निहितम् । तस्मादस्य चक्षुरादिकरणं निष्प्रयोजनत्वान्निरर्थकम् ।

§ २५. यस्य दर्शने इन्धनस्याभावेऽग्नि र्न भवति भावे च भवति, तस्य दर्शने इन्धनन्यायो युक्तः । यस्य तु दर्शनेऽग्निर्नित्य इत्यभ्युपगमस्तस्य[3] निष्प्रयो-

---

१. V. जीवसुखादिमान् दृष्टो विभिन्नः स सुखादिवत् ।
तस्मात् सुखादिवत्तस्य नित्यतापि न युज्यते ॥

२. V. करणं जायते मिथ्या चैतन्यं शाश्वतं यदि ।
नित्यो यदि भवेदग्निरिन्धनं निष्प्रयोजनम् ॥

३. T. तथा सति

जनमेवेन्धनोपार्जनम् । तद्वदेतत् । ततश्चास्य महदादेर्विकारग्रामस्य विफलैव प्रवृत्तिरिति व्यर्थ एवास्य शास्त्रे प्रक्रियाप्रणयनश्रमोलक्ष्यते ।। १० ।।

२२६

§ २६. अथ स्याच्चैतन्यशक्तिरूपः पुरुषः । तस्य चक्षुरादिकरणव्यापारनिबन्धनबुद्ध्यभिव्यक्तेश्चैतन्यवृत्त्यभिव्यक्तिः[1] उपभोक्ता हि पुरुषः । स विषयोपभुक्तिक्रियाभिनिर्वृत्त्या[2] विषयं चेतयते स ह्यस्य विषयोपभुक्तिचैश्तन्यवृत्त्यात्मिका क्रिया । स च न विना चक्षुरादिना करणग्रामेण भवतीति कुतोऽस्य विकारग्रामस्य वृथात्वमिति । उच्यते । यदि चैतन्यं[3] चैतन्यवृत्तिस्वरूपं सा च क्रियात्मका[4] तदास्य क्रियाया[5] धर्मानतिक्रमेण भवितव्यम् । कश्च क्रियाणां धर्मः । द्रव्याश्रयत्वं चलत्वं च । तथाहि—

आविनाशाच्चलं नाम द्रव्यं नास्ति क्रिया यथा ।
पुरुषोऽस्ति न चैतन्यमिति तेन न युज्यते ।। ११ ।।

§ २७. द्रव्यव्यापाररूपा हि क्रिया । सा चोदयात्प्रभृत्या विनाशाच्चला । तथा हि । वृक्षादयः पवनाभ्युपनिपात[6]मन्तरेणानारब्धक्रिया[7] उदयात् प्रभृत्या विनाशात्[8] तिष्ठन्त्यविचलाः । कम्पनक्रिया त्वेषां[9] [illegible] माना आविनाशं चलतां नातिवर्तते । यस्मादेतदेवं—

पुरुषोऽस्ति न चैतन्यमिति तेन न युज्यते

§ २८. यथा वृक्षादयश्चलनक्रियाप्रारम्भात् प्रागवस्थायां वृक्षाद्यात्मना द्रव्यरूपेणोपलभ्यन्ते, नैवं पुरुषः । स हि चैतन्यरूपमात्रत्वात् न[10] तद्व्यतिरिक्तः । द्रव्यरूपत्वाभावाच्च[11] [illegible] शक्यते कल्पयितुम् । ततश्च पुरुषो विद्यते[12] न चैतन्यमिति न युज्यते । यच्च[13] चैतन्यशक्तिसद्भावात् [14]पुरुषस्यास्तित्वं कल्प्यते[15] तदप्ययुक्तम् । निराधारायाः शक्तेरसद्भावात् ।।११।।

---

१. S. व्यक्तेः
२. S. निवृत्त्या ।
३. S. नाऽत्र शब्दोऽयं विद्यते ।
४. S. सा च क्रियात्मिका इत्याभावः ।
५. S. क्रियया ।
६. T. पवनोपनिपातं ।
७. S. नारब्धक्रिया ।
८. S. "उदयात् प्रभृत्या विनाशा" दितिवाक्यांशाभावः ।
९. S. त्वेषा ।
१०. T. नेत्याभावः ।
११. T. तद्व्यतिरिक्तद्रव्यरूपत्वाभावाच्च ।
१२. S. संविद्यते ।
१३. S. यच्चैतन्य...
१४. T. तदा पुरुषः
१५. T. कल्प्येत ।

२३७

§ २९. अपि चायं पुरुषो यदि चैतन्यव्यक्तेः [1]पूर्वं चैतन्यशक्तिरूपः स्यात् तदा—

> **चेतनाधातुरन्यत्र दृश्यतेऽन्यत्र चेतना ।**
> **द्रवत्वमिव लोहस्य विकृतिं यात्यतः पुमान् ॥ १२ ॥**

§ ३०. चैतन्यस्य द्वैरूप्यकल्पनायामन्यत्र पृथक्त्वेन चेतनायाश्चेतनाधातुश्चेतनाबीजं चेतनाशक्ति दृश्यते त्वया चेतनाशक्तेश्चान्यत्र पृथक् चेतना[2] । तस्मा[3]दश्चेतनाधातोश्चेतना प्रवर्तमाना चेतनाधातुसमानदेशा[4] प्रवर्तते । दृष्टान्तमाह द्रवत्वमिव लोहस्येति ।

§ ३१. इह[5] यथा लोहं द्रवत्वमापद्यमानं लोहदेशाभिन्नदेशं भवति तद्वत् । बीजाङ्कुरयोर्ह्याविर्भावतिरोभावदर्शनान्न समानदेशता । न च पुरुषस्याविर्भावतिरोभावाविति समानदेशत्व[6]मस्ति । अतएवाचार्यो[7] द्रवत्वमिव लोहस्येति लोहस्य द्रवतादृष्टान्तमाह[8] । न च चैतन्यशक्तिरूपात् पृथक् पुरुषोऽस्ति व्यक्तः[9] । ततोऽन्यत्वात् । तदयं शक्तिरूपापन्नो व्यक्तिरूपतामापद्यमानो "द्रवत्वमिव लोहस्य विकृतिं यात्यतः पुमान् ।" विक्रियमाणत्वाच्च लोहवदेव नास्यात्मनो नित्यत्वमिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

२३८

§ ३२. अन्ये पुनराहुः । न ह्यस्माकं चैतन्यरूपः पुमान् । किं तर्हि—

> *** चैतन्यं च मनोमात्रे महांश्चाकाशवत्पुमान् ।**
> **अचैतन्यं ततस्तस्य स्वरूपमिव दृश्यते ॥ १३ ॥**

§ ३३. आत्मा हि प्रतिशरीरे सर्वप्राणभृतामाकाशवद् विभुः । तस्य च मनोमात्रसंयुक्ता चेतना न सर्वव्यापिनी । मनश्चात्मनः [illegible] । तेन मनसा संयुज्य पुरुषस्तदभिन्नदेशं चैतन्यमुत्पादयति । ततश्च यथोक्तदोषानवसरो-

---

१. T. ज्ञानस्यास्य पूर्वं ।
२. S. शब्दस्याभावः ।
३. S. नास्ति शब्दोऽयमत्र ।
४. T. धातुसमानदेशा ।
५. S. नात्र शब्दोऽयं विद्यते ।
६. S. समानदेशमस्ति ।
७. T. नात्र शब्दोऽयं विद्यते ।
८. S. अतएवाचार्यो लोहस्य द्रवता दृष्टान्तमाह ।
९. T. पुरुषशक्तिर्व्यक्तास्ति ।

ऽस्मन्पक्ष[१] इति । उच्यते । यत एव ह्याकाशवदति[२]महतोऽस्य[३] पुरुषस्य मनोमात्रे चैतन्यमभ्युपेयते[४] त्वया "अचैतन्यं ततस्तस्य स्वरूपमिव दृश्यते ।

§ ३४. एवं सत्यचेतन एव पुरुषः प्राप्नोति । न हि परमाणुनाऽप्यदेशचेतना सम्बन्धेन सचेतनः पुरुष इति शक्यं[५] वक्तुम् । न हि [illegible] गंङ्गानदीजलं[६] लवणमिति शक्यं स्वभावयितुम् । तद्वदेतद् । द्रव्यं चात्मा चैतन्यं च गुणरूपम् । तयोः परस्परभेदादचेतनस्वरूप एव पुमान् । न चस्याचेतनस्य घटस्येवात्मत्वं कल्पयितुं न्याय्यमिति न युक्त आत्मा ॥१३॥

२३६

§ ३५. यदि चायमात्मा प्रतिसत्त्वं सर्वगतः स्यात् तदा—

*** परस्तर्केति[७] किं नाहमहं सर्वगतो यदि ।**
तेनैवावरणं नाम न तस्यैवोपपद्यते ॥ १४ ॥

§ ३६. यदि तावकिया[८] कल्पनयाहं सर्वगतः सर्वव्यापी स्यामाकाशवत् तदा सत्त्वान्तरेऽपि मदात्मनः सद्भावात् किमिति तस्य तस्मिन् ममेवाहङ्कारो नोत्पद्येत । एवं ह्यस्य सर्वगतत्वं युज्यते यदिह ममेव परस्यापि मदात्मनि स्यादहङ्कारः ।

§ ३७. न च परात्मनास्य मदात्मनः परशरीरे युक्तमावरणम् । न हि परात्मदेशे [९]मदात्मनोऽसद्भावः सर्वात्मनां व्यापित्वाभ्युपगमात् । यदा च समान-देशता तदा न तेन तस्यावरणं शक्यं कर्तुमिति प्रतिपादयन्नाह "तेनैवावरणं नाम न तस्यैवोपपद्यते ।"

§ ३८. समानं देशत्वात् स्वात्मस्वरूपस्येव स्वात्मना नास्त्यावरणमित्यहङ्का-रविषयत्वं परात्मनोऽपि प्रसज्यते । न त्वेवं[१०] भवतीति न सर्वगत आत्मा । ॥१४॥

---

१. T. पक्षे
२. S. आकाशवदिति ।
३. S. महतः पुरुषस्य
४. S. ननु त्वया
५. S. युक्तं
६. S. गङ्गानदीहृदजलं
७. S. तवेति, V. तस्येति
८. S. भाविकया
९. S. अस्मदा...
१०. S. तेनैवं

§ ३९. एवं तावदु[illegible] प्रतिपाद्यगुणानामपि सकलजगत्कर्तृ[illegible]नायुक्ततां[1] प्रतिपादयन्नाह[2]—

*** येषां गुणानां कर्तृत्वमचैतन्यं च सर्वशः ।**
तेषामुन्मत्तकानां च न किञ्चिद् विद्यतेऽन्तरम् ॥१५॥

§ ४०. सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः । तेषां साम्यावस्था[3] प्रधानम् । प्रसवावस्था प्रकृतिः सेदानीं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरचेतनापि सती पुरुषस्य विदितविषयोपुरुषेणाभेदं[4] प्रतिपाद्य सकलं विकारग्रामं प्रसूते । तत्रायं क्रमः । पभोगौत्सुक्यात् प्रकृतेर्महान् । महानिति बुद्धेः पर्यायः । महतोऽहङ्कारः । एवं येषां वादिनां गुणानां कर्तृत्वमचैतन्यं चेत्यभिप्रायो वस्तुतत्त्वविचक्षणाः "तेषामुन्मत्तकानाञ्च न किञ्चिद् विद्यन्तेऽन्तरम्" इति पश्यन्ति । उन्मत्तको हि नाम विपर्यस्तविज्ञानसन्ततिः । स हि विपर्यस्तेन विज्ञानेन यथार्थं न प्रतिपद्यते । विपरीतं चावधारयत्यसदर्थं च प्रलपति । तथा चायमपि साङ्ख्यः ॥ १५ ॥

२४१

§ ४१. अपि चास्यायं पुरुषो विकारग्रामस्याकर्ता च भोक्ता च । गुणास्तु कर्तारो न तु भोक्तारः । तदयं कर्तृत्वमभोक्तृत्वं च निरूपपत्तिकं गुणानामावेदयन्नत्यन्तायुक्ततामेवात्मनः प्रकटयतीति प्रतिपादयन्नाह—

*** कर्तुं नाम विजानन्ति गृहादीन् सर्वथा गुणाः ।**
भोक्तुं च न विजानन्ति किमयुक्तमतः परम् ॥१६॥

§ ४२. युक्तिविरुद्धत्वाल्लोकासम्मतत्वाच्चास्य मतस्य नातः परमयुक्ततरम्[5]स्तीत्यभिप्राय इति ॥ १६ ॥

२४२

§ ४३. एवं तावद् गुणानां कर्तृत्वमयुक्तम् । यस्याप्यात्मैव[6] कर्ता धर्माधर्मयोः फलस्य चोपभोक्तेति मतं[7] तस्याप्यात्मनो नित्यत्वमयुक्तम् । [तथाहि—]

*** क्रियावाञ्चाश्वतो नास्ति नास्ति सर्वगते क्रिया ।**
निष्क्रियो नास्तिता तुल्यो नैरात्म्यं किं न ते प्रियम् ॥१७॥

---

१. S. नायुक्तरूपतां
२. T. उद्भावयन्
३. T. 'समांशावस्था' इति यावत्
४. अभेद्यं ।
५. T. परमयुक्तं ।
६. T. यस्यापि दर्शने आत्मा··· ।
७. T. महत्

§ ४४. इह करोतीति कर्ता। तस्य क्रियानिबन्धनं कर्तृत्वम्। न ह्यकिञ्चित् कुर्वाणो निर्हेतुकः कश्चित् कर्तेति युज्यते। सति च क्रियावत्त्वे नियतं तु[१] क्रियाप्रागव [स्थाविशेषोऽभ्युपगन्तव्यः] पूर्वापरावस्थयोर्निविशेषस्यात्मनः पूर्व वस्थावत् क्रियावत्त्वं नास्ति। न च स्पर्शवतां (?) क्रियावतां वाताग्न्यादीनां नित्यत्वम्। तद्वदस्यापि न सद्भावः।

§ ४५. अपि चास्यात्मनः क्रियावत्त्वं न युक्तम् सर्वगतत्वाभ्युपगमात्। क्रिया हि कर्मास्थिता वा कर्माश्रिता वा। सा च द्विविधा। व्यापाररूपा भावरूपा च। तत्र कर्त्रास्थिता व्यापार रूपा। तद्यथा गमनक्रिया। सा हि गन्तृदेवदत्तस्था। तत्सम्बन्धाद् देवदत्तो गच्छतीत्युच्यते। स च सर्वगतो न भवतीति पादोत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चना क्रियया पूर्वापदेशत्यागग्रहणाभ्यां क्रियावान् युज्यते। अयं तु यदि सर्वगतः कल्प्येत् तदा क्वायं ? गच्छेदनुपस्थितश्च क्व भवेत्। यस्मादेतदेवं तस्मात् "नास्ति सर्वगते क्रिया।"

§ ४६. तथा कर्मस्थापि क्रिया या कम्पात्मिका संयोगादितो बाह्यरूपा (१)। या च पाकादिरकल्पात्मिका। सापि कर्तृस्थेन व्यापारेण भावेन च द्वाभ्यां सम्प्रयुक्ता ज्ञेया। तस्मादेवं "क्रियावाञ्छाश्वतो नास्ति नास्ति सर्वगते क्रिया" इति स्थितम्। अथात्मा क्रिया रहित इति।

§ ४७. एवमपि ननु "निष्क्रियो नास्तिता तुल्यः"। निष्क्रियो हि भाव आकाशकुसुमसमो न सन्। आत्मनश्च निष्क्रियत्वात् सर्वथासद्भावेन् "नैरात्म्यं किं न ते प्रियम्।"

§ ४८. यदि नित्य आत्मा नास्ति केन हेतुना नैरात्म्यं ते नप्रियम्। सकलासद्दृष्टिनिवृत्तिहेतुतः प्रियमवश्यमेव स्यात्॥ १७॥]

२४३

§ ४९. अपि च। यद्यात्मेत्यय कश्चिदग्नेरौष्ण्यवत् स्वरूपेण स्यात् तदा स तेन स्वरूपेण सद्भावान्नियतमुपलभ्येत। न त्वेवमस्ति। तथाहि स वादिभिः—

दृश्यते सर्वगः कैश्चित्कैश्चित्कायमितः पुमान्।
दृश्यतेऽणुमितः कैश्चित्प्राज्ञै र्नास्तीति दृश्यते॥१८॥[२]

---

१. T. क्रियारम्भकालेऽस्य तत्

२. V. सर्वगः केनचिद्दृष्टो देहमात्रस्तु केनचित्।
दृष्टोऽणुमातरः केनापि प्राज्ञैर्नासन् स दृश्यते॥

§ ५०. तत्र केचित्प्रतिशरीरमभिन्नं सर्वगतमात्मनं प्रतिपद्यन्ते । अन्ये सकलजगदात्मानं चन्द्रवदेकमेव प्रतिपद्यन्ते । तस्य च भेदो देहभेदादौपचारिकः । तैलघृतजलादिपात्रभेदेन चन्द्रप्रतिबिम्बभेदवत् । स च सर्वगतः । एवं "दृश्यते सर्वगः कैश्चित्कैश्चित्कायमितः पुमान्" ।

§ ५१. एवं केचिद भ्रमरसारसपिपीलिकाहस्त्यादीनामात्मा कायमात्र इति [तस्य] सङ्कोच विस्तारं च प्रतिपद्यन्ते । अन्येऽस्य सङ्कोचविस्तारधर्ममसहमाना आत्मा [illegible]गुनात्र इति प्रतिपद्यन्ते । तथागतोक्तिमाश्रित्य जातसम्यग्ज्ञानाः [illegible]स्तु [स] नास्त्येवेत्युपलभन्ते ।

§ ५२. यदि स स्वरूपेण स्यात् तदा नियतं स खलुभावोऽविपरीतदर्शनैर्बुद्धैरात्मत्वेनोपलभ्येत । तीर्थिकानां चैवं नाना दर्शनं न स्यात् । अस्ति चैतत् सर्वमिति नास्त्यात्मा स्वभावरूपेण ॥१८॥

२४४

§ ५३. अपि च यद्यात्मा स्वरूपेण स्यात् तदा निर्विकारत्वेन मुक्ति र्न स्यात् । सोपद्रवस्य हि तत्र पराङ्मुखस्य पुरुषस्य ततो निवृत्या कुशलं सम्भवति न त्वात्मनो नित्यस्य निरुपद्रवस्य ।

शाश्वतस्य कुतो बाधा मोक्षो बाधां विना कुतः ।
तेनात्मा शाश्वतो यस्य तस्य मोक्षो न युज्यते ॥१६॥[1]

§ ५४. उपकारापकाराभ्यां निर्विशेषात् का स्यान्मोक्षावस्था । किञ्चास्या एवमभावे । तस्मात्सर्वथा निर्विशेषादात्मनित्यत्ववादिनो मोक्षो न युज्यते ॥१६॥

२४५

§ ५५. अन्यच्च । सर्वैः पाखण्डिकैरात्मग्राहात्मीयग्राहयोः सर्वथा क्षपणीयत्वान् मुक्तिरभ्युगता । तस्मात्तेषां मुक्त्यवस्थायाम् -

भवेदात्मेति चेन्नैव युक्तं नैरात्म्यचिन्तनम् ।
तत्त्वज्ञानेन नियतं निर्वाणमिति चानृतम् ॥२०॥[2]

---

१. V. नित्यस्य कस्यचिद् दुःखमदुःखस्यास्ति निर्वृत्तिः ।
नित्यो यस्य भवेदात्मा तस्य मोक्षो न युज्यते ॥

२. V. नूनमात्मा यदि भवेन्नैरात्म्यं नैव भाव्यते ।
सुयुक्तितोऽपि निर्वाणं वितथं तस्य जायते ॥

§ ५६. यद्यात्मा स्वरूपेण स्यात्तदा स्वरूपनिवृत्त्यभावान्मोक्षावस्थायामपि [तस्य] सद्भावः स्यात्। [illegible] सद्भावादात्मा नास्तीत्येवमात्मग्राहप्रहाणं न युक्तम्। तस्मादात्मतत्त्वज्ञानेन नियतमात्मग्राहप्रहाणान्निर्वाणं भवतीत्यप्यनृतम्। तत्राप्यात्मग्राहसद्भावात् ॥२०॥

२४६

§ ५७ अथात्मसद्भावे मो[illegible]त्मग्राहप्रवृत्तिप्राप्त्या भयान्मुक्त्यवस्थायामात्मनोऽस्तित्वं नाभ्युपगम्यते। नन्वेवमपि भवति—

मुक्तो यदि भवेन्नैव भवेत्प्रागपि नैव सः।
असंयुक्ते हि यद्दृष्टं स स्वभाव इतीर्यते ॥२१॥[1]

§ ५८. सम्बन्धिधर्मासंयुक्तस्य स्वरूपविशेषमात्रावस्थितस्य भावमात्रस्य यावानंश उपलभ्यते स तस्य स्वभाव इति व्यवस्था। धर्मान्तरामिश्रणात्। यथा ज्ञातक्षयस्य सुवर्णस्य तदन्यस्य सम्बन्धिनो लोहस्य परिक्षयाद् या विशुद्धावस्था [स] तस्य स्वभावो व्यवस्थाप्यते तथा मुक्तस्यात्मनो विशुद्धज्ञानावस्थायां ज्ञानस्य यः स्वरूपविशेषो दृश्यते तत्तस्य स्वरूपमिति युक्तिर्नैषदपि दृश्यते। अहङ्कारप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मान्मोक्षस्य पूर्वावस्थायामपि स तस्य स्वभावो भवत्येवेति युक्तम्। तस्मादात्मा स्वरूपेण न सिद्ध्यतीति स्थितम् ॥२१॥

२४७

§ ५६. अत्राह। यद्यात्मा न स्यात्तदा प्रतिक्षणविनाशशीलानां संस्काराणामुत्पत्त्यनन्तरं भङ्गादुच्छेददृष्टिः। वैनाशिकानां भावानामाश्रय आत्मा त्ववैनाशिक इति सर्वथाभावानाभ्युपगमान्नास्त्युच्छेददृष्टिः। उच्यते—

उच्छेदश्चेदनित्यस्य मूलाद्यद्यापि किं भवेत्।
यदि सत्यं भवेदेतन्न मोहः कस्यचिद्भवेत् ॥२२॥[2]

§ ६०. लोके हि नानित्यार्थोच्छेदेन कल्पना। तथाहि। प्रथमकल्पात् स्थितानां मूलमूलाङ्कुरद्रुमादीनां हेतु[illegible]प्रवृत्ति[illegible]नोऽविच्छेदेनाद्याप्यु[illegible]। अपि

---

१. V. यदि नास्त्येव निर्वाणं तत्प्रागपि न विद्यते।
दृष्टं यन्मानुषे नाम सत्वं तस्यैव भाष्यते ॥

२. V. उच्छेदो यद्यनित्यस्य तृणादेः सम्भवः कथम्।
सदिदं चेत्तदा कस्याप्यविद्यैव न जायते ॥

च यद्यनित्यस्योच्छेदस्तदा सन्तानाप्रवृत्तिलक्षणो विनाशः । ततश्च कथमेतानि [illegible] । उपलम्भाच्च नानित्यस्योच्छेद इत्यवगम्यत इत्यवश्य-मेवैवमभ्युपगन्तव्यम् । न चैवम् । यद्यनित्यस्योच्छेद इतीयं दष्टिर्यथ.र्था तदा नियतं न कस्यापि सत्त्वस्य मोहः ।

§ ६१. अनित्यस्योच्छेद इति च नियमेनोच्छेदादविद्यया प्रवृत्ति र्न स्यात् तस्मात्संसारविपर्यासावरणं विनैव साध्यं स्यात् । सर्वस्य च लोकस्यविद्यया-प्रहाणात् किञ्चिदपि तत्त्वं नादृष्टमित्येवमपि न भवतीति नानित्यस्योच्छेदः ॥२२॥

२४८

§ ६२. अथ सकलभावोद्भवहेतोरात्मनो नित्यत्वमिति न तेन हेतुना प्रवृत्तमूलादीनामुच्छेददृष्टिरिति । तदपि न भवति । न हि क्वापि हेतुप्रत्ययानाय-त्तोद्भवो नित्यो भावो विद्यत इति प्राक् प्रतिपादितम् । असतश्च खरविषाणव-[illegible] न युक्तमिति नास्ति तत्सद्भावनिबन्धना जगत्प्रवृत्तिः । अथवा यद्यात्म सद्भावो निवेश्यते जगतोऽस्य प्रवृत्तिहेतुरेव न युक्तो भवेत् । तथाहि—

सद्भावेऽप्यात्मनो रूपस्योद्भवो दृश्यतेऽन्यतः ।
दृश्यते स्थितिरन्यस्माद्विनाशो दृश्यतेऽन्यतः ॥२३॥[1]

§ ६३. यदि भावा आत्महेतुकास्त आत्मनः पृथग्भूताद्भावान्तरान् नोद्भ-वेयुः । मणीन्धनसूर्यसंयोगादग्निरुद्भवति । चन्द्रसमागमे चन्द्रकान्तमणितः सलिलं स्रवति । बीजादिभ्योऽङ्कुरादय प्रवर्तन्त । कललादिभ्यो महाभूतेभ्यो यथा पिण्डादर्बुदाद्घनात् प्रशाखायाः प्रत्यङ्गेभ्यश्च तेभ्यश्चक्षुरादीन्युपलभ्यन्ते । एवं सति रूपमन्यस्मादुद्भवतीत्युपलभ्यते ।

§ ६४. अपि च यद्येतत् सर्वमात्मकर्तृकमेव स्याद्रूपस्यास्य प्रवृत्तिस्तस्मा-देवेत्युपलभ्येतैव किं हेत्वनन्तरपरीक्षया । ततश्च हेतुत एव जगत्प्रवृत्तिरिति किम-न्या निर्[illegible] ।

§ ६५. यथा रूपस्यान्यस्मादुद्भवो दृश्यते स्थितिरप्येवमन्यस्माद्दृश्यते । इन्धनसंयोगादे र्हेतोरग्न्याद्यर्थसिद्धेर्दर्शनात् । "विनाशो दृश्यतेऽन्यतः ।" इन्धन-वैकल्यादेर्हेतोः । तस्मान्नास्त्यात्मा स्वरूपेण ॥२३॥

---

१. V. सत्तायामात्मनो रूपमन्योद्भूतं हि दृश्यते ।
दृष्ट्वैषस्थितिमन्यस्य विनाशोऽन्यस्य दृश्यते ॥२३॥

२४६

§ ६६. यदा न नित्याज्जातिस्तदा लोके—

यथा हि कृतकाद्बीजाज्जायते कृतकोऽङ्कुरः।
अनित्येभ्यस्तथा सर्वमनित्यमेव जायते ॥२४॥[1]

§ ६७. यथा हेतुप्रत्ययान्तरायत्तोद्भवात् स्वभावासिद्धाद्बीजात् प्रतीत्यसमुत्पादादङ्कुरः कृतकः स्वयमव्यवस्थितो निःस्वभावः प्रकृतिशून्यस्तथा पण्डितेनानेन दृष्टान्तेन भावान्तराणामप्रकाशावृत्ताः सूक्ष्मा हेतुफलावस्था अरूपिणो वेदनादयो हेतुकर्मक्लेशातीता अनास्रवाः संस्काराश्च (१) निःस्वभावाद् हेतो निःस्वभावा जायन्त इति निर्णेयम् ॥२४॥

२५०

§ ६८. एवं च यत्र संस्काराणां शाश्वतोच्छेदवज्राशनिर्लौकिकलोकोत्तरहेतुफलसम्बन्धप्रोन्मूलनः पतति [तत्र] तमपि पण्डितः प्रतीत्यसमुत्पादज्ञानप्रसयातिदूराद् वारयतीति प्रतिपादयन्नाह—

यस्मात्प्रवर्तते भावस्तेनोच्छेदो न जायते।
यस्मान्निवर्तते भावस्तेन नित्यो न जायते ॥२५॥[2]

§ ६९. भावो भवनधर्मी फलमङ्कुरादिः। यस्माद्बीजाख्याद्धेतोः फलमङ्कुरो भवति तस्माद्बीजं नामानुच्छेदम्। यद्यङ्कुरादिसन्तानमनुत्पादयदग्निसंयोगादिव बीजं निरुध्यते ततोच्छेददृष्टिः। अङ्कुरादिप्रवृत्तिसद्भावदर्शनात्तु बीजस्योच्छेददृष्टि र्न सम्भवति।

§ ७०. कारिकायां कृतो द्वितीयो भावशब्दो हेतुवाचकः फलमस्माद् भवतीति कृत्वा। अपि च। यद्यङ्कुराख्ये कारिकायां कृतो द्वितीयो भावशब्दो हेतुवाचकः फलमस्माद् भवतीति कृत्वा। अपि च। यद्यङ्कुराख्ये फले प्रवृत्तेऽपि स्वभावावस्थितया बीजं न निवर्तेत तदा बीजस्याविकारदर्शनाच्छाश्वतदृष्टिः। न

---

१. V. यथैव कृतकाद्बिजादङ्कुरः कृतको भवेत्।
अनित्येभ्यस्तथा सर्वमनित्यमेव जायते ॥२४॥

२. माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३६७

त्वेददेवं भवति । बीजनिवृत्तिदर्शनात् । यदि न निवर्तेत तदा तस्मादङ्कुरान्तरमपि भवेत् । न चेह तद् भवतीति ।

यस्मान्निवर्तते भावस्तेन नित्यो न जायते सोऽपि स्वभावेन सिद्ध इति बीजाङ्कुरो द्वपि तत्त्वान्यत्वकल्पनासम्यवाद सिद्धाविति भावानां निःस्वभावत्वमतिव्यक्तं सिद्धम् ॥२५॥

योगाचारे चतुःशतके आत्मप्रतिषेधभावनासन्दर्शनं दशमं प्रकरणम् ॥१०॥

दशमं प्रकरणं समाप्तम्

एकादशं प्रकरणम्

कालप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्

२५१

§ १. अत्राह कालवादी। रूपादीनामन्यस्मादुद्भवदर्शनाल्लोकस्याप्रत्यक्षत्वात्कस्यचित्सत्यस्य फलस्यादर्शनेनुमानागम[illegible]च्च नास्त्यात्मेति यदुक्तं न [तेन] सर्वथा नित्यानां भावानामभावः। कालसद्भावात्। इह क्षितिसलिल-ज्वलन पवनाकाशबीजादि सद्भावेऽपि कदाचित्कुसुमाङ्कुरादीनामुत्पादभङ्गयोरभावादथ कदाचिद्भावात्कालो नाम तत्फलदर्शनान्मानम्। स च [illegible]-नीयोऽतीतोनागतः प्रत्युत्पन्नश्च कालत्रयव्यवस्थिताद्भावादिभन्नो नित्य इति।

§ २. अत्रोच्यते। यदि काला नाम भावाद्भिन्नो ज्ञानसिद्धो भवेद्भवेत्स उत्पादभङ्ग हेतुः। न त्वेवमस्ति। भावाद्भिन्नत्वेन ग्रहणप्रसङ्गात्।

यस्मिन्भावे प्रवृत्ति च निवृत्तिश्चोपलभ्यते।
अन्यायत्तो भवत्येष कार्यस्तेन च जायते॥

इत्यादिना (कारिका. २०७) प्रतिसिद्धत्वादपि स्वलक्षणसिद्धस्य कालस्य न प्रवृत्तिनिवृत्ति हेतुत्वम्।

§ ३. अन्यच्च। ये त्रयः कालाः कालस्य स्वभाव विशेषेणावस्थितास्तेऽप्यमूर्त्तत्वेन स्वरूपेण [illegible] शक्यन्ते स्वभावेन व्यवस्थापयितुम्। तेषामख्यातव्यस्य भावस्य विशेषो घटादिद्वारा शक्यो व्यवस्थापयितुम्। ते तु भावभिन्नस्वरूपा वेदनादिवदनुभवाकारा न रूपशब्दादिवदिन्द्रियद्वारा परिच्छेत्तव्याः। तस्माद्धटादिद्वारैव तेषां विशेषः परिच्छद्यत इति तद्द्वारा कालत्रय निषेधेन कालप्रतिषेधं कर्त्तुं काम आह—

अनागते घटे वर्तमानेऽतीतश्च नो घटः।
यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागतः[1] ॥१॥

§ ४. अनागतः काल उपव्याख्यातव्य इति तदर्थमनागतो घट उपन्यस्तः। तथातीतप्रत्युत्पन्न [illegible]ः। तत्रानागतो न प्रत्युत्पन्नं कालं प्राप्तः। अतीतस्ततः एवातीतः प्रत्युत्पन्नो जातोऽनिरुद्धः।

---

१. V. नानागतो वर्तमानो घटोऽतीतो न विद्यते।
अनागतं द्वयं येन तेन न स्यादनागतः॥

ते च त्रयः कालाः परस्परापेक्षयैव स्थिताः । द्वौ द्वावनपेक्ष्यैकैको न भवतीति ।

§ ५. यः सोऽनागतो घटो न तस्मिन्वर्तमानो घटो नाप्यतीतः । लक्षण-भेदादितरेतरासम्भवाच्च यदैवमनागते घटे वर्तमानोऽतीतश्च द्वावपि न विद्येते तदा वर्तमानोऽतीतश्च द्वावप्यनागतावनागतत्वेनानागतौ । यथानागतो वर्तमानेऽना-नागतस्तथा वर्तमानोऽतीतश्च द्वावप्यनागतावनागतत्वेनानागतौ । यदि वर्तमाने ऽनागतत्वेनानागतो नानागतोऽनागतत्वेनेति । नैतदेवम् । अनागतसिद्धौ वर्तमान-स्यातीतस्य च द्वयोः सिद्धिः । यदि त्वनागत एव नास्ति तदा कुतोऽतीतः प्रत्युत्पन्नो वा भवेत् । इदमभिप्रेत्याचार्योऽनागतस्याभावं प्रतिपादयितुकामस्तत एव ।

यस्मादनागतौ तौ द्वौ नास्ति तस्मादनागतः । इत्याह । यस्मादुभावप्यना-गतौ तदा त्रयोऽप्यनागता एव । त्रयाणामनागतातत्वे चातीत प्रत्युत्पन्नयोर-संम्भवात्कुतोऽनागतत्वेनानागतो व्यवस्थाप्यते । तस्मान्नास्त्यनागतः कालः ॥१॥

२५२

§ ६. अथ मन्यते । अनागतो घटः सर्वथा नास्त्येवेति न । अनागतस्य स्वभावोऽनागते घटे विद्यते । तस्मादनागतस्य सद्भावेन पृथगतीतस्यापि सिद्धि-सद्भावे विद्यत एवानागत इति । एवमपि ।

यद्यतीतानागतयोः स्वभावः स्यादनागते ।
अनागतः स्वयं यः स्यादतीतः स कथं भवेत् ॥२॥[१]

§ ७. यद्युभयमतीत्वमनागतत्वं चानागते घटे विद्यत इति मन्यते तदातीत्वं न युक्तम् । त्वन्मतेनानागतत्वस्य सद्भावात् । अनागतस्वभाववत् । तस्मात् स एव दोषः ॥ २ ॥

२५३

§ ८. अपि च योऽनागतो भावः स तेन किं सन्नाहोस्विदसन् । उक्तमना गतस्वभावसद्भावेनानागतः सन्निति व्यवस्थापितम् । तथा सत्यस्यानागतत्वं न भवति । कस्मादिति ।

---

१. V. अनागतस्य नष्टस्य स्वभावश्चेदनागते ।
अनागतः स्वतो यः स्यात् सोऽतीतो जायते कथम् ॥

यस्मादनागतो भावः स्वयं तिष्ठत्यागतः ।
वर्तमानो भवेत्तस्मान्न सम्भवत्यनागतः[१] ॥३॥

§ ९. यस्येदानीमस्तित्वं तस्य वर्तमानत्वमिदानीं सद्भावाद्वर्तमानस्वभाववत् अथ न तस्य वर्तमानात्मकत्वमपिनागतात्मकत्वं तस्मान्न वर्तमानो भवतीत्यस्त्येवानागतत्वमिति मन्यते । उच्यते ।

यस्य यः स्वभावस्तत्तत्रतदात्मकं वर्तमाने च । तथा हि । नीलं नीलात्मकत्वसद्भावेन वर्तमानं न तत् पीतात्मकत्वेन । तथानागतोऽप्यनागतात्मकत्वभावेन वर्तमान एव भवतीत्यस्यानागतत्वं सम्भावयितुं न शक्यते । यदैवमनागतो न सम्भवति तदा कोऽतीतो वर्तमानो वेति चिन्त्यम् । तस्मान्न कालत्रयसद्भावः ॥ ३ ॥

२५४

§ १०. ये [तु] स्वयूथ्या आहुर्भावानां स्वलक्षणाभ्युगमात्ते कालत्रये भवन्तीत्यनिष्टस्वभावा भावा एव ते प्रबन्धेनानया तस्यां तस्यामवस्थायां भवन्तीति । तान् प्रति वक्तव्यम्-। अनागतोऽस्त्यतीतोऽस्ति वर्तमानोऽस्ति नास्ति कः । सर्वकालास्तिता यस्य तस्यास्त्यनित्यता कुतः ॥ ४ ॥[२]

§ ११. येन भावो वर्तमानो भवत्यस्य यः स्वभावो बुद्धिदृश्यः स्वभावः स एवानागतावस्थातीतावस्थयोरपीत्यभ्युपगमवादः । तत्र कुतस्तस्यानित्यतादृष्टिः । तस्माद्भावाः स्वभावान्नित्यत्वेन नित्या एव । एवं च तस्यागमविरोधः । उक्तं हि भगवता अनित्या वत संस्कारा उत्पादव्ययधर्मिणः । उत्पद्य [ते] निरुध्यन्ते तेषामुपशमः सुखः[३] इति ॥४॥

२५५

§ १२. यथा नागतस्यानागतत्वासम्भवेनानागतत्वं नास्ति तथातीतस्याप्यतीतत्वा सम्भवादेवाभाव प्रतिपादयन्नाह—।

---

१. V. अनागतो यतो भावः स्वयं तिष्ठत्यनागतः ।
अनागतत्वं न ततो वर्तमानस्य जायते ॥

२. V. अनागतोऽस्त्य अतीतोऽस्ति वर्तमानोऽस्ति नास्तिकः ।
अतीत्यता कुतस्तस्य यस्य सत्त्वैव सर्वदा ॥

३. अनिच्चा वत संखारा उप्पादव्ययधम्मिनो ।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वुपसमो सुखो ॥
संयुत्तनिकाय, २.२, १९३

स्यादतीतादतीतश्चेदतीतो जायते कुतः ।
अतीतादनतीतश्चेदतीतो जायते कुतः ॥ ५ ॥[१]

§ १३. योऽतीतः कालः स किमतीतस्वरूपादतीत आहोस्विदनतीतः । यदि यावदतीतादतीतः । सोऽतीत इति न युज्यते । अतीतत्व नामातिक्रान्तस्यव्यापारः । य इदानी तस्मादतीतोऽतिक्रान्तः कथं सोऽतीतः । दुग्धभावादतीतं दधि दुग्धमिति बालभावादतीतस्य प्राप्तयौवनस्य बाल इति चाभिधानं न भवति । एवमतीतादनतीतोऽतीत इति न युज्यते ।

§ १४. अथ मतमतीतोऽतीतादनतीत एवेति । एवमप्यतीतादनतीतोऽतीतं नात्येत्यतीतव्यापारेणाशून्यः कस्मादतीतः । तस्मादतीतत्वासंम्भव एवेत्यभिप्रायः । तस्मादेवमतीतादनतीतोऽप्यतीतो न युज्यते ।

§ १५. तस्मिन्नास्त्यतीतः कालः स्वरूपेण । अतीताभावे च तदनपेक्षितोऽनतीतोऽपि न सम्भवतीति न कालत्रयं स्वरूपेण विद्यते ॥ ५ ॥

२५६

§ १६, यो वैभाषिकः सर्वकालसद्भाव वक्तुं सर्वास्तिवादमेव प्रशंसति तस्य पुनर्विवादः परीक्षितव्यः । यस्यानागतस्यार्थस्यास्तित्वं कल्प्यते स जातोऽजातो वा कल्प्यते । तत्र तावत्भवेज्जातोऽनागतश्चेद्वर्तमानो भवेन्न किम् । अथाजातो भवेत्तस्य शाश्वतः किमनागतः ॥ ६ ॥[२]

§ १७. यद्यनागतो भावो जात इति परिकल्प्यते स जात एवेति वर्तमानो भवेन्नानागतः । अथाजातस्य तस्यास्तित्वं कल्प्यते । एवमपि अथाजातो भवेत्तस्य शाश्वतः किमनागतः । यदजातं विद्यमानं च तन्निर्वाणवन्नित्यमेव । तस्मान्निर्वाणवदेव तस्यानागतो मन्तव्यः ॥ ६ ॥

२५७

§ १८. [अथानागतो यद्यप्यजातस्तथापि सोऽसंस्कृतवन्नाविनाशो ।][३]
तथा हि । हेतुप्रत्ययैस्तस्यानागतभावविगमेन[४] वर्तमानता भवति । न चैवमसंस्कृत स्वरूपात्प्रच्यवत[५] इति नास्यासंस्कृतवन्नित्यत्वमिति । एवमपि कल्प्यमाने ।[६]

---

१. V. अतीताज्जायतेऽतीतः सोऽतीतो जायते कथम् ।
अनतीतश्चेदतीतात्सोऽतीतो जायते कथम् ॥

२. V. अनागतश्चेदुत्पन्नो वर्तमानः कथं न सः ।
अथानुत्पाद एवास्य नित्यं किं वास्त्यनागतः ॥

३. T.;

४. T. S. तस्यानागतभावव्युत्पा [द] हेतुप्रत्ययैर्

५. T. च्यवत्

६. T. कल्पिते

*** विनापि जन्मना भङ्गादनित्यो यद्यनागतः ।**
अतीतस्य न भङ्गोऽस्ति स नित्यः किं न कल्प्यते ॥ ७ ॥

§ १९. यदि स्वरूपप्रच्युतिसद्भावादनागतस्य नित्यत्वं (नेष्यते भावस्या) तीतस्य तर्हि स्वरूपप्रच्युति[1]र्नास्तीति स नित्य इति कल्प्यताम् ।

२५८

§ २०. कस्य[2] वा पदार्थस्य शक्यमनित्यत्वं कल्पयितुम् । यदा च न शक्यते तदा सर्वपदार्थानामनित्यत्वस्यासम्भवान्नित्यतैव सम्भाव्यते ।[3] तत्र तावत्—

*** अनित्यो वर्तमानोऽयमतीतश्च न जायते ।**
ताभ्यामन्या तृतीयापि गतिस्तस्य न विद्यते ॥ ८ ॥

§ २१. यस्तावदयं वर्तमानः पदार्थस्तस्य तावद् नित्यत्वं नास्ति । स हि वर्तमानत्वात्स्वभावादच्युतेर्वर्तमान इति व्यपदिश्यते । यस्य चानित्यत्वं स वर्तमान एव न भवत्यभावेनाभिसम्बन्धात् । भावाभावयोश्च युगपदसम्भवाद्[4] वर्तमानस्यानित्यत्वं न सम्भवति ।

§ २२. तथा[5]तीतस्याप्यनित्यत्वं न सम्भवति । विनष्टो ह्यतीतं उच्यते । न च विनष्टस्य पुनरपि विनाशो न्याय्यो निष्प्रयोजनत्वादाश्रयाभावादनवस्थाप्रसङ्गाच्च । एवं तावद् ।

अनित्यो वर्तमानोऽयमतीतश्च न जायते । न च वर्तमानातीतौ मुक्त्वा तस्यानित्यत्वस्य तृतीयोऽवकाशो युज्यत इत्याह—

ताभ्यामन्या तृतीयापि गतिस्तस्य न विद्यते । उत्पन्नस्य यदानित्यता[6]श्रयस्यानित्यत्वमसम्भाव्यं नदे[illegible]रिव तत्स्यादित्यत्यन्त मसङ्गतम्[7] । न चानित्यतारहितस्याकाशादेरध्वत्रयकल्पना युक्तिमती । तद्वत्सत्स्वभावभाववादिनो न युक्तमध्वत्रयम् ॥८॥

२५९

§ २३. अत्राह । अस्त्येवानागतो भावस्तस्य सत्सु प्रत्ययेषु जन्मदर्शनात् ।

---

१. T. च्युति
२. T. अथवा (यन्न) कस्य पदार्थस्य
३. T. भवति
४. सम्भवात्
५. S. अतीतस्य
६. T. S. नित्यता ।
७. T. असम्बद्धम् ।

न ह्यसतः पूर्वं[१] पश्चाज्जन्म युज्यते वन्ध्यापुत्रादेरिव । ततश्च जन्मदर्शनादस्त्येवानागतो भाव इति । एवमपि कल्प्यमाने—

*** यः पश्चाज्जायते भावः स पूर्वं विद्यते यदि ।**
न मिथ्या जायते पक्षस्तस्मान्नियतिवादिनाम् ॥ ९ ॥

§ २४. य उत्पादात्प्रागवस्थो भावो हेतुप्रत्ययैः पश्चाज्जायते[२] स यद्युत्पादात्पूर्वं स्वरूपतोऽस्तीति कल्पयत एवं सति नियतिवादिनां[३] प्रतिनियतस्वभावं निर्हेतुकं पुरुषकारशून्यंमुपपत्तिविरुद्धं जगद्वर्णयतां नाभ्युपगमो मिथ्या स्यात् । न च न मिथ्या तेषां वादः । तत्पक्षस्य दृष्टादृष्टविरोधात् । पुरुषकारानपेक्षत्वात्तेषां जगतः[४] प्रतीत्यसमुत्पादाभावः । तदभावाच्च खरविषाणवत्सर्वं जगदग्राह्यं स्यादित्ययुक्तो नियतिवादः । यदि चाय[५]मनागतः सद्भाववादो[६] न्याय्यः स्यात्तदा नियतिवादिनामपि वादो[७] न्याय्यः स्यादित्ययुक्तोऽनाग[८]तार्थसद्भाववादः ॥९॥

२६०

§ २५. इतश्चायुक्तो यतः—

*** सम्भवः क्रियते यस्य प्राक्सोऽस्तीति न युज्यते ।**
सतो यदि भवेज्जन्म जातस्यापि भवेद्भवः ॥ १० ॥

§ २६. यस्यार्थस्य हेतुप्रत्ययैः संभव उत्पाद[९]नं क्रियते स जन्मनः पूर्वमस्तीति न युज्यते । यदि हि तस्यास्तित्वं[१०] स्यात्तदा सतो[११] विद्यमानस्य पुनरपि[१२] जन्म

---

१. T. पूर्वमसतः ।
२. T. यो भाव उत्पादात्प्राक् स्वरूपाभावान्नास्ति [पश्चात्] हेतुप्रत्ययैरुत्पाद्यते ।
३. T. नियतिवादः ।
४. T. तेषां दर्शनेजगतः
५. T. S. अस्य ।
६. T. S. वादिनो ।
७. T. वादोऽपि ।
८. S. युक्तो नागतार्थ ।
९. T. S. उत्पादनं सम्भवः ।
१०. T. अस्तित्वं
११. T. सदात्मकस्यापि ।
१२. T. अपि ।

स्यात् । न च सतः पुनरपि जन्म न्याय्यं निष्प्रयोजनत्वात् । इति न युक्तोऽनागतपदार्थसद्भाववादः ॥१०॥[१]

२६१

§ २७. अत्राह । यद्यनागतं न स्याद्यदेतदनागतार्थालम्बनं योगिनां प्रणिधिज्ञानं (तद्) यथार्थं न स्यात् । अस्ति चैतद्यथार्थं योगिनां ज्ञानम् । यथार्थानागतव्याकरणात्[२] । तस्य च तथैव भावात् । न ह्यसत्सु वन्ध्यापुत्रादिष्वेतत्सम्भवति तस्मादस्त्येवानागत इति[३] । उच्यते । ताविकया[४] कल्पनया[५] ।

*** दृश्यतेऽनागतो भावः केनाभावो न दृश्यते ।**
विद्यतेऽनागतं यस्य दूरं तस्य न विद्यते ॥ ११ ॥

§ २८. उत्पादात्प्रागवस्थायामनागतो भावो नास्ति स्वरूपत इति प्रतिपादितम् । यदि चाविद्यमानः पदार्थो योगिभिर्दृश्येत वन्ध्यापुत्रादयोऽपि दृश्येरन् । द्वयोरपि तुल्यं स्वभावासत्वम् । तत्रैको दृश्यते नापर इति न युज्यते । अपि च यस्या[६]नागतोऽर्थः स्वरूपतोऽस्ति तस्य न तद् दूरं[७] स्यात् । अस्ति चास्य दूरत्वम् । दूरा[८]धर्माः कतमे । अतीतानागताः । अन्तिका[९] धर्माः कतमे । प्रत्युत्पन्नाः । इत्यभ्युपगमात् । एव[१०]मनागतमस्य[११] दूरम्[१२] । तच्चास्य दूरत्वमयुक्तिमिति प्रतिपादयन्नाह—

---

१. न च विद्यमानस्य पुनरुत्पत्तौ प्रयजनं पश्यामः, MV. पृ० १५; तस्माद्धि तस्य भवने न गुणोऽस्ति कश्चिज्जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम्, MA, V, 3, p 13; उत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तौ कल्पमानायां अनवस्थाप्रसङ्गः, AKV. पृ० १४; किं पुनः सुभूते उत्पन्नो धर्म उत्पत्स्यते उतानुत्पन्नः । सुभूतिराह—नाहं सारिपुत्र उत्पन्नस्य धर्मस्योत्पत्तिं इच्छामि न चानुत्पन्नस्येति, शिक्षासमुच्चय, पृ० २८२.

२. T. अत्राह । अस्त्येवानागतस्तदालम्बनाद्योगिप्रणिधिज्ञानाद्यथार्थानागतव्याकरणात्तस्य च तथैव भावात् ।

३. T. अस्त्येवानागत इति ।

४. P. S. तात्विकया, T. ताविकयां ।

५. T. कल्पनयां

६. T. यस्य दर्शने

७. S. दूरे

८. S. दूरं

९. S. आन्तिकं

१०. T.; S. न तत्र 'एव' इति शब्दो वर्तते ।

११. T. न तत्र 'अस्यं' शब्दः ।

१२. S. दूरे

विद्यतेऽनागतं यस्य दूरं तस्य न विद्यते।
वर्त्तमानस्य विद्यमानत्वादित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

२६२

§ २६. यश्चानेन कल्याणमित्रसम्पर्केण धर्मश्रवणद्वारे[1]न्द्रियपरिपाकादि-काद्[2] भाविनः प्रत्यया[3]द्दानशीलाद्यात्मकः कर्त्तव्यो[4] धर्मः सोऽप्यनागतार्थसद्भाववादित्वात्तस्यास्त्येवेति । तदा—

*** धर्मो यद्यकृतोऽप्यस्ति नियमो जायते वृथा।**
अथ स्वल्पोऽपि कर्त्तव्यः सत्कार्यस्य न सम्भवः ॥ १२ ॥

§ ३०. यदर्थमस्य कायवाङ्मनसां संयमः स धर्मोऽस्याकृत एवास्तीति तदुपार्जनाय नियमश्रमोऽस्य वृथा। तेन[6] विनापि तस्य सम्भवात्[7]। अथास्य तेन नियमेन तस्य धर्मस्य कश्चिद्विशेषो निष्पाद्यते स एव विशेषः पूर्वमसन् पश्चात्क्रियत इति व्याहन्यतेऽस्या[8]नागतार्थसद्भाववादित्व[9]मिति प्रतिपादयन्नाह—

अथ स्वल्पोऽपि कर्त्तव्यः सत्कार्यस्य न सम्भवः ॥१३॥

२६३

§ ३१. अथोदयात्पूर्वापरयोरप्यवस्थयोरस्यास्तित्वं स्यात्तदास्य (नित्यत्वम्) आपद्यते। अथानेनानित्यत्वमङ्गीक्रियते तदास्य।

अनित्ये सति सत्कार्यं कथं नाम भविष्यति।
आद्यन्तौ यस्य विद्येते तल्लोकेऽनित्यमुच्यते॥ १३ ॥

§ ३२. अनित्ये सति सत्कार्यं कथं नाम भविष्यति।

द्वयोरप्यनयोरन्योन्यविरोधादित्याशङ्का। एवम् आद्यन्तौ यस्य विद्येते तल्लोकेऽनित्यमुच्यते। यस्य पूर्वं भावान्तरं नास्ति स लोक आदिर्नाम। यस्य

---

१. T. S. O मित्रसम्पर्कधर्मश्रवणेन्द्रिय।
२. S. O पाकाद्।
३. T. भूतेन प्रत्ययेन।
४. T. S. न तत्र 'कर्तव्य' इति शब्दोद्यते।
५. T. S. न तत्र 'तस्य' इति शब्दोवर्तते।
६. T. न तत्र 'तेन' शब्दः।
७. T. S. तेन विनिपातस्यासम्भवात्।
८. S. अस्य तर्हि।
९. T. S. सद्भाववादित्वं।

पश्चाद्भवान्तरं नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते। यस्यार्थस्यादिरन्तश्च सोऽनित्य इति लोकोऽभीप्सति। तस्मादाद्यन्तसद्भावान्न नित्य उच्यते। न च तस्य सत्कार्यवादो युज्यते ॥१३॥

२६४

§ ३३. यस्य सत्कार्यवादे दोषदर्शनेनानागतं नास्तीति लब्धिस्तस्य दर्शनेऽपि—

अप्रयत्नेन मोक्षः स्यान्मुक्तानां नास्त्यनागतम्।
तथा सति विना रागं स्याद्रक्तस्यापि सम्भवः ॥१४॥[1]

§ ३४. अनागतयोः क्लेशजन्मनोरभावदप्रयत्नेनार्यमार्गोत्पादनं विनाप्यस्य मुक्तिर्भवेत्। मुक्तानामार्यमार्गफलेनानागतयोः क्लेशजन्मनोर्द्वयोरनुत्पादादनागतं नास्ति यथा मुक्तानामनागतं विना प्रयत्नः साध्यते [तथा] तेषामिवनागतफलाभाववादेऽप्यस्मिन् विना प्रयत्नं मोक्षो भवेच्चेदेवमपीदं न भवतीत्य सत्कार्यवादो न युज्यते।

§ ३५. न केवलं मोक्षप्रसङ्ग एव क्षतिरपित्वस्मादहेतुक उत्पादोऽपि भवेदिति प्रतिपादयन्नाह तथा सति विना रागं स्याद्रक्तस्यापि सम्भवः। विना रागं स इष्यते चेदहेतुक एव स्यात्। अहेतुकस्य च न सम्भावना। अर्हतोऽपि रागप्रसङ्गात्। तस्मान्नास्त्यहेतुक उत्पादः। यदा हेतुक उत्पादो न सम्भवति तदानागतं नास्त्येवेति न युज्यते ॥१४॥

२६५

§ ३६. तत्र सत्कार्यासत्कार्यवादिनोरुभयोरपि दर्शने हेतुना फलसिद्धिरशक्येत्यभिव्यञ्जयन्नाह—

*** स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः।**
सत्कार्यमेव यस्येष्टं यस्यासत्कार्यमेव च ॥ १५ ॥

§ ३७. साङ्ख्यवैभाषिकौ सत्कार्यवादिनावेव। सांख्यदर्शने यत्सत्तदेवास्ति यन्न सत्तन्नास्त्येव। असतोऽनुत्पत्तिः सतश्चाविनाशः इत्यभ्युपगमः। तत्रासदकरणादुपादानग्रहणाच्छक्तस्य शक्यकरणाच्चेत्यादिना[2] सदेव कार्यं जायते। असत्कार्यवादश्चेत्सर्वतः [सर्वं] सम्भवः स्यात्। न चेदमेवमस्ति। तस्मात्सदेव

---

१. V. अयत्नतश्चेन्निर्वाणं तस्य न स्यादनागतम्।
विनापि रागं रक्तोऽपि नन्वेवं सति जायते॥

२. सांख्याकारिका, ९.

कार्य जायत इति । वैभाषिकोऽपि स्वभावानुद्भूतादुद्भवप्राप्तिभिया कालत्रयेऽपि सदेव कल्पयति ।

§ ३८. वैभाषिकसौत्रान्तिकविज्ञानवादिनोऽसत्कार्यवादिनः । ते हि सतः कार्यस्योत्पत्ति निरर्थेत्यसदेव कार्यमुत्पद्यत इति प्रतियन्ति ।

§ ३९. तस्मादनयोर्द्वयोर्वादिनोः सत्कार्यवादिनस्तावद्ग्रहार्थं यः स्तम्भद्वार-कवाटादीनामलङ्कारो मर्कटविहङ्गादिविन्यासविशेषखचितस्वरूपः स न युज्यते । तस्य कार्यस्य गृहस्य सत्त्वात् । प्रकारान्तरसाध्यत्वाभ्युपगमे चासत्कार्यवाद-प्रसङ्गात् ।

यस्यासत्कार्यवादस्तस्यापि दर्शने स्तम्भाद्यलङ्कारस्य यथोक्तप्रयोजनाभाव एव । तस्य कार्यस्यासत्त्वात् । असद्धि वन्ध्यापुत्रो न शक्यः केनापि निष्पादयि-तुम् । एवमसत्कार्यवादेऽपि कार्यं गृहं न सिध्यति ॥ १५ ॥

२६६

§ ४०. अत्राह । यद्यपि त्वयातीतानागतौ कालौ निषिद्धौ तथापि वर्तमान-स्तावदस्ति । तत्सद्भावेनानागतोऽप्यस्ति । अनागतावस्थो भावः परिणामेन वर्तमानो भवति ।

यदि न भवेत्कस्य परिणामेन वर्तमानो भवेत । तस्माद् वर्तमानसद्भावेना-नागतोऽस्ति ।

§ ४१. उच्यते । स्यादेवं यदि परिणाम एव स्यात् । न तु स सम्भवति । किमिति । इहानागतस्यार्थस्य परिणामेऽस्मिन् कल्प्यमाने स्वरूपस्य विनाशेन वा कल्प्यते स्थित्या वा कल्प्यते । यदि तावत्स्वरूपविनाशेन तदेकं विनश्यत्यन्य-दुत्पद्यत इति परिणामेन विनाशोत्पादयोरेव परिणाम इति भवेत् । स्थिते द्रव्यस्य धर्मान्तरे [तद्] वृत्तिधर्मान्तरोद्भवो न परिणामः । अथास्माकं परिणाम ईदृश एव ।

§४२. तथा हि । यथा गोरसद्रव्यवृत्तेर्धर्मान्तरस्य दुग्धभावस्य निवृत्तिर्धर्मान्तरस्य दधिभावस्योद्भवश्च परिणामस्तथा रजस्तमःसत्त्वानां त्रयाणां गुणानामनागताव-स्थानिवृत्तिर्वर्तमानावस्थोद्भवश्च परिणाम इति मतम् । नास्य परिणामस्यास्तित्वं स्थापयितुं शक्यते । लोकस्यैषामनागतानां गुणत्रयाणामस्तित्वोपलम्भात्तेषां परिणामो नोपलभ्यत एव । न च दधि दुग्धस्य विकार इति शक्यं व्यस्थाप-यितुम्, दुग्धावस्थायामेव दुग्धस्य दुग्धत्वमिति । न च दुग्धावस्थायामेव वर्तमानस्य

दुग्धस्य दधिभावः। यदि भवेद्दुग्ध एव दधीति भवेत्। न चेदं युज्यते। तस्मान्न दुग्धस्य दधिभावः। यदा दुग्धस्य दधिभावः स्यात्तदान्यस्यापि कस्यचित्स्यात्। तस्मान्नास्ति परिणामः। न च दधिदुग्धावस्थातो भिन्नं गोरसद्रव्यमात्रं किमप्युपलभ्यते। तथा च।

भावानां परिणामोऽपि मनसापि न गृह्यते।
तथापि वर्तमानोऽस्ति कल्पयन्त्यविचक्षणाः[1] ॥ १६ ॥

§ ४३. भावानां परिणामो हि न केवलं चक्षुरादीन्द्रियायत्तदर्शनपञ्चकेन न गृह्यते सूक्ष्मावृतारूपार्थपरिच्छेदसमर्थेन मनसापि न गृह्यते। एवं जडजनानपेक्ष्य वर्तमानो नाम स्वरूपेण परीक्षितुं न शक्यत इति नास्तीति नास्ति कालत्रयम् ॥ १६ ॥

२६७

§ ४४. अत्राह सन्त्येव कालास्तद्धेतोर्भावस्य सत्त्वात्। ते हि स्वममूर्तत्वाद्भावमेवोपादाय परिच्छेत्तुं शक्यन्ते न स्वयमेव। तस्मात्कालाभिव्यक्तिनिमित्तसद्भावादस्ति कालः।

§ ४५. उच्यते। स्यात्कालस्यास्य सत्वं यदि तद्धेतुर्भाव एव स्यात्। न तु [स] सम्भवति। यथा च न सम्भवति तथा प्रतिपादयन्नाह —।

स्थितिं विना कुतो भावोऽनित्यत्वेन स्थितिः कुतः।
स्थितिर्यदि भवेदादौ गच्छेदन्ते न जीर्णताम् ॥ १७ ॥[2]

§ ४६ स्थिति विना कुतो भावः।

इहैकैकस्मिन् क्षण उत्पादभङ्गवतां भावानां सर्वथापि स्थितिर्नास्ति। स्थित्यभावेन कालस्य हेतुर्भावो नास्ति। स्थित्यभावमेव प्रतिपादयन्नाह अनित्यत्वेन स्थितिः कुतः। अनित्यत्वेन भुक्तस्य (?) भावस्य स्थितिर्न सम्भवति। यदि स्थितिः स्यात् स्थितिमान् भावः पुनर्जीर्णो न स्यात्। जरायाः स्थितिविरुद्धत्वात्। अन्यच्च

स्थितिर्यदि भवेदादौ गच्छेदन्ते न जीर्णताम्। आयत्यामजीर्णत्वप्रसङ्गात्पुरस्तादेव स्थित्यभावः प्रतीयताम् ॥ १७ ॥

---

१. V. मनसापि न गृह्यन्ते भावा हि परिणामिनः।
वर्तमानस्य तत्सत्तां कल्पयन्त्यविचक्षणाः ॥

२. V. अस्थिरः कस्यचिद्भावोऽनित्यत्वात् कस्यचित् स्थिरः।
आदौ यदि स्थिरो भावस्तस्यान्यत्वं न जायते ॥

२६८

§ ४७. इतश्च स्थितिर्नास्ति । तथा हि ।

विजानाति यथा नार्थद्वयं विज्ञानमेककम् ।
विज्ञानद्वयमेवं न विजानात्यर्थमेककम् ॥ १८ ॥[1]

§ ४८. यदि भावस्य स्थितिर्नाम भवेत्तदा [ऽयं] क्रमेणानेकविज्ञानज्ञेयो भवेत् । नास्य सम्भावनापि । ज्ञानज्ञेययोर्द्वयोः क्षणिकत्वात् । यदेकेन गृहीतं न तदन्येन ग्रहीतुं शक्यते । तस्मान्नास्ति स्थितिः । स्थितेरभावाच्च न भावो नापि काल इति सिद्धम् ।

२६९

§ ४९. अत्राह । अस्त्येव स्थितिः वर्तमानकाललक्षणत्वात् । स्थित्या हि वर्तमानकालो लक्ष्यते । स्थित्या विरहितस्य वर्तमानत्वासम्भवात् । अत्रोच्यते—

स्थितिर्यदि भवेत्काले स्थितिः कालो भवेन्न हि ।
अथ स्थितिर्न विद्येत नान्तोऽपि स्याद्विना स्थितिम्[2] ॥१९॥

§ ५०. तत्र स्थितिर्यदि भवेत्काले इति मन्यते तदा स्थितिः कालो भवेन्नहि यथाधाराधेययोर्भेदाद्गृहे विद्यमानो देवदत्तो गृहमेव न भवत्येवं स्थिति कालो भवेन्नहि काले सद्भावात् । तस्मात्कालस्य स्वभावो नास्तीति न सा कालस्य लक्षणम् । अथ स्थिति र्न स्यात् । स्थित्या रहितस्यान्तःपरिक्षयोऽपि न स्यात् ।

ततः प्रत्युत्पन्नः काल आयात्यां तिष्ठेत् । तस्य कालस्य नित्यत्वात् प्रत्युत्पन्नो भावोऽपि नित्यो भवेत् । एवमपीदं न भवति । तस्मान्नास्ति स्थितः ॥१९॥

२७०

§ ५१. अत्राह । अस्त्येव सा स्थितिः । तद्वतो भावस्यानित्यत्वात् । स्थिति-रहितस्य भावस्यासत्वादनाश्रयस्यानित्यत्वस्यासम्भवे भावेऽनित्यत्वस्यापि सत्वम् तस्मात्तत्सत्वेन स्थितेरपि सत्वम् ।

---

१. V. विजानाति यथानैकं विज्ञानं वस्तुयुग्मलम् ।
विजानाति तथा नैकं वस्तु विज्ञानयुग्मलम् ॥

२. V. स्थिरता यदि कालस्य स्थिरः कालो न जायते ।
अस्थिरश्चेत्कथं तिष्ठेदसन्नन्ते न विद्यते ॥

§ ५२. अत्रोच्यते । यद्यनित्यत्वं नाम किञ्चित् स्यात्तद्भावादन्यदेव वैकमेव वा स्यात् । उभयथापि नोपपद्यत इति प्रतिपादयन्नाह—

भिन्ने भावादनित्यत्वे भावोऽनित्यो न जायते
एकत्वे यदनित्यत्वं स हि भावः स्थितिः कुतः ॥२०॥[1]

§ ५३. अनित्यत्वं चेद्भावादन्यदेव तदानित्यत्वलक्षणभेदाद्भावो नित्यो भवति । न च भावो नित्य इति नानित्यत्वस्यान्यत्वम् । अथैकत्वमिष्यते तथापि भावस्तस्मात्पृथग्न सम्भवतीति यदनित्यत्वं स एव भाव इति भावस्यानित्यत्वात्मकत्वात्स्थितिः सर्वथैव न सम्भवति । तस्मान्नास्ति स्थितिः । स्थित्यभावेनानित्यत्वमपि नास्तीति स्थित्यनित्यत्वयोर्द्वयोरभावेन नास्ति भावः । तदभावेन कालोऽपि नास्तीति सिद्धम् ॥२०॥

§ ५४. यत्पूर्वं

२७१

स्थितिं विना कुतो भावो-
ऽनित्यत्वेन स्थितिः कुतः ।

इत्युक्तं तत्राह । अनित्यत्वे विद्यमानेऽपि विद्यत एव स्थितिः । कथं कृत्वेति । स्थितिकाले स्थितिर्बलवत्तरा नानित्यत्वम् । न च दुर्बलो बलवन्तं विनाशयितुं शक्नोतीति । इदमपि न युज्यते इति प्रतिपादयन्नाह—

दुर्बलानित्यता यत्र स्थितिस्तत्र न दुर्बला ।
किं पश्चान्नियमाद्दृष्टस्तयोः पदविपर्ययः ॥२१॥[2]

§ ५५. यदि स्थितिकालेऽनित्यत्वं दुर्बलं केन पश्चाद्धर्मसाम्ये सा स्थितिर्हिनिष्यते । केन तस्य पश्चाद्बलवत्वम् । तस्मात्तत्पूर्वमेव वा पश्चादेव (?) वा न बलवत्तरम् । तस्माद्भावो नित्यो वा स्थितिहीनो वा स्यात् । न चेद युक्तम् । तस्मान्न सा विद्यते ॥२१॥

२७२

§५६. अन्यच्च

---

१. V. भावान्तरमनित्यं चेद्भावोऽनित्यो न विद्यते ।
एकस्यानित्यता यस्य कथं भावःस तिष्ठति ॥

२. V. अनित्यं दुर्बलं येन दुर्बलं सन्न जायते ।
तत्स्थिति नियतं पश्चान्निवृत्तिः केन दृश्यते ॥

भवेत्सर्वेष् भावेष्वनित्यत्वं दुर्बलं न चेत्।
स्थितिर्भवेन्न सर्वत्र न वा सर्वमाशाश्वतम् ॥ २२ ॥[1]

§ ५७. यद्यनित्यत्वं दुर्बलं न भवेद्बलवद्भवेत् सर्वेषु च भावेषु तिष्ठेत्। यदि भावानामेकमन्तं (?) व्याप्य तिष्ठेत्तदा सर्वेस्वपि न तिष्ठेत्। अथ सर्वेषु न तिष्ठेत्तदा न सर्वे धर्मा अनित्या स्युः। तदा कश्चिद् [अंशो] नित्यो यत्र स्थिति र्बलत्तरा। कश्चिद्देशोऽनित्यो यत्रानित्यत्वं बलवत्तरम्। एवं सति न सर्वेऽनित्याः न वा (सर्वे) स्थिताः ॥२२॥

२७३

§ ५८. अन्यच्च। अनित्यत्वमिदं लक्ष्येण सह वा जायते पश्चात्काले वा। तत्र

यदि नित्यमनित्यत्वं भवेन्नित्यं स्थितिर्न हि।
नित्यो भूत्वाथवा पश्चादनित्यः खलु जायते ॥ २३ ॥[2]

§ ५९. यदि नित्यमनित्यत्वं भवेन्नित्यं स्थितिर्नहि। लक्ष्यलक्षणाव्यभिचारात्। यद्यनित्यत्वं नित्यमनुबद्धं न तदा स्थितिर्नित्यम्। अनित्यत्वानुबन्धात्।

नित्यो भूत्वाथवा पश्चादनित्यः खलु जायते ॥ यदि यथोक्तदोषजिहासया पश्चाद्भावोऽनित्य इष्टस्तदा स भावः पूर्वं स्थितिमानित्यतिरिक्तो भूत्वा पश्चादनित्यत्ववानित्यनित्य इत्येको भावो नित्योऽपि भवत्यनित्योऽपि भवतीति यत्तदपि न युक्तम् ॥ २३ ॥

२७४

§ ६०. अपि च। संस्कृतलक्षणाना नामन्योन्यमभिचारात्—

अनित्यत्वेन सहिता स्थितिर्भावे भवेद्यदि।
मिथ्या वा स्यादनित्यत्वं स्थितिः स्याद्वितथाथवा ॥२४॥[3]

§ ६१. अनित्यत्वेन सहिता स्थितिर्भावे भवेद्यदि तथापि मिथ्यास्यादनित्यत्वं स्थितिः स्याद्वितथाथ वा ॥ यदि स भावस्तिष्ठति तदा तस्यानित्यत्वं मिथ्या।

---

१. V. अनित्यं दुर्बलं येन सर्वभावेषु विद्यते।
सदसत्त्वं च सर्वस्मिन्नथ सर्वमशाश्वतम् ॥

२. V. नित्येऽनित्यं यदि भावेन्नित्यं सत्ता न जायते।
नित्ये क्षीणेऽथ तत्पश्चादनित्यं किल जायते ॥

३. V. अनित्येन यदा सार्धं सत्ता भावेषु विद्यते।
अनित्यं जायते मिथ्या मिथ्या सत्तापि जायते ॥

अथ नश्यति । स्थिति वितथेति स्थिति र्न युक्ता । स्थितेश्च तस्या अभावेन भावो नास्ति । भावस्य चाभावे तदाश्रयिणः कालस्थाभावात्कालस्वभावो न सिध्यति ॥ २४ ॥

२७५

§ ६२. अत्राह । अस्त्येव भावहेतुकः कालः । तथा हि । अस्त्यतीतसंस्काराश्रयः कालः । यद्यतीतो भावो न स्यान्ममातीते काल इदमेवमनुभूदिति मननेऽतीतालम्बना स्मृतिः किंविषिया स्यात् तस्मात्तद्विषयकस्मृतिसद्भावादस्त्येव भावहेतुकः कालः इत्युच्युते । अत्र स्मृतिरियमनुभूत एव विषये प्रवर्तते । वर्तमानविषय विज्ञानेन वस्तुत उपलभ्यमानस्य स्मृत्या न किमपि प्रयोजनम् । तस्माद्यदालम्बना स्मृतिरालम्बनभूतः स भावो विद्यते ।

तदप्यसारमिति प्रतिपादयन्नाह—

न दृष्टो दृश्यते भावश्चित्तं न जायते पुनः ।
तेन मिथ्या स्मृतिर्नामार्थोऽस्या मिथ्यैव जायते ॥२५॥[1]

इति योगाचारे चतुःशतके कालप्रतिषेधभावनासन्दर्शनमेकादशं प्रकरणम् ॥११॥

§ ६३. वर्तमानावस्थस्य तस्य भावस्य यत्स्वरूपं साक्षात्कर्तुर्वर्तमानेन ज्ञानेन दर्शनादस्ति न तत्पुनर्दृश्यते । एकस्य ह्यर्थस्य विज्ञानद्वयेन परिच्छेद्यत्वं पूर्वमेव निषिद्धम् । तेनैव न्यायेन दृष्टो भावो न दृश्यते । यदा न दृश्यते तदा तद्विषयकं चित्तं पुन र्न जायते ।

§ ६४. तस्मात्स्मृतेरालम्बनमतीतो भावः । यदि स स्वरूपेण स्यात्तदा सा स्मृतिः सतोऽर्थस्यावलम्बनात्स्वरूपेण सिध्येत् यदा तु सोऽतीतो भावः स्वरूपेण नास्ति तदा तदालम्बन स्मृतिरपि नास्ति । तस्मान्मिथ्येति सिद्धम् । मिथ्येति स्वाभावेनाभावः प्रतीत्य समुत्पादश्च नार्थान्तरम् । भावाभावार्थो हि न मिथ्यार्थः । नातीतार्थः सर्वथा न भवति । स्मरणीयत्वात्तत्फलदर्शनाच्च । स्वरूपेण सन्नपि च न भवति । नित्यत्वप्रसङ्गाद्वस्तुतो ग्रहण प्रसङ्गाश्च्च । तादृशाभावाज्जायते चेत् स्मृतिरपि तादृशी भवति । तेन मिथ्या स्मृति र्नामार्थोऽस्था मिथ्यैव जायते ॥ इति सिद्धम् । जाग्रदवस्थायां स्वप्नदर्शनावस्थानुभवविषयकस्मृतिवत् ॥२५॥

---

१. V. यो भावश्चेतसादृष्टः सोऽदृष्टो न पुनर्भवेत् ।
स्मृतिर्नाम भवेन्मिथ्या मिथ्या भावोऽपि जायते ॥

दृष्टिप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्

२७६

§ १. अत्राह। त्वया खल्वेष नैरात्म्यधर्मो व्यक्तं विस्तरशः प्रदर्शितः। तथागतोऽप्ययमवबोधकश्चोपदेशकश्च। तत्किमित्यस्मिन् धर्मे लोको भूयसा न प्रवर्तते। यस्मादयं धर्मः कर्तुर्व्याख्यातुर्धर्मस्य च माहात्म्येन शुक्लतरस्तस्मात्सर्वेषां मोक्षकामाणां युक्तेह प्रवृत्तिः। किं विचार विशेषोपदेशान्तरैः।

§ २. उच्यते। यद्यपि धर्मस्यास्य प्रवक्तुर्व्याख्या तुर्धर्मस्य च स्वभावेन माहात्म्यमस्ति तथापि श्रोतुर्माहात्म्यमतिदुर्लभम्। तथा हि—

शङ्कुष्ठो बुद्धिमानर्थी श्रोता पात्रमितीर्यते।
अन्यथा न गुणो वक्तुर्न श्रोतुरपि जायते॥१॥[1]

§ ३. तत्र शङ्कुष्ठः यः पक्षेऽपतितः। कः पुनः पक्षेऽपतितः। यः स्वपक्षे परपक्षे चानुरागेण प्रतिघेन च पक्षरहितः। स ह्येवं चित्तसन्तानाक्लेशात्सुभाषितरत्नविशेषयुक्तितत्परो भवतीति संक्लेशपक्षक्षेपमूले शङ्कौ तिष्ठति। तस्मादेकं सति शङ्कुष्ठः श्रोतोत्तमस्य सद्धर्मामृतस्य भाजनम्। शङ्कुष्ठः श्रोता यदि प्राज्ञः स्यात् स्यात्सुभाषितदुर्भाषितसारासारविचारपटुः। स हि प्राज्ञत्वेनासारं त्यक्त्वा सारं गृह्णाति। श्रोता चेदेवं प्राज्ञो भवेत्स भाजनं भवेत्। एवं शङ्कुष्ठः प्राज्ञभूतश्च सुभाषितश्रवणार्थी संश्रित्रपुरुष इव न वीर्यहीनो भवति। एवं शङ्कुष्ठो बुद्धिमानर्थी श्रोता पात्र मितीर्यते।

§ ४. श्रोतृषु च तादृशेषु नूनं
अन्यथा न गुणो वक्तुर्न श्रोतुरपि जायते॥

तत्र वक्तुर्गुणा अपक्षपातित्वमवैपरीत्यं स्पष्टत्वमकोपवक्तृत्वं श्रोत्रध्या शयावगन्तृत्वं निरामिषचित्तत्वञ्चेत्येवमादयः। श्रोतुरपि धर्मे धर्मवादिनि च द्वयोः श्रद्धा मनोनिवेशः शङ्कुष्ठत्वं बुद्धिमत्त्वर्थित्वं च। तस्यार्थित्वं च धर्मे धर्मवादिनि च श्रद्धया

---

१. V. साक्षी धीमानर्थपतिः श्रोता दृष्टेति भास्यते।
वक्तु र्गुणा न चान्यस्य नापि श्रोतुर्भवन्ति ते॥

मनोनिवेशादिनी च प्रतीयते । एवं च सति वक्तुर्गुणो नान्यथा जायते । श्रोतुरपि गुणो नान्यथा जायते । श्रोतरि हि तादृशे वक्तुर्गुणो दोषरूपो न भवति । श्रोतुर्दोषाद्गुणोऽपि दोषरूपेण विक्रियन्ते दोषोऽपि च गुणरूपेण विकियन्ते । उक्तलक्षणस्तु श्रोता श्रवणाद्युद्भूताविपरीत गुणगणानामाधारो भवति । वक्तुर्गुणो नान्यथा जायते । न च श्रोतुर्गुणो दोषरूपो भवति ।

§ ५. नास्त्यस्माकं जडात्मनां देशनायां कापि प्रज्ञा किमपि कर्त्तव्यं वा । नास्ति प्रतिपत्ते त्येवं न कोऽपि वक्ता । प्रत्येतव्यमेतद् अभिप्रायोपदेशसूत्रे ॥१॥

२७७

§ ६. तस्मादेव भगवता—।

उक्तो भवो भवोपायः शिवोपायस्तथा शिवम् ।
यल्लोके न परिज्ञातं व्यक्तं तद्दर्शने मुनेः ॥२॥[1]

§ ७. तत्र भवः फलभूतमुपादानस्कन्धपञ्चकम् । भवोपाया हेतुभूताः संस्काराः । शिवं निर्वाणम् । सर्वोपद्रवनिवृत्तिस्वभावत्वात् । शिवोपाय आर्य आष्टाङ्गको मार्गः । एवं भगवता मोक्षकामेभ्य आर्यसत्यचतुष्टयमुपदिष्टम् । सफलयोर्हेयोपादेययोरुपदेशात् । तत्र श्रवणमननभावनावतां सम्यग्यथवात् प्रत्यात्मभ्यवगच्छतां परम्परायां भगवतोपदिष्टोऽर्थो यथावदेव भवति । व्यक्त (?) श्रवणमननभावनाभ्युद्यमास्तु स्वयमभाजनभूता अनार्या नास्माभिरर्थो यथावत् प्रतीयत इति नूनमयं न सम्यग्भाषित इति सा भ्रान्तिर्मुनेरिति निश्चिन्वन्ति । न तावता बुद्धो भगवानपराध्यात । आर्यसव्यचतुष्टयसंप्रकाशत्वेननिखशेषपुरुषार्थ संप्रकाशकत्वादिति कुतो वक्तुर्दोषः । तस्मान्मुनेर्दर्शन इत्युच्यते । कैश्चित्तदुपदिष्टं वस्तुतत्त्वं यथावन्न निश्चितमिति न हि जात्यन्धेनादृष्टालोकस्यं सूर्यस्य दोषो भवत्यनन्धैस्तस्य दर्शनात् ॥२॥

२७८

§ ८. अत्राह । तस्य तथागतस्याभ्युन्नतासु सर्वासु कथास्वत्यर्थं व्यक्तासु [अपि] सर्वभावाभावप्रदर्शनपरत्वेन न निःश्रेयसकथास्मादृशैरगन्तुं शक्यते । एवं च भगवान् सर्वभावस्वरूप दूष प्रवृक्त्वान्नास्माकं मनः सन्तोषयति । उच्यते—।

---

१. V. उक्तो भवोभवोपायः शिवोपायस्तथा शिवम् ।
यल्लोकेनापरिज्ञातं दृष्टं तन्मुनिसन्निभम् ॥

सर्वत्यागेन निर्वाणं सर्वपाषण्डिनां मतम् ।
न सर्वदूषणे तेषां किञ्चिद्वैमुख्यकारणम् ॥३॥[१]

§ ९. [सांख्य वैशेषिकादीनां सर्वपाषण्डिनां निखिल सुख दुःखादि भावसंक्लेशनि[२]] वृत्या मोक्षावाप्तिरिति निश्चयः[३]। यदा चैवं सर्वत्यागेन सर्वपाषण्डिनां निर्वाणमभिमतं तदा न किञ्चिन्[४] मया[५]ऽत्रापूर्वमुक्तं[६] यद्वैमुख्यकारणं भवेत् । पाषण्डिकै[७] र्येषामेव हि पदार्थानां निर्वाणे पुनरप्रवृत्त्या निर्वृति[८]रभिसमीहिता[९] तेषामेव मया नैःस्वभाव्य प्रतिपादनपरेण शास्त्रेणास दर्शनकण्ट[१०] [कोद्धरणात्मकेन] [illegible] । तत्किमिति हृदि भयमसत्कल्पयित्वा[११] भवान् बिभेति । आधीयतां[१२] मनः परितोषः क्रियतामात्मसादयं धर्मो निवेश्यतां चेतसि[१३] सांक्लेशिकवस्तु[१४] निवारणकथा ॥३॥

२७९

§ १०. ननु च यदि सर्वपाषण्डिनाम[१५]प्ययमेवाभिप्रायो यदुत सर्वत्यागेन निर्वाणमिति कः पुनर्भवतस्तीर्थिकानाञ्च विशेषः । अयं विशेषो यत्तीर्थिकानां सर्वत्यागाभिप्रायमात्रं न[१६] पुनः सर्वत्यागोपायाख्यानम् । अनुपदिष्टे च सर्वत्यागोपाये ।

किं करिष्यति स त्यागं त्यागोपायं न वेत्ति यः ।
शिवमन्यत्र नास्तीति नूनं तेनोक्तवान्मुनिः ॥४॥

§ ११. सर्वत्यागाशयेऽपि स्थिते[१७] तीर्थिकमतावलम्बी त्यागोपायानभिज्ञः किं त्यागं करिष्यति । यन्न जानाति सर्वधर्मस्वभावशून्यता लक्षणं सर्वत्यागोपायं परमार्थसत्यम् । अतएव

शिवमन्यत्र नास्तीति नूनं तेनोक्तवान्मुनिः ॥४॥

---

१. V. सर्वत्यागेन निर्वाणं सर्वपाषण्डिनां मतम् ।
न तेषां दूषणैः सर्वैः किञ्चिद्वैमुख्यकारणम् ॥

२. T.

३. T. अभ्युपगम

४. T. किञ्चिदपि

५. T. न तत्र 'मया' इति शब्द ।

६. S. उपच्चरितम्

७. T. ; S. न तत्र "पाखण्डिकैः" शब्दः

८. T. ; S. निवृत्तिर्

९. T. इष्टा

१०. S. दर्शनकटा··· ।

११. T. ; S. आलिख्य ।

१२. T. ; सा० उत्पाद्यताम्

१३. T. ; सा० आत्मनि

१४. T. सांक्लेशिक सर्ववस्तुशोकनिवा

१५. T. त्यागोपायाख्यानम् ।

१६. S. न तु

१७. T. ; S. स्थित

२८०

§ १२. ननु च तवा[1]प्यपर्यन्तत्वाद्[2] ज्ञेयस्यातीन्द्रियेस्वर्थेषूपदिष्टेष्वसमक्षत्वात् तेषां संशय एव जायते किमसावर्थो यथोपदिष्टस्तथैवाहोस्विदन्यथेति न हि तद्विषयं निश्चयकारणमस्तीति । तत्राप्युच्यते ।

बुद्धोक्तेषु परोक्षेषु जायते यस्य संशयः ।
इहैव प्रत्ययस्तेन कर्त्तव्यः शून्यतां प्रति ॥ ५ ॥

§ १३. न हि सर्वे भावाः प्रत्यक्षज्ञानगम्या अनुमानगम्या अपि विद्यन्ते । शक्यं चात्रानुमानं कर्तुं दृष्टान्त सद्भावात् । इह सर्वत्यागोपायः[3] सर्वधर्मस्वभावशून्यता । सा चाशक्या केनचिदन्यथात्वमासादयितुम् । सूक्ष्माश्चायमर्थो नित्यसन्निहितोऽपि सर्वजनासमक्षत्वात् । तस्य चोपपत्त्या सर्वधर्मस्वभावग्राहविनिवारणमुखेनोपपादिता यथावत्ता । अत्रैव तावदस्थीयतां निश्चयः ।

§ १४. अथात्र[4] किमेवमेवैतदुताहो अन्यथेत्यस्ति किञ्चदनिश्चयकारणं तदुपदिश्यतां यदि तन्न निराकृतमुक्तवक्ष्यमाण प्रकरणप्रतिपादितनिश्चयेन । न च शक्यमनेन स्वल्पमप्यनिश्चयकारणं [illegible] सिद्ध एवायं दृष्टान्तः । ततश्चान्यदप्यसमक्षार्थप्रतिपादकवचनं भगवतोयथार्थमिति प्रतीयतां स्वनयेनैव तथागतोपदिष्टत्वात्स्वभावशून्यतार्थाभिधायकवचनवदिति कुतो बुद्धोक्तेषु परोक्षेषु संशयावकाशः ॥५॥

२८१

§ १५. न च तथागतवत्तीर्थिकानामपि शक्यमविपरीतार्थाभिधायित्वम[5]वसातुं तेषां दृष्टधर्म एव विपर्यस्तत्वात् । तथा ह्यस्य लोकस्य तैर्नित्यकारणपूर्विका प्रवृत्तिरुपदिश्यते सा चाशक्यप्रतिपादना[6]दृष्टविरुद्धा चोपपत्तिविरुद्धा च । एवम्— ।

*** लोकोऽयं येन दुर्दृष्टो मूढ एव परत्र सः ।**
वञ्चितास्ते भविष्यन्ति सुचिरं येऽनुयांति तम् ॥ ६ ॥

§ १६. न हि सम्पूर्णे[7]चन्द्रमसि व्याहतदर्शनसामर्थ्योध्रु[8]वमरुन्धतीं वा पश्यतीति सम्भाव्यम्[9] । तद्वदयं तीर्थिको लोकस्य सत्त्वमाजनाख्यस्य हेतुफलव्यामूढ-

---

१. T. तव दर्शने
२. T. पर्यन्तत्वाद्
३. T. S. त्यागोपायः ।
४. T. S. अथास्त्यत्र ।
५. T. विपरीताभिधायित्वम् ।
६. S. अशक्यप्रतिपाद्या ।
७. T. सा पूर्णिमा -
८. T. कश्चिद्ध्रुवमरुन्धतीं ।
९. T. न तत्र विद्यते "इति सम्भाव्यम्" ।

त्वात् स्थूलमेवार्थं तावद्यदा न सम्यगीक्षते तदा कथमयमतिसूक्ष्मं विदू[1]रदेशकालव्यवहितं सप्रभेदमर्थं ज्ञास्यतीति[2] सम्भावयितुं शक्यम् । तदिमं तीर्थिकं स्वयमत्यन्तविपर्यासितदर्शनं मृगतृष्णाजलवदनुपासनीयं तत्त्वदर्शनामलजलपिपासवः संसाराध्वपरिश्रमक्लमापनोदाय ।

वञ्चितास्ते भविष्यन्ति सुचिरं येऽनुयांति तम् । अपर्यवसानापरकोटिके संसारे ते बत वञ्चिता भविष्यन्ति ये यथार्थशास्तारं बुद्धं भगवन्तमवधूय[3] दृष्टादृष्टपदार्थस्वभावव्यामूढं मोक्षकामतया तीर्थिकमनुगच्छन्ति ॥६॥

२८२

§ १७. कस्मात्पुनरेते मोक्षकामा[4] विपर्यस्तदर्शनं तीर्थिकमनुगच्छन्ति । स्वभावशून्यता धर्मोपदेशश्रवणभयात् । तद्भयं

नास्त्य[5]हं न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति ।

इत्यालम्ब्यो[6]त्रासात् । त्रासश्चायं सुचिरमहङ्कारममकाराभ्यासात् । अतएव कल्याणमित्रपरिग्रहात्सुचिराभ्यस्तमपि भावस्वभावाभिनिवेशम[7]लं त्यक्त्वा—

*** स्वयं ये यान्ति निर्वाणं ते कुर्वन्ति सुदुष्करम् ।**
गन्तुं नोत्सहते नेतुः पृष्ठतोऽप्यसतो मनः ॥७॥

§१८. बुद्धो भगवान् स्वयं भूत्वा स्वयमेव निर्वाणपुरमुपयातः[8] । तस्येत्थं[9] दुष्करकारिणो महाकारुणिकस्य[10]

गन्तुं नोत्सहते नेतुः पृष्ठतोऽप्यसतो मनः ॥ न केवलमसतोऽहङ्कारममकार व्यवस्थितस्य[11] स्वयमेव निर्वाणं गन्तुं मनो नोत्सहते । अपि खलु दुष्करकारिणो[12] नेतुः पृष्ठतोऽप्य[13]सतो निर्वाणं गन्तुं मनो नोत्सहते[14] ॥७॥

---

१. T. दूर ।
२. T. ज्ञास्यति ।
३ T. बुद्धेन भगवता यथावदुपदिष्टमर्थमनुपास्य ।
४. S. मोक्षकामा [स्त] मेवं ।
५. S. बोधिचर्यावतारपञ्जिका पृ० ४४९. उत्तरार्ध कारिका इति बालस्य सत्रातः पण्डितस्य भवक्षयः ।
६. T. कल्पयित्वा ।
७. T. S. भावस्वभावाभिनिवेशं मलवत् ।
८. T. S. याति ।
९. T. इत्थं ।
१०. T. S. न तत्र शब्दोऽयं विद्यते ।
११. T. S. व्यवस्थितानां ।
१२. S. यथोपवर्णितस्य ।
१३. S. पृष्ठतोऽप्यस्यासतो ।
१४. T. S. नोत्सहं प्रवेद्यते ।

२८३

§ १९. कस्मात्पुनरस्य नेतुः पृष्ठतोऽप्यसतः पुद्गलस्य निर्वाणं गन्तुं मनो नोत्सहते । शून्यतायां त्रासात् । कस्य पुनरस्यां त्रासो भवतीति । यस्य भवति-तं प्रति[1] प्रतिपादयन्नाह—

*** त्रासो नारभ्यतेऽदृष्टे दृष्टेऽपैति स सर्वशः ।**
नियमेनैव किञ्चिज्ज्ञे तेन त्रासो विधीयते ॥८॥

§ २०. अव्युत्पन्नशास्त्रसङ्केता हि गोपालादयः । शतशोऽप्युपदिश्यमानायां शून्यतायां सर्वथा[2]नुप्रवेशाभावेना[3]दृष्टत्वाच्छून्यतार्थस्य तेषां त्रासो नोत्पद्यते तस्मिन् ।

दृष्टेऽपैति स[5]सर्वशः ।

दृष्टे हि शून्यताख्ये धर्मे स[6] त्रा[7]सस्तत्पण्डितानां सर्वथापैति भवनिमित्ता त्मात्मीयाभिनिवेशविगमात् । रज्वां जात सर्पविपर्यासस्य रज्जुदशने सति सर्पभय-विगमात् । यस्तु किञ्चिज्जानाति[8] तस्य नियमेनावश्यम्सम्भावितया त्रासो विधीयते ॥८॥

२८४

§ २१. किमर्थं पुनरमी किञ्चिज्ज्ञा उत्तरं पदं न पर्येषन्ते यावत्तेषां[9] ज्ञातव्य-परिसमाप्तिर्भवतीति । उच्यते । त्रासात् । किं पुनस्त्रासस्य कारणम् । आह ।

अनभ्यासः । तस्य पुनः किं कारणम् । विपरीताभ्यासः । तदेव प्रतिपाद-यन्नाह— ।

*** एकान्तेनैव बालानां धर्मेऽभ्यासः प्रवर्तके ।**
धर्मान्निवर्तकात्तेषामनभ्यासतया भयम् ॥९॥

---

१. T. न तत्र शब्दोऽयं विद्यते ।

२. T. S. सर्वथातदनु— ।

३. T. S. प्रवेशाभावे सति ।

५. T. S. न तत्र शब्दोऽयं विद्यते ।

६. T. S. न तत्र शब्दोऽयं स्वीक्रियते ।

७. T. S. सन्त्रास ।

८. T. किञ्चिज्जानाति किञ्चिन्न जानाति ।

९. T. एषां ।

§ २२. संसारप्रवृत्त्यनुकूलो हि धर्मः प्रवर्तकः। पृथग्जनपर्यापन्नायां च भूमौ स्थितानां सत्वानां[१] प्रवर्तक एव धर्मोऽभ्यासः। भावानां[२] स्वभावशून्यता हि निवर्तको धर्मः संसारनिवृत्त्यनुकूलत्वात्। [तदभ्यास[३]] स्य परिपन्थ्यात्मस्नेहः। तदनुगतचित्तसन्तानत्वात्पृथग्जनास्तद्व्यावर्तकाद्धर्मात्सुतरां बिभ्यति।[४] स्वभावशून्यतां प्रपापमिव मन्यमाना न तां यथावत् प्रतिपत्तुमुत्सहन्ते ॥९॥

२८५

§ २३. तदेवमविद्या सान्द्रान्धकार प्रच्छादितपदार्थतत्त्वेऽनुपलभ्यमानापरकोटिके[५] संसारमहाटवीकान्तारे[६] प्रनष्टसन्मार्गस्य कस्यचिन्नाम[७] पद्गलस्य भवति स्वभावशून्यताकथायां चेद्भक्ति स[८] तदनुकूल प्रत्ययोप [सिद्धिद्वारेण यथोप[९]] चीयमानप्रसादः शून्यतायां भवति तथा कार्य करुणावता[१०]। कृतज्ञेन[११] च भगवति तथागते सद्धर्मान्तिरायनिमितं कर्मात्मनो[१२] महाप्रपातहेतुं परिजिहीर्षुणा[१३] संकटमप्यवगाह्य दुर्देयमपि दत्वा संग्रहवस्तुचतुष्टयेन संग्रह्य सद्धर्मोऽयं[१४] सद्धर्मभाजनेभ्य[१५] उपदेष्टव्यः[१६]। यस्तु न केवलं यथोपदिष्टं न बहु मन्यते, अपितु।

*** विघ्नं तत्त्वस्य यः कुर्याद्वृतो मोहेन केनचित्।**
कल्याणाधिगतिस्तस्य नास्ति मोक्षे तु का कथा॥१०॥

§ २४. मोहेन केनचिदितीर्ष्या मात्सर्य कौसीद्यभयश्रोतृ विद्वेषादिना तत्त्वोपदेशभाजने जने यस्तत्त्वदेशनश्रवणादिविघातं[१७] करोति तस्य सुभतेरपि तावद्देव[१८]

---

१. T. S. पृथग्जनाना।

२. T. S. न शब्दोऽयं स्वीक्रियते।

३. T.

४. T. भावानां स्वभावशून्यता......सुतरां बिभ्यतीति स्थाने निवर्तको हि धर्मस्तदभ्यासपरिपन्थिनी भावानां स्वभावशून्यता संसारनिवृत्त्यनुकूलत्वात्। आत्मस्नेहानुगतचित्तसन्तानत्वात् बिभ्यति।

५. T. अनाद्यन्ते।

६. T. संसाराटवीकान्तारे।

७. T. कस्यचित्।

८. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते।

९. T.

१०. T. महाकारुणिकेन।

११. कृतज्ञेन।

१२. T. आत्मनो।

१३. T. S. परिजिहीर्ष [अद्भ्यः]।

१४. T. सद्धर्मोऽयं सर्वप्रयत्नेन।

१५. T. सद्धर्मभाजनभूतेभ्यः।

१६. T. जनेभ्य उपदेष्टव्यः।

१७. T. S. विघातकं।

१८. T. S. न स्वीकरोति।

मनुष्यात्मिकाया नास्ति सम्भवो नियतं [दुर्ग] निगमनात्[1] किमुतास्य मोक्ष-कथावकाशः स्यात् ॥१०॥

२८६

§ २५. एवं[2] परात्मनो रत्यन्तापकारितां[3] पश्यता[4] भगवता तथागतेनोक्तम्[5]— ।

*** शीलादपि वरं स्रंसो न तु दृष्टेः कथञ्चन ।**
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्ट्या याति परं पदम् ॥११॥

सूत्र उक्तं । वरं शीलविपन्नो न तु दृष्टिविपन्न इति ॥११॥

२८७

§ २६. एवमतिमहार्थता[6]मस्य तत्त्वदर्शनस्यावेत्यैतदविधाताय विदुषायतितव्यम् । न चानेन तद्विधातभयदर्शिना सता सर्वत्रैवानवधार्य पात्रविशेषमेतन्नैरात्म्य-दर्शनमुपदेष्टव्यमपात्रेषु । अपात्रे[7] हि तदुपदेशोऽनर्थायैव[8] स्यात् । [उक्तं च]

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शांतये ।
पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ।[9]

इति । भगवताप्युक्तम्-वरं खलु काश्यप पद्गलदृष्टिःसुमेरुमात्रा न त्वेवाभि-मानिकस्य शून्यता दृष्टिः । तत्कस्माद्धेतोः । सर्वदृष्टिगताना शून्यता निःसरणम् यस्य खलु शून्यतादृष्टिस्त महमचिकित्स्यम् [इति वदामि इति] अतएव

*** अहङ्कारोऽसतः श्रेयान्न तु नैरात्म्यदर्शनम् ।**
अपायमेव यात्येकः शिवमेव तु नेतरः ॥१२॥

§ २७. नैरात्म्यधर्माधिमुक्तिविरहितो ह्यात्मग्राहाभिनिष्टोऽसद्धर्मसमाश्रया दृष्टिगहनानुचारी नरो[10]ऽसन्नित्युच्यते । तस्यासतो वरमात्मदेशना दुश्चरित निवृत्त्यनुगमनात् तस्याः । तथा ह्यसावात्मस्नेहानुगम[11]नाद्धितमा[12]त्मनो[13]ऽभिवाञ्छन् दुश्चरितनिवृत्ति बहु मन्यते । निवृत्तपापस्य चास्य सुगतिगमन भवति सुल-

१. T. S. अपागमनात् ।
२. S. एवमेव ।
३. T. परात्मनोरपकरितां ।
४. T. दृष्ट्वा ।
५. T. भगवता उक्तम् ।
६. T. S. महार्घतां ।
७. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते ।
८. T. अनर्थ हेतुरेवेत्यर्थः ।
९. काश्यपपरिवर्त, ६४-६५
१०. T. S. न स्वीकरोति ।
११. T. अनुबन्धाद् ।
१२. T. हितं सुख च ।
१३. T. S. आत्मना ।

भम् । नैरात्म्योपदेश[1]स्तस्य प्रतिक्षेपविपर्यासबोधाभ्यां कायचित्तसन्तानं निहतमुपहन्ति । तदेवम् ।

अपायमेव यात्येकः शिवमेव तु नेतरः ।

§ २८. नैरात्म्यदर्शनविप्रतिपन्नो ह्यविद्वानपायमेव याति न शिवम् । यस्तु नेतरः स शिवमेव याति नापायम् । इतरशब्दोऽयमनुत्कृष्टवाची । कश्चानुत्कृष्टः । यः[2] शून्यतार्थं विपरीत[3]मधिगच्छति प्रतिक्षिपति वा । तत्प्रतिषेधेन नेतरः । नेतर इत्युत्कृष्ट इत्यर्थः । यत एव शून्यतोपदेशादितरोऽपायनिष्ठ[4]स्तत एक शून्यतोपदेशान्नेतरो निर्वाणनिष्ठो जायते । शून्यतादर्शन प्रत्ययेन[5] सर्वत्रसङ्गपरित्यागान्निहतक्लेशकर्मगणो नियतं निर्वृत्तिपद[6]मुपयाति । [[7]अथवा योऽमन्नैरात्म्यधर्मं शृणोति स प्रतिक्षेप विपर्ययबोधाभ्यामपायमेव याति । यो न शृणोति स पुण्यकर्मप्रत्ययेन स्वर्ग[8]मेव] ॥१२॥

२८८

§ २९. किं पुनरिदं नैरात्म्यं नाम यदसत्सु नोपदेष्टव्यं सत्सु चोपदेष्टव्यमिति तत्प्रतिपादयन्नाह—

*** अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयङ्करम् ।**
विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ॥१३॥

§ ३०. यदद्वितीयं शिवद्वारं तन्नैरात्म्यम् । यत्कुदृष्टीनां भयङ्करं तन्नैरात्म्यम् । यो विषयः सर्वबुद्धानां तन्नैरात्मम[9]च्यते । तत्रात्मा[10] नाम यो[11]ऽपरायत्तस्वरूपः [12]स्वभावः । [तदभावो नैरात्म्यम[13] ।] तच्च धर्मपुद्गलभेदाद्द्वैतं प्रतिपद्यते । धर्मनैरात्म्यं पुद्गलनैरात्म्यं चेति । तत्र पुद्गलो नाम यः[14] स्कन्धानुपादाय प्रज्ञप्य[15]ते । स च स्कन्धेषु पञ्चधा मृग्यमाणो न सम्भवति । धर्मास्तु स्कन्धायतन[16] धातुनंशब्दिताः पदार्थाः । तदेषां धर्माणां पुद्गलस्य च यथास्वं हेतुप्रत्यया-

---

१. T. नैरात्म्यधर्मोपदेशः ।
२. T. S. न स्वीकरोति ।
३. T. S. विपरीतं शून्यतार्थं ।
४. T. S. निविष्ट ।
५. T. S. प्रत्ययः ।
६. T. S. निर्वृत्ति ।
७. T.
८. सुगति इत्यर्थः ।
९. T. तन्नैरात्म्यम् ।
१०. T. S. तच्चात्मा ।
११. S. यद् ।
१२. S. स्वरूपस्वभावः ।
१३. T. S. न तत्र अंशोऽयम् ।
१४. S. यः स्कन्धपञ्चकस्योपादानाख्यस्योपादाता ।
१५. प्रतीयते इत्यर्थः ।
१६. T. S. स्कन्धाधनधातु...।

धीनजन्मत्वादुपादाय प्रज्ञाप्यमानत्वाच्च स्वायत्तमपरायत्तं निजमकृतकं[1] रूपं नास्तीति पुद्गलस्य धर्माणां च नैःस्वभाव्यं व्यवस्थाप्यते। यस्य चार्थस्य स्वरूप-सिद्धिर्नास्ति तस्य केनान्येनात्मनास्तु सिद्धिरिति। तस्मा[2]त्सर्वथा सिद्धलक्षणा[3] एवा[4] पदार्था मूर्खजन[5]स्य विसंवादकेनात्मना प्रतीत्य वो[6]पादाय वा वर्त्तमाना मूढधियां सङ्गास्पदं भवन्ति[7]।

§ ३१. यथास्वभावं तु सम्यग्दर्शनैः प्रतिभाव्यमाना धर्मपुद्गलयोः [सङ्ग-परिक्षयवाहका भवन्ति[8]] सङ्गपरिक्षयश्च निर्वाणावाप्तिकारणम्। विदितनैरात्म्यस्य हि सर्वेषु[9] भावेषु परिक्षी[10]णसङ्गस्य न क्वचित्काचित्प्रार्थना कुतो वा निमित्तोप-लम्भ इत्यद्वितीयमेव शिवद्वारमेतन् नैरात्म्यम्। तच्चैतत्कुदृष्टीनां [भयङ्करम्। नैरात्म्ये हि वस्तुनः सर्वथानुपलम्भात्कुदृष्टीनां] वस्तुस्वरूपपरिकल्पसमाश्रयणा[11]-दत्यन्तविनाशदर्शनाद्भयङ्करमेतन्नैरात्म्यम्। विषयः सर्वबुद्धानां नैरात्म्यम्। सर्वबुद्धानामिति श्रावकप्रत्येकबुद्धानुत्तरसम्यक्संबुद्धानाम्। ज्ञानविशेषविषयत्वेनाव-स्थानाद्विषयः [illegible]। धर्मशरीरव्यतिरेककीर्तिता वा सर्वेषां सम्यक्सम्बुद्धानामावेदयन्नाह विषयः [illegible]। विशेषणमालया[12] सर्व-धर्म[13]नैरात्म्यमुक्तमाचार्येण ॥ १३ ॥

२८९

§ ३२. एतच्च नैरात्म्यं सता मन्दधियो जनस्य[14] नोपदेष्टव्यम्। यस्मात्—

*** अस्य धर्मस्य नाम्नोऽपि भयमुत्पद्यतेऽसतः।**
बलवान्नाम को दृष्टः परस्य न भयङ्करः॥१४॥

§ ३३. बलवन्नैरात्म्यदर्शनं सर्वासद्दर्शनोन्मूलनसमर्थत्वात्। दुर्बलमसद्दर्शन-मुन्मूलनीयत्वात्। नियतं चैतद्यद्दुर्बलः[15] सबलाद्बिभेतीति। तस्मान्न दुर्बलस्य कुदर्शनेनात्मीकृतचित्तसन्तानस्यायं धर्म उपदेष्टव्यो भयहेतुरिति कृत्वा ॥ १८ ॥

२९०

§ ३४. ननु चोपदेष्टव्य एवायं धर्मः सकलकुदर्शनप्रमाथित्वात्। तथा ह्यवश्यं परप्रवादिनः सह धर्मेण निग्रहीतव्याः। ततश्च वादार्थिना सता परमत-

---

१. T. निजं 'S' कृतकरूपं।
२. T. S. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते।
३. T. स्वलक्षणासिद्धा।
४. T. न तत्र 'एव' शब्दो वर्तते।
५. T. मूर्खजनस्येति शब्दस्याभावः।
६. T. न तत्र 'वा' शब्दो [illegible] च।
७. T. [illegible] सम्भवन्ति।
८. T.
९. T.; S. न स्वीकरोति।
१०. T. परिक्षीणाशेष।
११. T. परिकल्पना[illegible]यीणां।
१२. T.; S. विशेषणमालय।
१३. T.; S न स्वीकरोति।
१४. T.; S. न तत्र शब्दोऽयं विद्यते।
१५. T.; S. अबलवान्।

विजिगीषुणा धर्मोऽयमपात्रेष्व[1]प्युपदेष्टव्य इति । उच्यते । नैतदेवम् । यस्मात्[2]—।

*** वादस्य हि कृतो धर्मो नायमुक्तस्तथागतैः ।**
परवादांस्तथाप्येष दहत्यग्निर्यथेन्धनम् ॥१५॥

§ ३५. यदि चायं धर्मो वादस्य कृते [उपदिष्टः] स्यात् स्यादेतदेवम् । न त्वयं वादार्थ[3] मुपदिष्टो विमोक्षमुखेनोपदेशात् । यद्यप्येवं

[परवादांस्तथाप्येष दहत्यग्निर्यथेन्धनम् ॥ वादार्थमनुपदिष्टोऽप्ययं धर्मः परवादं निराकरोत्येव शोधनादिकार्यार्थमुपादत्तोऽग्निर्यद्यपि दाहाद्यर्थो न भवति तथापि दहनस्वभावेनेष्टं कार्यमनुविदधान इन्धनमपि दहति ॥] १५ ॥

२९१

§ ३६. कथं पुनरेष धर्मः श्रद्धावतः सन्तान उपजातः परवादान्दहति । उच्यते ।

जानाति य इमं धर्मं[4] प्रीतिरन्यत्र तस्य न ।
धर्मोऽयमात्मनस्तेन नाशद्वारमिवेक्ष्यते ॥१६॥[5]

§ ३७. सद्धर्मतत्त्वदर्शनामृतरसास्वादनेन हि दर्शनान्तररसस्यासन्तोषकरत्वान्न स तदन्येषु सर्वेषु दर्शनेषु प्रीयते । आचार्य आस्वादित सद्धर्मामृतरसस्येव बुद्धिमतो जनस्य मनः सन्तोषकरं वचनमाह—

धर्मोऽयमात्मनस्तेन नाशद्वारमिवेक्ष्यते ॥

§ ३८. पुनरनुत्पादेन विनाशदर्शनाद्धर्मोऽयं नैरात्म्यधर्मावगन्तृसन्ताने सर्वासद्दर्शनविनाशहेतुरित्याचार्यस्य दृश्यते । अयमनुपलम्भात्मक इति न कस्यचिदपि विनाशहेतुरिति नाशद्वारमिवेत्युच्यते अथ वोपदिष्टधर्माभिप्रायान्नाशद्वारमिवेत्युच्यते । निर्वाणं ह्यात्यन्तिको विनाशः । तदनुसारि द्वारं विमोक्षद्वारं शून्यतावगमात्मकम् । उपदिष्टोऽपि धर्म आचार्यस्य तादृशो दृश्यते । यथार्थधर्मस्वभावावगमेन ज्ञानाच्छ्रद्धावतो दर्शनान्तरे नाभिरुचिरेषमागमधर्मावगमे नान्यत्र प्रीतिरित्यभिप्रायः ॥१६॥

---

१. T. पात्रेषु ।

२. T. तथाहि ।

३. S. वादार्थ उपदेष्टव्य ।

४. T.

५. V. धर्मोऽयं येन विज्ञातो भवेत् सोऽन्यस्य न प्रियः ।
विनाशद्वारवत्तेन दृष्टो धर्मोऽयमात्मनः ॥

२६२

§ ३६. अथार्याणामपि किमेष उत्रासहेतुर्न भवतीति चेत्। आत्मस्नेह-निवृत्तेः। यस्यात्मस्नेहस्तस्यतदनुकूला वस्तुदृष्टिरिष्टा न तदनुकूला नैरात्म्यदृष्टिः।

तत्त्वतो नैरात्म्यमिति यस्यैवं वर्तते मतिः।
तस्य भावात्कुतः प्रीतिरभावेन कुतो भयम् ॥[1]१७॥

§ ४०. तत्त्वतो नैरात्म्यमिति यस्यैवं वर्तते मतिः। आर्यस्य।
तस्य भावात्कुतः प्रीतिरभावेन कुतो भयम् ॥

यस्य बाह्यस्यान्तरस्य च भावस्य स्वरूपापरिकल्पनया न कश्चिद्भावः स्वभावेनास्तीत्यभिप्रायो वर्तते कुत्र तस्याभावदर्शनेन तस्मान्नैरात्म्य [दर्शना] भयं कुतो [वा] भावदर्शनात्परिसन्तोषः। तस्मादेव तयोरनुरागस्य प्रतिघस्य चाभाव इति। भावदर्शनेऽनुरागा भावान्नैरात्म्यदर्शनेऽपि प्रतिघाभावात्। तस्माद्भयमनाचरन् निर्विवादोऽयं निर्वाणनगरीं सुखेन गच्छति। तस्मान् निर्वाणं परमं स्थानमिति तन्नैरात्म्यं न तस्य भावहेतुर्भवति ॥१७॥

२६३

§ ४१. भावदर्शनाभिनिविष्टास्तीर्थिका निर्वाणे प्रपातसंज्ञिनो निर्वाल्लो-कस्योच्छेदं कुर्वन्तोऽनन्तदुःखहेतुभावदर्शनयोगगताना जनानामपर्यन्तदुःखबीज-भूता भवन्ति। तस्मात्—।

बीजभूताननर्थस्य विलोक्य तीर्थिकान् बहून्।
धर्मकाये जने कस्य करुणा नैव जायते ॥[2]१८॥

२६४

§ ४२. कस्मात्पुनः सत्त्वाः कुशलान्तराशया अपि भूयसा तीर्थिकानां मतमनु-बन्धन्ति न तु सौगतानामिति। तस्य सूक्ष्मत्वात्। यथा च सौगतानामयं धर्मः सूक्ष्म एव तदन्येषाञ्चायुक्त एव तथा प्रतिपादयन्नाह—

शाक्यैरचेलकैर्विप्रैस्त्रिभिश्चित्तेन चक्षुषा।
कर्णेन गृह्यते धर्मः सूक्ष्मस्तत्समयो मुनेः ॥१६॥[3]

---

१. V. अनात्मचिन्तातत्त्वेन तस्माद्यस्य सता भवेत्।
सता कस्य भवेत् प्रीतिरसता च भयं कथम् ॥

२. V. अनर्थबीजभूतंस्तांस्तां दृष्ट्वा तीर्थिकान् बहून्।
धर्मकामे जने कस्य कृपा नाम न जायते ॥

३. V. शाक्येन चेतसा धर्मो नग्नकेन तु चक्षुषा।
श्रुत्या गृहीतो विप्रेण मुनिप्रोक्तस्ततः शिवः ॥

§ ४३. विप्रा हि पाठं सारं कुर्वन्ति । स तेषां कर्णविषयः अचेलका हि शौचाचाररहितत्वाद्वर्धमान देहदुर्गन्धपङ्काश्चेलस्नानशाटिकारहिता हिमवातसूर्य-केशलुञ्चनादिदुःखाधारभूताः । तेषां स आचारो दर्शनेनावगन्तव्यः । तस्मात्तेषां धर्मश्चक्षुषा विज्ञेयः । शम्यास्तु सर्वभावनिःस्वभावत्वदर्शनमूर्योद्भासितचित्तसन्तानाः समस्तासद्दर्शनभीता उन्मूलितगहनाविद्यातिमिराः संस्कृतं स्वप्नेन्द्रजाल मायायुवति[1] प्रतिबिम्बनिर्माणसमं पश्यन्तो निखिल क्लेशमलायाकरणेन निर्मलभूतचित्तसन्तानाः समाहिताश्चैव निर्णेतव्याः । तस्मात्तेषां कुशलभावना मनोविज्ञानेनावगंतव्येति मुनेः समयः सूक्ष्मः । तस्मादनिश्चयेन पुण्यकामोऽपि जनो न सौगते धर्मे प्रवर्तते ॥ १९ ॥

२९५

§ ४४. अत्राह । यदि स्थूलबुद्धित्वाल्लोको वाह्योपासने प्रवर्तते अथेहाप्येव मनुविधीयताम् । न बाह्यं कार्यमनुविधीयते तथा हि—।

ब्राह्मणानां यथा धर्मः प्रायेण वाह्य उच्यते ।
नग्नकानां तथा धर्मः प्रायेण जड़ उच्यते ॥२०॥[2]

§ ४५. ब्राह्मणा मन्त्रजपदानहोममङ्गलप्रायश्चित्तादिभिः कार्यैरन्येभ्यो लाभसत्कारादीच्छया बाह्यमिच्छन्ति । तेषां धर्मः प्रायेण बाह्यः । बाह्यप्रधान इत्यर्थः । अयं धर्मो मोक्षकामाणां निषिद्धः । संसारानुकूलत्वात् । यथा मोक्ष-पर्यन्तोच्छेदकत्वेन ब्राह्मणानां प्रायेण बाह्यो धर्मो मोक्षकामैर्नाचरितव्यस्तथा नग्नकानामपि [illegible] इति नाचरितव्यः । अतएवमुपदेशो नानुविधीयते ।। २० ॥

२९६

§ ४६. यस्मादेषां ब्राह्मणानां धर्मो बाह्यप्रायस्तस्माल्लोकस्य प्रायेण— ।

विद्याग्रहणतः श्रद्धा विप्रेषु जायते यथा ।
कृपा क्लेशग्रहणतो नग्नेषु जायते तथा ॥ २१ ॥[3]

---

१. तुलनार्थम्—MV. पृ. ४५, ४६, ४६३.

२. V. ब्राह्मणानां यथा धर्मः क्रिया प्रायः प्रकीर्तितः ।
निर्ग्रन्थानां तथा धर्मो जड़प्रायः प्रकीर्तितः ॥

३. V. यथैव वेदग्रहणे भक्तिर्विप्रस्य जायते ।
निर्ग्रन्थस्य तथा क्लेशग्रहणे जायते मतिः ॥

§ ४७. यथा पाठक्रियामात्रेणोल्लसितचित्तस्य लोकस्य [illegible] द्धा जायते तथा क्लेशग्रहणात्केशलुञ्चनादिदेहपरिखेदादचेलकेषु कृपा जायते ॥ २१ ॥

२६७

§ ४८. एषां शरीरपरिक्लेशदुःखानुभवो धर्मनिमित्तं भवतीति । नेदं सम्भवति । दुश्चरितफलादिति प्रतिपादनात् ।

क्लेशः कर्मविपाकेण यथा धर्मो न जायते ।
जन्मकर्मविपाकेण तथा धर्मो न जायते ॥ २२ ॥[१]

§ ४९. क्लेशः कर्मविपाकेण यथा धर्मो न जायते । इत्याह । यथा नग्नचारिणामिह दुःखानुभवो नरकदुःखानुभववद्धर्म निमित्तं न भवति ब्राह्मणानामपि । जन्मकर्म विपाकेण तथा धर्मो न जायते ॥ २२ ॥

२६८

§ ५०. यदि कर्म विपाकश्चक्षुरादिवद्दुःखं जन्म च न धर्मस्तर्हि को धर्म इति । उच्यते— ।

धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागताः ।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम् ॥२३॥

§ ५१. धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः । हिंसा परापकारापन्नत्वात्सत्त्वस्यापकारचिन्ता तत्समुत्क्षिप्तं कायकर्म वाक्कर्म च । अहिंसा तद्विपरीतमुखेन दश कुशलकर्मपथाः । यदपि यदपि परोपकारकं तत्सर्वमप्यहिंसान्तः संगृहीतम् । तथागता हि धर्मं समासतः संक्षेपतः सैवाहिंसेति प्रतिपादयन्ति ।

§ ५२. शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम् । या स्वभावशून्यतोच्यते तदेव बुद्धा भगवन्तो निर्वाणं वर्णयन्ति । अहिंसा शून्यता चेति तद्धर्मद्वयं स्वर्गविमुक्तिप्रायकम् । तस्मात्

केवलं तदिहोभयम् ।

---

१. V. क्लेशकर्म विपाकेन यथा धर्मो न जायते ।
जन्म कर्म विपाकेन तथा धर्मो न जायते ॥

२. MV. पृ० ३५२

केवलमिति परिशुद्धम् । तथागतप्रतिपादितेऽस्मिन्नेव धर्मद्वयमिदं परिशुद्धमुपलभ्यते नान्यत्रेति स्वपरात्मनोः स्वर्गस्य विमुक्तेश्च सुखं सम्यगुत्पादयितुकामेन प्रत्येतव्यम् ॥ २३ ॥

२९९

§ ५३. कस्मात्पुनरेषां बाह्यानां सुगतशासनमिदं पश्यतामपि धर्मद्वयेऽस्मिन्नादर इति । स्वपक्षरागात् । तथा हि— ।

स्वपक्षः सर्वलोकस्य जन्मभूमिरिव प्रियः ।
तन्निवृत्तिकरो हेतुर्भवेत्केन तव प्रियः ॥२४[1]॥

§ ५४. स्वपक्षरागोऽनादिसंसारादभ्यस्तः । स च स्वजन्मस्थानवल्लोकेन परित्यक्तुं न शक्यते । तस्मात् स्वदर्शनाभिनिवेशेन बालास्तथागतधर्मेऽस्मिन्न प्रवर्तन्ते । पण्डितैस्तु स्वजन्मभूमेरपि व्यसनहेतुभूताया आशा प्रहाय विशुद्धत्रैभवं [illegible]न्ति । यथेदं तथा स्वरागपक्षं प्रहाय पक्षान्तरेऽपि गुणवति मनः प्रवर्तयितव्यम् ॥ २४ ॥

३००

§ ५५ तस्मादेवमपक्षपातिना— ।

ग्राह्योऽन्यतोऽपि युक्तोऽर्थःश्रेयस्कामेन धीमता ।
ऊर्ध्वमर्को नेत्रवतां सर्वसाधारणो ननु ॥२५[2]॥

योगाचारे चतुःशतके दृष्टिविप्रतिषेधभावानां सन्दर्शनं द्वादशं प्रकरणम् ॥१२॥

§ ५६. बुद्धिमान् ह्यात्मीयमिव चेतसा यत्र क्वापि सुभाषितमुपलभेत तत् तस्मादाद्यात् । न क्वापीह धर्मे मात्सर्यं वर्तते । सर्वत्र समरूपत्वात् यथा सर्वत्रानुरागप्रतिघविर[illegible] सूर्यः सर्वेषां चक्षुष्मतां साधारणस्तथायमपि धर्मो यदि सिद्धया समाप्यते स्ववर्गस्य परवर्गस्य च सर्वस्यैवोपकारकः । तस्मादेवं विदित्वा श्रद्धावतायं धर्म आत्मीयः कर्तुं युक्तः ॥ २५ ॥

---

१. V. स्वपक्षः सर्वलोकस्य प्रियः स्याज्जन्मभूमिवत् ।
निवृत्तिहेतुस्ते तस्य येन दुःखाय जायते ॥

२. V. परस्मादपि युक्तार्थं धीमानभिसमीप्सते ।
अर्कबिम्बं हि सामान्यं सर्वस्याक्षीमतो न किम् ॥

त्रयोदशं प्रकरणम्

इन्द्रियार्थ प्रतिषेधभावनासंदर्शनम्

३०१

§ १. इह ग्राह्योऽन्यतोऽपि युक्तोऽर्थः श्रेयस्कामेन धीमता । इति १२. २५ यदुक्तं तत्र यो धीमता ग्राह्यो युक्तोऽर्थः स पुनः क इति कथ्यताम् ।

उच्यते बाह्याध्यात्मिकाः सर्वे भावाः स्वभावेन निरात्मका दृश्यन्ते । यदि सर्वेषां भावानां स्वभावेनाभाव इति । नेदं प्रत्येतुं शक्यते । नास्त्यसतां खरविषाणादीनां प्रत्यक्षत्वं घटादीना नीलादीनाञ्च प्रत्यक्षत्वमस्त्येवेति । तस्माद्घटादयः सर्वे भावा सस्वभावा एवेति ।

नैतद्युज्यते । तथाहि—

*** सर्व एव घटोऽदृष्टो रूपे दृष्टे हि जायते ।**
ब्रूयात्कस्तत्त्वविन्नाम घटः प्रत्यक्ष इत्यपि ॥१॥

§ २. अपि शब्देन तदुपादाननीलादिरपि प्रत्यक्ष इति कस्तत्त्वज्ञो ब्रूयात् । घटस्य द्रव्याष्टकत्वात् ।[१] चक्षुषा ह्येक रूपं दृश्यते न गन्धादि । विषयभेदात् । तस्मान्न सर्वो घटश्चक्षुषा दृष्ट इति ॥१॥

३०२

§ ३. यथा यथोक्तेन न्यायेन घटादीनां प्रत्यक्षत्वं न युज्यते एवमिन्द्रियान्तरेण परिच्छेद्यानां प्रतीत्य प्रज्ञापयितव्यानां (?) घ्रातव्यानां स्वादयितव्यानां स्प्रष्टव्यानां च प्रत्यक्षत्वं निराकर्तुमाह—

एतेनैव विचारेण सुगन्धि मधुरं मृदु ।
प्रतिषेधयितव्यानि सर्वाण्युत्तमबुद्धिना ॥२॥

§ ४. सुगन्धीतीदं नासिकापरिच्छेद्यं जातिकुसुमपद्मोत्पलचन्दनादि निखिलं नासिकेन्द्रियविषयमुपलक्षयति । रूपादिदर्शनं विना कारागारगतगन्धमात्रग्रहणात् । एवं मधुरमितीदं शर्करालवणनिम्बादि सर्वं रसनेन्द्रियविषयमुपलक्षयति । मृद्वितीदं दारु (?) कम्बलसिकतापाषाणादि सर्वं कायेन्द्रियविषयमुपलक्षयति । तेऽपि

---

१. द्रव्याष्टकम्—चत्वारि महाभूतानि, चत्वारि च उपादायरूपाणि ।

द्रव्याष्टकोपादाना इति यथास्वमिन्द्रियैरेकैक विषयतया गृह्यन्ते न सर्वथेति जाति कुसुमशर्करादारु (१) कम्बलादीन्यात्मनः प्रत्यक्षाणीतिकस्तत्त्वज्ञो ब्रूयात्। शब्दप्रतिषेधः पश्चाद् (१३-१८-२०) विस्तारतो व्याख्यास्यते परम्।

३०३

§ ५. अथ यदि घटो रूपाद्भिन्नो रूपं तं व्याप्यवर्तत इति रूपदर्शनेन सर्वो घटो दृश्यतेति चेत्। इदमप्यसारमिति प्रतिपादयन्नाह—

यदि दृष्टेन रूपेण दृष्टः सर्वः स जायते ॥
दृष्टमदृष्टरूपेण किमदृष्टं न जायते ॥३॥

§ ६. यदि दृष्टेन रूपमात्रेणादृष्टो अपि सर्व एव घटो दृश्येतादृष्टेन घटेन दृष्ट रूपं किमदृष्टं न जायते। अथवेदमर्थान्तिरम्। घटो द्रव्याष्टकोपादानकोऽपि यद्येकेन द्रव्येण रूपेण कृत्स्नो दृष्टः कल्प्यते तैस्तावदपृथगवस्थितं तदेव रूपं तदन्येननादृष्टेन द्रव्यसप्तकेनादृष्टमिति किं न कल्प्यते। तस्माद्रूपमेव न प्रत्यक्षमिति घटस्यापि प्रत्यक्षत्वं न युक्तम् ॥३॥

३०४

§ ७. अथ मन्यते यदि यथोक्तेन विचारेण घटस्य प्रत्यक्षत्वं न सम्भवति घटरूपं तु तावत्प्रत्यक्षम्। तस्मात्परम्परया घटोऽपि प्रत्यक्ष एव जायत इति।

नेद भवति। रूपस्य प्रत्यक्षत्वे तत्तथोच्यते। न तु रूपस्य प्रत्यक्षत्वं सम्भवतीति प्रतिपादयन्नाह—

रूपस्यैव केवलस्य प्रत्यक्षत्वं न विद्यते।
अंशः परश्चापरश्च मध्यमश्चास्ति तस्य यत् ॥४॥

§ ८. अनीप्सितगन्धादिसम्बन्धाभिधानस्य केवलस्य रूपस्यापि कर्णे परापरमध्यांशानां दर्शनात् प्रत्यक्षत्वं न युज्यते। तेषामपि परापर मध्यांशानां पुनरन्ये परापरमध्यांशाः तेषामप्यन्ये तेषामप्यन्य इत्येवं कर्णे पश्चाद्रूपमापरमाण्वन्ताद्वर्तते ॥४॥

---

१. V. रूपे दृष्टे यतः सर्वमेतदृदृष्टं भविष्यति।
रूपेऽदृष्टे कुतो दृष्टमदृष्टं नैव जायते ॥

२. V. रूपस्य केवलस्यैव प्रत्यक्षत्वं न जायते।
कुतस्तस्य बहिर्भागः कुतो मध्यं कुतोऽन्तरम् ॥

३०५

§ ९. कल्प्यमानस्य— ।

अणोरंशोऽस्ति नास्तीति विचारोऽत्रापि वर्तते ।
तस्मात्साध्येन साध्यस्य सिद्धिर्नैवोपपद्यते ॥५॥[1]

§ १०. अणोरपि तस्य पुरः पश्चाद्दिगंशभेदात्परापरमध्यांशभेदाच्च अंशोऽस्ति नास्तीति विचारोऽत्रापि वर्तते ।

यदि तत्र पुरः पश्चादंशभेदः स्यात्तदा घटवत्तस्य परमाणुत्वहानिः । अथ न [illegible] तस्य नास्त्यस्तित्वम् । अतः कुतस्तस्य प्रत्यक्षत्वसम्भवः ।

तस्मात्साध्येन साध्यस्य सिद्धिर्नैवोपपद्यते ॥ तस्मादेवं प्रत्यक्षत्वमसिद्धं नोपपद्यते तदेवं प्रत्यक्षत्वमसिद्धं साध्यभूतमिति साध्यम् । भावानां सत्त्वभावत्वं त्वन्याभ्युपगमसिद्धं नोपपद्यते ॥५॥

३०६

§ ११. अन्यच्च । रूपवदिन्द्रियग्राह्योऽर्थ परिकल्प्यते—

सर्वोप्यवयवो भूत्वा जायतेऽवयवी पुनः ।
तस्माद्वर्णस्य वचनमप्यत्र नैव विद्यते ॥६॥[2]

जायतेऽवयवी पुनः तस्माद्वर्णस्य वचनमप्यत्र नैव विद्यते ।

§ १२. घटः खल्ववयवं कपालमपेक्ष्यावयवी । कपालावप्यात्मनोऽवयवमपेक्ष्यावयविनौ । एवं परमाणुपर्यन्तं योजनीयम् । सोऽपि द्रव्याष्टकमपेक्ष्य पुरः पश्चान्मध्यञ्चेत्यंशान् वापेक्ष्य पुनरवयवीति कुत्रापि स्वरूपेणावयवत्वमवयवित्वं वा नास्ति । तस्मान्न घटादीनां प्रत्यक्षत्वम् । यथा परमाणोर्विचारस्तथानन्तनामगतस्य वर्णस्यापि । परमाणुवदसिद्धेः ।

तस्माद्वर्णस्य वचनमप्यत्र नैव विद्यते ॥

वर्णस्य वचनमपि न सम्भवतीत्यभिप्रायः । एकप्रकारेण घटादीनामभावे तेषां वाचको वर्णोऽपि न सम्भवति । अर्थाभावे ज्ञानवाचकयोः प्रवृत्त्यसम्भवाद् ।

---

१. V. अणोरंशोऽस्ति नास्तीति विचारस्तत्र वर्तते ।
तस्मात्साध्येन साध्यस्य सिद्धिर्नैवोपपद्यते ॥

२. V. सर्वेभ्योऽवयवेभ्यो हि जायतेऽवयवी पुनः ।
उक्तानामपि वर्णानां सत्तेयं तन्न विद्यते ॥

वर्णस्य वचनमप्यत्र नैव विद्यते ॥६॥

३०७

§ १३. ये तु रूपायतनं वर्णसंस्थानात्मना द्विधा व्यवस्थाप्य[1] तद्द्वारा घटस्य प्रत्यक्षत्वं कल्पयन्ति तान्प्रति वक्तव्यम्। इह संस्थानमिदं कल्प्यमानं वर्णादन्यत्वेनानन्यत्वेन वा कल्प्यते। तत्र तावद्— ।

वर्णादन्यत्संस्थानं चेत्संस्थानं गृह्यते कथम्।
अन्यदथ कायेन वर्णोऽपि किं न गृह्यते ॥७॥[2]

§ १४. वर्णादन्यत्संस्थानं चेत्संस्थानं गृह्यते कथम्। नीलादिवर्णो हि चक्षुरिन्द्रियविषयः। यदि तस्मात्संस्थानम् [अन्य] भूतं वर्णाद्भिन्नमिति शब्दादिवन्न चक्षुर्ग्राह्यं भवेत्। गृह्यते तु वर्णवच्चक्षुषेति न तस्मादन्यत्। यथा भिन्नेषु नीलपीतादिष्वन्यतरद्गृहीतेऽन्यतरद्गृह्यते तथा वर्णादन्यद्रूपं न गृह्यते। अनन्यदथ कायेन वर्णोऽपि किं न गृह्यते।

§ १५. यदि यथोक्तदोषजिहासया संस्थानं वर्णादन्यत् कल्पितम्। तथा सति यथा कारागारे कायेन दीर्घादि गृह्यते तथा तदभेदात्संस्थानवद्वर्णोऽपि किं न गृह्यते ग्राह्योऽपि न गृह्यते तस्मात् संस्थानस्य ग्रहणेऽप्यग्रहणात् संस्थानं वर्णान्नान्यत्। न च तत्त्वान्यत्वकल्पनातोऽप्रतीतौ शक्यं कल्पनान्तरं स्थापयितुम् तस्माद्वर्णवत् संस्थानमपि न युक्तम्। तदभावाच्च न कस्यचिदपि प्रत्यक्षत्वमिति सिध्यति ॥७॥

३०८

§ १६. अत्राह विद्यत एव रूपायतनम्। तद्धेतुसद्भावात्। इह रूपहेतुश्चत्वारि महाभूतानि। तानि तावद्विद्यन्ते। तेषां सद्भावेन तेषां फलमिति रूपायतनमपि विद्यत इति उच्यते। इदमपि न सम्यगिति प्रतिपादयन्नाह—

रूपदर्शननिर्मुक्तं न दृष्टं रूपकारणम्।
एवं चेदुभयं कस्माच्चक्षुषैव न गृह्यते ॥८॥[3]

---

१. रूपं द्विधा, अस्य रूपं द्विधा वर्णः संस्थानं च
AK. १.१०: MVT. १०१, DSn. ६१७.

२. संस्थानं वर्णतो भिन्नं तद्वर्णग्रहणं कथम्।
अथाभिन्नं शरीरेण [illegible] कथम्॥

३. V. दृष्टो न हेतु रूपस्य रूपदर्शनवर्जितः।
सत्येवमुभयं चक्षुरेव गृह्णाति नो कथम्॥

§ १७. द्रव्याष्टक सहभाव नियतमहाभूत चतुष्टयविनिर्मुक्तं रूपं नोपलभ्यते। रूपायतनविनिर्मुक्तोऽपि रूपहेतुर्नोपलभ्यते। रूपायतनं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यम्। रूपहेतुस्तु कायेन्द्रियग्राह्यः। तस्माद्यदि रूपहेतुरिति किञ्चित्स्वरूपेण सिध्येत्तदा रूपमपि स्वरूपेण सिध्येत् रूपहेतोरूपाद्यः सिद्धो भेदो न तस्य सम्भवोऽपि। तस्माद्रूपहेतोरभावे निर्हेतुकं रूपमपि न सिध्यति। अथाभेदावस्थितताद्रूपहेतो रूपं भवतीति मन्यते। तदपि न सम्भवति।

एवं चेदुभयं कस्माच्चक्षुषैव न गृह्यते॥

रूपहेतोरपि रूपभेदाच्चक्षुरिन्द्रियेण हेतुफलयोरुभयोरपि ग्रहणं जायेत। न चेदं सम्भवति। इन्द्रियाणां भिन्नविषयत्वाल्लक्षणाभेदाच्च॥८॥[1]

३०६

§ १८. तदेव प्रतिपादयन्नाह—।

कठिना दृश्यते भूमिः सापि कायेन गृह्यते।[2]
तेन हि केवलं स्पर्शो भूमिरेषेति कथ्यते॥९॥[3]

§ १९. धृतिकर्मणा[4] आश्रय वस्तुन्यवस्थानादाश्रयत्वेन काठिन्येन "कठिना दृश्यते भूमिः सापि कायेन गृह्यते।" तस्याः काठिन्यस्य कायेन्द्रियग्राह्यत्वात्। येनैतदेवं तेन हि केवलं स्पर्शो भूमिरेषेति कथ्यते। रूपायतनं तु चक्षुरिन्द्रियग्राह्यम्।

---

१. MK. ४.१-४

२. भूमिरित्यागमो दृष्टः स शरीरेण गृह्यते।
मृतपिण्डस्य ततः कोऽपि स्पर्शो भूमिरितीरितः॥

३. काठिन्यं दृश्यते भूमेस्तच्च कायेन गृह्यते। भूमेरर्थः काठिन्यम्, विभंग ८२, चत्वारि महाभूतानि पृथिवीधातुरब्धातुस्तेजोधातुर्वायुर्धातुः पृथ्वीधातुः कतमः। खक्खहत्वमिति विस्तरः। तेषां च स्प्रष्टव्यत्वादिति तेषां च खक्खलत्वादीनां स्प्रष्टव्यत्वायस्मात्तानि स्प्रष्टव्यानि। वर्णाद्यस्तु द्रष्टव्या स्रोतव्या घ्रातव्याः स्वादयितव्याः कथं गम्यते स्प्रष्टव्यानि तानित्याथ न हि काठिन्यादीनि चक्षुरादिभि र्गृह्यन्ते। किं तर्हि कायेन्द्रियेणैव। इत्यतोऽवगम्यते स्प्रष्टव्यानि तानीति। स्यान्मतं तेऽपि वर्णाद्यः स्प्रष्टव्या। इत्यत आह नापि वर्णादयः कायेन्द्रियेण। किं गृह्यते इति प्रकृतम्, AK–AKV.। १.३५, पृ० ६६, MV, pp. ६६-६७.।

४. AK. १. १२।

§ २०. तस्मान्नैवं हेतुफलयोरभेदो लक्षणभेदाद्ग्राहकभेदाच्च भेदेऽप्यहेतुवाद:[1] । न च तत्वान्यत्वविरहितस्य कस्यचिदप्यस्य भावस्य च रूपेण सद्भाव कल्पयितुं युज्यते । तस्मान्नास्ति रूपस्य हेतुसद्भाव: । रूपस्य हेत्वाभावे च न रूपं स्वरूपेणास्ति सिद्धम् । तस्मादुक्तं भगवता—

ये मां रूपेण अद्राक्षुर्ये मां घोषेण अन्वयुः ।
मिथ्याप्रहाणप्रसृता न मां द्रक्ष्यन्ति ते जनाः ॥

अथ कथं द्रष्टव्य इति चेद्

धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः ।
धर्मता चाप्यविज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्[2] ॥

इति ॥९॥

३१०

§ २१. अत्राहु: केचित् । एकैको घट: स्वरूपेणाद्रष्टव्योऽपि न खलु न द्रष्टव्य: । द्रष्टव्यत्व सम्बन्धाद्द्रष्टव्यो भवेत् । द्रष्टव्यभूतश्चेति प्रत्यक्षो भवेदिति । इदमपि न युक्तमिति प्रतिपादयन्नाह— ।

द्रष्टव्यत्वेन जातेन नास्मिन् कश्चिद्गुणो घटे ।
द्रष्टव्यत्वजातिवत्तत्सद्रूपोऽपि न विद्यते[3] ॥१०॥

§ २२. यदि द्रष्टव्यत्वमभिव्यक्तं विशेषणभूतं वोभयथापीह द्रष्टव्यत्वं निष्प्रयोजनम् । इह द्रष्टव्यमिदं परिकल्पय [ज्ञानं] द्रष्टव्यस्यार्थस्य स्वरूपमद्रष्टव्यस्यार्थस्य वा स्वरूपं कल्प्यते । यदि तावद्द्रष्टव्यस्य स्वरूपं तदा किं तेन परिकल्पितेन । यदर्थं परिकल्प्यते [तस्य] तद्विनापि भावादेवेति न युक्ता कल्पना । अथाद्रष्टव्यभूतस्यपि द्रष्टव्यत्वं कल्प्यते । तदपि न युक्तम् । अशरीराणामपि द्रष्टव्यत्वप्रसङ्गाज्जातेन द्रष्टव्यवेनास्य विरोधाच्च द्रष्टव्यत्वं न जायते ।

---

१. मज्झिमनिकाय, १.४०८ ।

२. MV. पृ० ४८८, वज्रच्छेदिका, पृ० ४३, BCP. पृ० ४२१, JRAS, १९०६, पृ० ९४८ ।

३. V. जातमात्रे घटे दृष्टे गुणः कश्चिन्न भासते ।
एवं जातस्य दृष्टस्य सत्स्वरूपं न विद्यते ॥

§ २३. द्रष्टव्यत्वजातिवत्तत् ।

यथा द्रष्टव्यस्याद्रष्टव्यस्य च घटस्य सर्वथा द्रष्टव्यत्वं न युज्यत इति जाति-र्न सम्भवति तथा द्रष्टव्यभूतो घटः ।

सद्रूपोऽपि न विद्यते

असतो घटस्य द्रष्टव्यत्वकल्पनापि न युक्तेर्तादमयुक्तम् ॥१०॥

३११

§ २४. अत्राह । सन्त्येव प्रत्यक्षा रूपादिविषयास्तद्ग्राहकचक्षुरादीन्द्रिय-सद्भावात् । सद्भूतान्येतानीन्द्रियाण्यवश्यं स्वविषयेषु प्रवर्तन्त इत्यभिप्रायः । यत्र तेषां प्रवृत्तिः सम्भवति ते रूपाद्यर्थाः प्रत्यक्षाः । उच्यते । स्यू रूपादयोऽर्था यदीन्द्रियाणां परिच्छेत्तुं शक्तिः स्यात् । नैव त्वस्ति । कथमिति चेत् । इह चक्षु-रादीनि पञ्च सामान्यतो भौतिकानीत्युपदर्श्यते । तेषां कार्य [तु] विषयभेदेन भिद्यते । तथा हि चक्षुषा रूपमेव दृश्यते न शब्दः श्रूयते । कर्णेनापि शब्दः श्रूयते । न रूपं दृश्यते । यदैवम्— ।

भौतिकमक्षि कर्णश्च दृश्यतेऽक्ष्णापरेण न ।
नूनं कर्मविपाकं तदचिन्त्य मुक्तवान्मुनिः ॥११॥[1]

§ २५. भौतिकमक्षि कर्णश्च दृश्यतेऽक्ष्णापरेण न । तदोपपत्ति विरुद्धकार्य-सम्भवात्कुतश्चक्षुरादीनां स्वरूपकल्पना । तुल्येऽपि भौतिकत्वे विषयग्रहणभेदः कल्पयितुं न युज्यते । चक्षुरादीनां सद्भावो विषग्रहणकर्मणानुमीयते । तदपि विरोधेन न सम्भवतीतीन्द्रियसद्भावेन विषयाणां प्रत्यक्षत्वं न युक्तम् । यद्येवं चक्षुरादीनि न सम्भवन्ति ततः कथमेषां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां कर्मविपाकस्वरूपव्यवस्था । किमस्माभिरेषां विपाकस्वरूपं प्रतिसिद्धम् । यदि चक्षुरादीनां प्रतिषेधः साध्यते कथ तेन न तत्प्रतिषिद्धम् । अस्माकं विचारस्यार्थ-स्वभावन्यायतत्परत्वान्नास्माभिरिह भावानां स्वभावसिद्धेन प्रतिषेधेन चक्षुरादिकृतः प्रतीत्यसमुत्पन्नः कर्मविपाकः प्रतिषिद्धः ।

§ २६. यच्चक्षुर्भौतिकमपि रूपमेव पश्यति न शब्दं शृणोतीत्यादि । दृश्यते हीदमपि यस्मादेत देव ।

नूनं कर्मविपाकं तदचिन्त्य मुक्तवान्मुनिः ॥

निःस्वभावानामपि भावानां कर्मफलनियमेन भगवान् कर्मफलविपाकम चिन्त्यमुक्तवान् ॥ ११ ॥

---

१. V. चक्षुर्दर्शनतोऽभिन्नो चाक्षुषं श्रावणं तथा ।
अचिन्त्य कर्मणो नूनं विपाकं प्रोक्तवान् मुनिः ॥

३१२

§ २७. अत्राह। विद्यन्त एव चक्षुरादीनि स्वभावेन। तत्कार्यविज्ञानदर्शनात्। उच्यते। स्याच्चक्षुरादिसद्भावो यदि तत्कार्यं विज्ञानमेव स्यात्। न तु सम्भवति। कथमिति। तत्र तावत्।

ज्ञानं प्रत्ययवैकल्यान्न पूर्वं दर्शनाद्भवेत्।
अथ पश्चान्निरर्थं स्यात्त तीयायां क्रिया वृथा ॥१२॥[1]

§ २८. न तावद्दर्शनात्पूर्वं चक्षुर्विज्ञानं चक्षुषो दर्शनाधिपतिप्रत्यय[2] वैकल्यात्। अथ दर्शनात्पश्चात्कल्प्यते। तदा ज्ञानं निरर्थकम्। यदि विना विज्ञानेन चक्षुषा रूपदर्शनं तदा विज्ञानकल्पना निरर्था।

§ २९. तृतीयायां क्रिया वृथा ॥

तृतीया कल्पना ज्ञानदर्शनयोर्द्वयोर्युगपदुद्भवः...तत्र...न भवति। अनेन दर्शनेन क्रिया निरर्था। विज्ञानदर्शनयोः सहभावे विज्ञानं येन दर्शनेन तुल्यकालं तस्य दर्शनस्यायत्तं भवतोति न युक्तम्। सहभूतयोः सव्येतरयोर्गोविषाणयो[3] रितरदितरायत्तं जायत इति न सम्भवति। तथा च दर्शनेन सहभूतं विज्ञानं दर्शनायत्तं न जायत इति दर्शनं निरर्थमेव।

यदैवं विज्ञानं न सम्भवति तदा क्व तत्सद्भावेन चक्षुरादीनां...सद्भाव—परीक्षेति न तद्युक्तम् ॥१२॥

३१३

§ ३०. [4][अत्राह। न खलु चक्षुः करणरूपम्। किं तर्हि कारकमेव। तस्य कारकभावाभ्युपगमात्। इति यदुक्तं (१३.१२) न तद्युक्तं। एवं कल्पितेऽपि चक्षुर्दर्शनकार्यविरहितमेव भवेत्। कथमिति चेत्। यदि चक्षू][4]

---

१. V. अमितप्रत्ययज्ञानं दृष्टपूर्वं न विद्यते।
अथान्ते ज्ञानवैयर्थ्यं दर्शनंच निरर्थकम् ॥

२. MV. पृ० ७६-७७, Poussin's note, No; ७, विसुद्धिमग्ग (सं० भिक्षु ए० पी० बुद्धदत्त, १९१४) पृ० ४१५—जेट्ठकट्ठेन उपकारको धम्मो अधिपतिपच्चयो...। यं यं धम्मं गरुं कत्वा ये ये धम्मा उपज्जन्ति चित्तचेतसिका ते ते धम्मा तेसं तेसं धम्मानं अधिपतिपच्चयेन पच्चयोति।

३. MV. पृ० १३६, २२४, ५४७

४. S. न स्वीकरोति T.

रूपं[१] पश्येद्द्देशं गत्वा- वा पश्येदगत्वा वा पश्येदुभयथा[२] च[३] दोष इति प्रतिपादयन्नाह— ।

*** पश्येच्चक्षुश्चिराद्दूरे गतिमद्यदि तद्भवेत् ।**
अत्यभ्यासे च दूरे च रूपं व्यक्तं न तच्च किम् ॥१३॥

§ ३१. यदि चक्षु[४]: प्राप्तकारित्वाद्विषयदेशं गच्छेत्तदोन्मिषितमात्रेण न चन्द्रतारकादीनर्थान् गृह्णीयात् । [गतिमतोऽर्थदेशोपग्रहणं][५] तुल्यकालं विप्रकृष्टविषयग्रहणं [च][६] अयु[७]क्तं गतिकालस्य भिन्नत्वात् । पश्यति च चक्षुरुन्मिषितमात्रेण [illegible] । यदि [च][८] प्राप्तकारि चक्षुः स्यात्तदात्यभ्यासेऽपि पश्येदक्षिस्थामञ्जनशलाकां[९] दूरे च व्यक्तदर्शनं स्यात् । न चैतत्सम्भवतीत्ययुक्तमेतत् ॥१३॥[१०]

३१४

§ ३२. अपि च । यदि चक्षुर्गत्वा रूपं[११] पश्यति तत्किं दृष्ट्वा तद्देशं[१२] गच्छत्युताहृष्ट्वा[१३] । उभयथापि दोष इति प्रतिपादयन्नाह ।

*** गतेन न गुणः कश्चिद्रूपं दृष्ट्वाक्षि याति चेत् ।**
द्रष्टव्यं नियमेनेष्टमिति वा जायते वृथा ॥१४॥

§ ३३. यदि रूपं दृष्ट्वा रूपदेशं चक्षुर्यातीति कल्प्यते गतेन तेन गमनेन चक्षुषो न किञ्चित्प्रयोजनम् । विषयदर्शनार्थं चक्षुषो गमनम् । स च विषयः पू[१४]र्वमेवेहस्थेन दृष्ट इति न किञ्चिद्गमनस्य प्रयोजनम् । अथादृष्ट्वा गच्छति ।

---

१. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते, S. स्थः पश्येद्रूपं ।
२. T. S. उभयथा ।
३. T. न तत्र शब्दोऽयं विद्यते ।
४. S. चक्षुषः ।
५. T. ।
६. T. दन् ।
७. T. S. विषयग्रहणयुक्तम् ।
८. S. T. यन् ।
९. T. S. शलाकां वा ।
१०. चक्षुष अप्राप्तविषये दृष्टव्यम्—असम्पत्तवसेना ति अत्तानमसम्पत्तस्स गोचरस्स वसेन । अत्तना विसयदेसं वा असम्पत्तवसेन । चक्खुसोतानि हि रूपसद्देहि असम्पत्तानि । सयं वा तानि असम्पत्तान एव आरम्मणं गण्हन्ति ।—VT. §२८६,६.८, pA. २.५, पृ० ५१–६०, AK. १.४३ AKB AKV with poussin note, NS. ३. १. ४४, NK. पृ० २३ ।
११. T. S. विषयं ।
१२. T. S. किं विषयं दृष्ट्वा विषयदेशं ।
१३. T. ततः किं दृष्ट्वा ।
१४. T. तत्पूर्वमेन ।

तदा दिदृक्षित विषयदर्शनं नियमेन न प्राप्नोति । अदृष्ट्वा ह्यन्धस्येवानभिलक्षित देशगमन।द्रष्टव्यस्य नियमेन दर्शनं न प्राप्नोति ॥१४॥

§ ३४. अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया यदि ।

*** गृह्णीयादगतं चक्षुः पश्येत्सर्वमिदं जगत् ।**
यस्य नास्ति गतिस्तस्य नास्तिदूरं न चावृतम् ॥१५॥

§३५. यो हि मन्यते चक्षुः श्रोत्र[1] मनोऽप्राप्तविषयमित्यागमा[2]दप्राप्त विषयमेव चक्षुरिति तं प्रत्युच्यते । प्राप्तकारितामात्रप्रतिषेधपरत्वादागमस्य तावदविरोधः । क्वचिद्विधेः प्राधान्यं यत्र तस्याविरोधः । क्वचित्प्रतिषेधस्य प्राधान्यं यत्र तदविरोधः[3] । तदत्र वि[4]धेरसम्भवात्प्राप्तकारिताप्रतिषेधमात्रेणाप्राप्तविषयत्वं व्यवस्थाप्यते । विधिमुखेन त्वप्राप्तविषयत्वे कल्प्यमान इहस्थमेव चक्षुः सर्व जगतपश्येत् । यस्य[5] हि गतिर्नास्ति तस्य कुतोदूरम् । समीपस्थोऽपि ह्यनेनार्थोऽगत्वा द्रष्टव्यो [6]विदूरस्थोऽपीति दूरकृतोऽपि विशेषो न स्यात् । यदा चागत्वा पश्यति तदे[7]हस्थमिव विदूरस्थमपि[8] पश्येत् । गतौ हि सत्याभावृते गतिविघातादा[9]वृतं नेक्षत इति युक्तम् । यदा त्वगत्वा द्रष्टव्यं तदावृते गतिप्रतिबन्धाभावादनावृत इव दर्शनं स्यात् ॥१५॥

३१६

§ ३६. यदि च दर्शनस्वभावं चक्षुः स्यात्तदा स्वभावस्य सर्वत्रैवाव्याघातात् स्वरूपमपि पश्येत् । तथा हि लोके— ।

*** स्वभावः सर्वभावानां पूर्वमात्मनि दृश्यते ।**
ग्रहणं चक्षुषः केन चक्षुषैव न जायते ॥१६॥

§ ३७. यथा चम्पकमल्लिकादिषु[10] सौगन्ध्यं पूर्वं स्वाश्रय एवोपलभ्यते पश्चात्तत्सम्पर्कस्तैलादिस्वपि । यथा चाग्नेरौष्ण्यं स्वतोऽवस्थितं[11] तद्योगात्

१. S. श्रोत्रमनो...।
२. AK. १.४३—अप्राप्तार्थान्य अक्षिमनःश्रोत्राणि ।
३. T.S. तद्विरोधः ।
४. T. विचारस्य ।
५. T. यस्यैवं ।
६. T. S. विदूरस्थे ।
७. T. S. तदिह ।
८. T. S दूरमपि ।
९. S. T. विघातादावृतं ।
१०. T. चम्पकोत्पलादि कुसुमानां ।
११. T. S. स्वतो व्यवस्थितं ।

परतो[१]ऽप्युपलभ्यते । एवं यदि चक्षुदर्शनस्वभावं[२] स्यात्तदा स्वात्मन्येव तावद्द[३]-र्शनं स्यात् । कस्मात्पुनश्चक्षुषो ग्रहणं चक्षुषैव न भवति । भावानां स्वभावस्य च स्वात्मन्येव प्रथमतरं विद्यमानत्वाच्चक्षुषैव चक्षुषो ग्रहणं न्याय्यम् । न चक्षुः स्वात्मानं पश्यतीति लोष्टादिवत्[४] परदर्शनमप्यस्य न सम्भाव्यते ॥१६॥

३१७

§ ३८. यस्तु मन्यते न केवलस्य चक्षुषो रूपदर्शनसामर्थ्यमस्ति । अपि तु त्रयाणां [illegible] सामग्र्यां सत्यां रूपदर्शन भवतीति । तदप्यसारम् । यस्मात्— ।

*** चक्षुषोऽस्ति न विज्ञानं विज्ञानस्य न दर्शनम् ।**
उभयं नास्ति रूपस्य तै रूपं दृश्यते कथम् ॥ १७ ॥

§ ३९. चक्षुषस्तावद्विज्ञानं नास्ति । न हि चक्षुर्विषयं जानात्यविज्ञानस्वरूपात् । भौतिकं हि चक्षुः । तस्य जड़त्वाद्विषयबोधो न सम्भाव्यते । एवं "चक्षुषोऽस्ति न विज्ञानम् ।"

§ ४०. नापि विज्ञानस्य दर्शनमस्ति ।[५] विज्ञानं हि विजानाति न तु पश्यति । यदि तु विज्ञानं पश्येत्तदा तस्यापि रूपदर्शनम् स्याद्विज्ञान सद्भावात् । रूपस्य तूभयमपि नास्ति । न विज्ञानमनवबोध[६] स्वरूपत्वात् । नापि दर्शनं रूपालोचनाभावात्[७] । यदा चैव मन्योन्यार्थ विकलानीन्द्रियविषयविज्ञानानि तदा[८] तत्सामग्र्यामपि सत्यां नैव तै रूपं दृश्यत [९]इति सम्भावयितुं शक्यम् ।[१०] रूपदर्शनाङ्गविकलत्वादन्धसमुदायवदित्यभिप्रायः । यदा चैवं रूपस्य [११]दर्शनाभावस्तदा को नामार्हति तत्त्वविद्रूपं दृश्यत इति वक्तुं द्रष्टुं वा ॥१७॥

३१८

§ ४१. यथा च तत्त्व विन्नार्हति रूपं द्रष्टुमेवं शब्दमपि श्रोतुं नार्हति । रूपदर्शनवच्छब्दश्रवणस्याप्यसम्भवा[८]त् । इह यदि शब्दः श्रूयते स श्रवणदेशं

---

१. T. परात्मतो ।
२. T. S. चक्षुषोरदर्शनस्वाभाव्यम् ।
३. T. दर्शनं ।
४. T. खरादिवत् ।
५. T. न तद्रूपवत् । कुतस्तस्य दर्शनम् । तन्नास्तीति गतवन्न पश्यति ।
६. T. S. विज्ञानमववोध ।
७. T. अदर्शनात्मकत्वात् ।
८. T. न तत्र शब्दोऽयं विद्यते ।
९. T. न तत्र गद्यांशो विद्यते ।
१०. T. S. रूपस्यादर्शनासम्भवात् ।
११. T. अभावात् ।

सम्प्राप्तो वा श्रूयेतासम्प्राप्तो[1] वा। यदि तावत्सम्प्राप्तः श्रूयते स श्रवणदेशं व्रजच्छब्दं कुर्वाणो व्रजति[2] निःशब्दो वा। तत्र यदि पूर्वः कल्पस्तदा—

*** न वक्ता जायते केन शब्दो याति ब्रुवन् यदि।**
अथ यात्यब्रुवंस्तस्मिन् प्रत्ययः केन जायते ॥१८॥

§ ४२. ततश्च वक्तृत्वाद्वेवदत्तवच्छब्दोऽ[3]सौ न भवति। अथाब्रुवन् याति तदा तस्मिञ्छब्दे निःशब्दे व्रजति शब्दोऽयमिति कस्यावसायो भवेत्। न चागृहीतस्यास्यस्तित्वमिति न युक्तमेतत् ॥१८॥

३१९

§ ४३. किञ्चान्यत्—

प्राप्तश्चेद्गृह्यते शब्दः तस्यादिः केन गृह्यते।
न चैति केवलः शब्दो गृह्यते केवलः कथम् ॥१९॥

§ ४४. यदि श्रोत्रेन्द्रियस्थानं प्राप्तः शब्दो गृह्यते [4]तस्यादिः केन गृह्यते। प्राप्तग्राहित्वाच्छ्रोत्रस्य शब्दस्यादे र्ग्रहणं नास्ति। न चान्यदिन्द्रियं तस्य ग्राहकं सम्भवतीति [5]नैव केनाचदस्यादि र्गृह्यते। त[6]तश्चागृह्यमाणत्वाच्छब्द एवासौ न[6] भवतीत्यभिप्रायः। नवद्रव्यकत्वाच्च[7] [8]परमाणोर् "न चैति केवलः शब्दः"

भवता च शब्दमात्रमेव श्रोत्रेण गृह्यते न गन्धादय इति न युज्यते। यद्वा[9] शब्दस्याग्रहणमस्तु। यद्वा गन्धादयोऽपि गृह्यन्ताम्। न चैतदेवमिति न प्राप्तविषयत्वं शब्दस्य ॥१९॥

३२०

§ ४५. अथ यदेतदुक्तं

प्राप्तश्चेद्गृह्यते शब्दस्तस्यादिः केन गृह्यते। इति। यदि तस्यादि र्न गृहीतस्तदा को दोष इति। अयं दोषो यदस्य शब्दत्वमेव विशीर्यते। तथा हि—

यावन्न श्रूयते शब्दस्तावच्छब्दो न जायते।
अशब्दस्यापि शब्दत्वमन्ते तच्च न युज्यते ॥२०॥

---

१. T. श्रूयेत्।
२. T. व्रजन्।
३. T. शब्दो।
४. T. S. न स्वीकरोति।
५. T. भवतीति।
६. T. ततश्चाग्रहीतोऽसौ शब्द एव न।
७. T. एवं नवद्रव्यात्मकत्वात्।
८. S. शब्दपरमाणोर।
९. T. एकधा श्रोत्रेण शब्दस्याग्रहणमस्तु।

§ ४६. यो न श्रूयते सोऽश्रूयमाणत्वाद्गन्धादिवच्छब्द एव न भवति। अथ मन्यसे यदा श्रूयते तदा शब्दो भविष्यतीति एतदप्यसम्भाव्यम्। न हि गन्धादेः पश्चाच्छब्दत्वं दृष्टम्। तद्वदेवास्याप्यशब्दस्य[1] पश्चाच्छब्दत्वमयुक्तमिति ॥२०॥

३२१

§ ४७. एवं तावदिन्द्रियाणां विषयग्रहणासामर्थ्यमुद्भाव्य मनसोऽपि विषयग्रहणासामर्थ्य मुद्भावयन्नाह—

*** वियुक्तमिन्द्रियैश्चित्तं किं गत्वापि करिष्यति।**
एवं सतीह जीवोऽयमनस्कः सदा न किम् ॥२१॥

§ ४८. यदि चित्तं विषयदेशं गत्वा विषय परिच्छिनत्तीति कल्पयते तदयुक्तम्। इहेदं चित्तमिन्द्रियसहितं वा विषयदेशं गच्छेत्केवलं वा। न तावदिन्द्रियसहितं याति। इन्द्रियाणां देव एव सदा सन्निधानात्। गमने च सति देहस्य नारिन्द्रियत्वप्रसङ्गात्। अथ केवलं गच्छति तदापि

वियुक्तमिन्द्रियैश्चित्तं किं गत्वापि करिष्यति।

§ ४९. न हि चक्षुरादीन्द्रियद्वारतिरस्कृतस्यास्य रूपादिदर्शनसामर्थ्यमस्ति। अन्धादीनामपि दर्शनादिसद्भावप्रसङ्गात्। अथापि कथञ्चिद्विषयदेशगमनेनार्थोपलब्धिरस्य परिकल्प्यते। तदाप्यथबोधापर्यवसानत्वादनिवृत्तिः।[2]

एव सतीह जीवोऽयममनस्कः सदा न किम्। अचिन्तक एवात्मा सर्वकालं प्राप्नोति। न चाचिन्तकस्यात्मत्वं[3] सम्भावयितुं युक्तम्। स्तम्भादीनामप्यात्मत्वप्रसङ्गात्[4]।

§ ५०. तदेव युक्त्या विचार्यमाणानामिन्द्रिय [विषयविज्ञानानां सद्रूपा][5] सम्भवात्[6] स्वरूपसिद्धिरसती। यदि ह्येषां स्वरूपसिद्धिः स्यात्तदोपपत्त्या विचार्यमाणा यथास्थितेन स्वरूपेण स्फुटतरमुपलभ्येरन्। न चोपलभ्यन्ते। तस्मात्स्वरूपशून्या इति सिद्धम् ॥२१॥

---

१. S. शब्दस्य।
२. T. S. तदाप्यपर्यवसानत्वादर्थबोधस्याविवृत्तौ सत्याम्।
३. T. S. अचिन्तात्मकत्वम्।
४. T. S. स्तम्भादिवदचिन्तकत्वात्।
५. T. S. विच्छेदो वर्तते।
६. T. अभावात्।

३५२

§ ५१. [1]यदि तह्ये षां स्वभावो नाम नास्ति[2] तत्कथमेषां[3] विशेषपरिच्छेदात्मिका संज्ञा [4][illegible]भेणोपदिश्यते। उच्यते। सत्सु पदार्थेसु तद्विषयपरिच्छेदात्मिका संज्ञा स्यात्[5]। यदा[6] तेषां पदार्थानामसत्वं प्रतिपाद्यते तदा तद्वारा कुतः][7] स्वरूपसिद्धिः स्यात्। कि खल्वेष विषयपरिच्छेदः सर्वथा नास्ति। न नास्तीति। निःस्वभा[8]वस्य भावस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि—

मनसा गृह्यते योऽर्थः पूर्वदृष्टो मरीचिवत्।
सर्वधर्म व्यवस्थासु स संज्ञास्कन्धसंज्ञकः ॥२२॥

§ ५२. इह चक्षुः प्रतीत्य रूपञ्च चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्य निरुध्यमानं सहेन्द्रिय विषयै निरुध्यते। तस्मिन्निरुद्धे पूर्वदृष्टो[9] योऽर्थः स एव पश्चान्मनसा गृह्यते। कथं पुनरसन्निहितस्य ग्रहणं सम्भाव्यत इत्याह [मरीचिवदिति। यद्यपि नाल्पमात्रमपि मरी][10] चिकायां जलमस्ति अपि च हेतुप्रत्ययवशात् प्रवर्तत एव जलाकर संज्ञा एवमविद्यमानं स्वरूपेऽपि पूर्वगृहीतेऽर्थे[11] मरीच्यामिव यद्[12] विज्ञानमुत्पद्यते [illegible]। सर्वधर्मव्यवस्थाकारणत्वाच्च स एव संज्ञास्कंध इत्युक्तस्तथाविधसंज्ञाविशेषसम्प्रयोगात्। संज्ञावशेन च सर्वधर्मव्यवस्था विज्ञातव्या न पुनः पदार्थस्वरूपनिबन्धना स्वभावस्य सर्वथायुज्यनानत्वात् ॥२२॥

३२३

§ ५३. यद्येवमस्ति स्वभावतः संज्ञास्कन्धः। न हि तस्मिन्नसति[13] सर्वधर्मव्यवस्था शक्या कर्तुमिति। उच्यते। सापि हि संज्ञा विज्ञानसम्प्रयुक्तत्वाद् विज्ञानव्यतिरेकेण सती। तदपि च विज्ञानं संज्ञाव्यतिरेकेणासिद्धत्वात् स्वरूपतो नास्ति। इतोऽपि नास्ति।[14] यस्मात्—

*** चक्षुः प्रतीत्यरूपञ्च मायावज्जायते मनः।**
विद्यते यस्य सद्भावः सा मायेति न युज्यते ॥२३॥

---

१. T. यदि एषां स्वभावो नास्ति।
२. T.S. एषा।
३. T. पदार्थविशेष···
४. T. युक्ता।
५. T. S. न स्वीकरोति।
६. T. S. तेषाञ्च।
७. T. S. विच्छेदो वर्तते।
८. T.S. स्वभावस्य।
९.; T. पूर्ववद्दृष्टो।
१०.; S. विच्छेदो वर्तते।
११. T. गृहीतेऽर्थे।
१२. S. यद्विकल्पकम्।
१३. T. ततः
१४. T.; S.न स्वीकरोति।

§ ५४. न हि तद्विज्ञान दुत्पादात्प्रागस्ति यदुत्पत्तिक्रियाश्रयत्वेन प्रवर्तेत । सत्स्वपि चक्षुरादिषु विज्ञानस्य स्वरूपासम्भवात्[१] । उत्पत्तिक्रियाया अप्रवृत्तेरुत्पादो न युज्यते । उत्पद्यते चैतद्विज्ञानमित्यतः किं निश्चेतुं पार्यतेऽन्यत्र मायाधर्मतायाः । उक्तं हि[२] भगवता—

§ ५५. तद्यथा भिक्षवो मायाकारो वा मायाकारेन्तेवासी [वा] चतुर्महापथे विविधं मायाकर्म विदर्शयेत् । तद्यथा हस्तिकायमश्वकायं[३] रथकायं पत्तिकायं च[४] । तं चक्षुष्मान् पुरुषः पश्येन्निध्यायेद्योनिशश्चोपपरीक्षेत् । तस्य तं पश्यतो निध्यायतो योनिशश्चोपपरीक्षमाणस्यासत्तो[५]ऽप्यस्य ख्यायाद्रिक्ततोऽपि तुच्छतोऽप्यसारतोऽपि । तत्कस्य हेतोः । किमस्मिन् मायाकृते सारमस्तीति । एवमेव भिक्षवो[६] यत्किञ्चि-द्विज्ञान[७]मतीतानागतप्रत्युत्पन्नमाध्यात्मिकं वा बाह्यं वौदारिकं वा सूक्ष्मं वा हीनं वा प्रणीतं वा यद्वा दूरे यद्वात्यन्तिके तद्भिक्षुः पश्येन्निधायेद्योनिशश्चोपपरीक्षेत । [८]तत्पश्यतो निध्यायतो योनिशश्चोपपरीक्षमाणस्या सत्तोऽप्यस्य ख्यायाद्रिक्ततोऽपि तुच्छतोऽप्यसारतोऽपि रोगतोऽपि गण्डतो[९]ऽपि शल्यतोऽप्यघतोऽप्यनित्यतोऽपि दुःखतोऽपि शून्यतोऽप्यनात्मतोऽप्यस्य ख्यायात् । तत्कस्य हेतोः । किमस्मिन् विज्ञानस्कन्धे सारमस्तीति ।

§ ५६. यथोपलभ्यते विचार्यमाणस्य तथा स्वरूपासम्भवा[१०]न्मायायुवति[११]प्रख्यं विज्ञानमिति शक्यमवसातुम् । ततश्च सूक्तमेव तत्

चक्षुः प्रतीत्य रूपञ्च मायावज्जायते मनः । इति यदि पुनरस्य स्वरूपं स्यात्तदा स्वरूपतो—

विद्यते यस्य सद्भावः सा मायेति न युज्यते ॥

न हि[१२] लोके स्वभावादशून्या सद्भूता[१३] स्त्री मायेति युज्यते । एवं विज्ञानमपि

---

१. T. अभावात् ।
२. T. उक्तं हि विस्तरशः ।
३. ; S. हस्तिकायं ।
४. S. न स्वीकरोति, T. चेति बहु(?) शतं जायते ।
५. T.; S. असतः
६. T.; S. न स्वीकरोति ।
७. T. यत्किञ्चिद्विज्ञानमुचितं ।
८. T. न स्वीकरोति ।
९. Mvt. (Chinese-Sanskrit-Tibeton Vocabulary) ६४८७ ।
१०. T. अभावात् ।
११. Mv. पृ० ४६ ।
१२. T. न हि पूर्ववत् ।
१३. T.; S. शून्या सम्भूता ।

स्वरूपतो विद्यमानत्वान्मायोपमं न स्यात् उपदिश्यते च मायोपमं विज्ञानम् । अतो निःस्वभावं विज्ञानं यदा च निःस्वभावं विज्ञानं तदा निःस्वभावविज्ञानसम्प्रयुक्तासंज्ञा निःस्वभावेति स्थितम् ॥२३॥

३२४

§ ५७. अत्राह । आश्चर्यमेतत् । न चेन्द्रियाणां कथमपि विषयग्रहणं सम्भाव्यते उत्पद्यते [च] चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च विज्ञानमिति । उच्यते । किमेतदेवाश्चर्यं त्वया [1]दृष्टम् इदं किं नाश्चर्यं यन्न निरुद्धान्नानिरुद्धाद्[2]बीजादङ्कुरोदयो युज्यते । उत्पद्यतेच बीजं प्रतीत्याङ्कुरः । तथा कृतस्योपचितस्य कर्मणो निरुद्धस्य न क्वचिदवस्थानं सम्भवति[3] । [4]कल्पशतसहस्रान्तरितनिरोधादपि कर्मणः साक्षा[5]दुत्पद्यत एव फलम् । घटादयश्च स्वकारणात् तत्त्वान्यत्वेन विचार्यमाणा न संभवन्ति[6] । तथाप्युपादाय प्रज्ञप्त्या मधूदकादीनां[7] सन्धारणाहरणादि क्रियानिष्पादनयोग्या[8] भवन्ति । तदेवम्— ।

यदा न किञ्चिदाश्चर्यं[9] विदुषां विद्यते भुवि ।
इंद्रियाणां गतावेवं तदा को नाम विस्मयः ॥२४॥

§ ५८. कार्यं हि स्वकारणमनुविदधदृश्यते । यथा[9] गोर्गौरश्वादश्वः शालेः शालिरित्यादि[10] । भूतानां रूपशब्दादीनां च विधिरेष न दृश्यते[11] तथा हि । कायेन्द्रियग्राह्यत्वान्महाभूतान्य[12]श्रावणानि । ते तेभ्यश्चाक्षुषं रूपं श्रावणः शब्द उत्पद्यत इति । परमेतदाश्चर्यम् । एवं घ्राणादिविषये चक्षुरादिषु च योज्यम् ।

---

१. T. न स्वीकरोति ।
२. T. अनिरुद्ध्यमानाद् ।
३. T. कृतमुपचितं कर्म निरुद्ध्यातिचिरं प्राप्तं न क्वचिदवतिष्ठते ।
४. T. किन्तु अनेककल्पशतसहस्रा ।
५. T. वस्तुतः ।
६. T. विविधं विचार्यमाणा न भवन्ति ।
७. T. मधूदकदुग्धानां ।
८. T. सन्धारणाहरणादिक्रियायोग्या ।
९. T. S. न स्वीकरोति ।
१०. T. S. शालिरित्यादीनां ।
११. T. युज्यते ।
१२. S. अचक्षुषानि अश्रावणानि ।

अथवा नैवेयमिन्द्रियाणामर्थगतिर्विस्मयकारणम् । यदि हीन्द्रियाणामेव केवलमर्थगतावेतद्वैचित्र्यं स्यात्तदैतद्विस्मयस्थानम् । यदा तु सर्वमेव यथोदितेन न्यायेन जगद्विदुषां विस्मयकरमिन्द्रजालमिव तदा नेदमाश्चर्यम् । प्रवेशवृत्ति हि किञ्चिदसम्भावनीयमुपलभ्यमानं विस्मयकरं जायते न सर्वत्रैव तुल्यरूपम् । न ह्यग्नेरोष्ण्यं विस्मयायेति ॥२४॥

३२५

§ ५९. अतएवानियतस्वरूपत्वाद्यथाप्रत्ययं तथा तथा विपरिवर्तमान- [illegible]— ।

अलातचक्रनिर्माण स्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः ।
धूमिकान्तः प्रतिश्रुत्कामःरीच्यभ्रैः समोभवः ॥२५॥

योगाचारे चतुःशतक इन्द्रियार्थभावनासन्दर्शनं नाम त्रयोदश प्रकरणम् ॥१३॥

§ ६० यथा सज्वलन[१]स्येन्धनस्याशुभ्राम्यमाणस्य तद्गतदर्शनविपर्यासनिबन्धनत्वाच्चक्राकारोपलब्धिर्भवति । न च तत्रास्ति चक्रस्वरूपलेशोऽपि । यथा च [[२]निर्मिताः समाधिप्रत्ययवसम्भूताः स्त्रियः सद्भूताः स्त्रिय इव कामिनां संक्लेशहेतु र्भवन्ति । मुनिभिर्निर्माणसमाधिवलेना निर्मितमुनिस्वरूपाः सद्भूतमुनिस्वभाव रहिता [अपि] सद्भूता मुनय इव सत्वानामशेष जन्ममनोऽन्धकारोन्मूलनेन स्वर्गापवर्गमार्गहेतुर्भवन्ति ।][२] ते तु चित्तचैत्तेन्द्रिय[३]रहितत्वान्न सद्भूताः[४] । यथा च निद्रा[५] [illegible] भावप्रत्ययः स्वप्नात्मभावो जाग्रदात्मभाव इवात्मनि। स्नेहविपर्यासनिबन्धनः। स चासद्भूतः प्रबुद्धस्यतथा दर्शनाभावात् । यथा च मायाकारयन्त्रनिबन्धना मायाकृतयुवतयस्तत्स्वरूपानभिज्ञानां चित्तमोहनपरा एव सद्भूतस्त्रीशून्या जायन्ते । यथा च जलचन्द्रः सद्भूतचन्द्रशून्यः प्रतीत्य समुत्पादबलात्तथोत्पद्यमानश्चन्द्र विपर्यासनिबन्धनो भवति बालानाम् । यथा च प्रतीत्यसमुत्पादबलादेव तथाविधकालादेश निमित्तानि प्रतीत्य धूमिका जाता

---

१. T. S. सजलस्य ।

२. T. S. [illegible] विचित्रक्रियाविशेषनिस्पादनात् सद्भूतयोगिसंज्ञादर्शनमनो विपर्यासादुत्पादयन्ति ।

३. T. चित्तचैत्तरहितत्वान्न ।

४. S. सद्भूताः योगिनां ।

५. S. सिद्धा ।

विदूरस्थानां सद्भूत धूमविपर्यासनिबन्धना भवति । यथा च गिरिगह्वरकन्दरा[1]दी-ना[2]मन्त: प्रतिश्रुत्वा प्रतीत्य[3] जायमाना सद्भूतशब्दाभिमानं जनयति जना-नाम्[4] ।

यथा च मरीचिका देशकालविशेषसन्निहितादित्य रश्मिप्रत्यया जलस्वरूप-विविक्ता विदूरस्थानां जलविपर्यासं जनयति । यथा चाभ्राणि विदूरत: पर्वता-द्याकारं विपर्यासमुपजनयन्ति । एवमविदुषां यथावत्प्रतीत्य समुत्पाद स्वभावा [illegible] प्रत्ययो विज्ञानादि जन्म संसार:[5] सह बाह्येन भाजनेन[6] [जायमानोऽलातचक्रादि[7]व[8]]न्मृषामोषधर्मक: स्वभावशून्य एव सन् बालजनविसंवादक: प्रतिभाति । विदितधर्मस्वभावाश्च सर्वत्रैव सङ्गपरि [क्षयाद्वि-मुक्तिमाश्रिता] भवन्तीति स्थितमेतदलात चक्रादिवन्नि:स्वभाव: संसार इति ॥२५॥

---

१. T. कन्दरदरी ।
२. T. (वातगम्भीराणां ?) गिरिगह्वर ।
३. T. न स्वीकरोति ।
४. T. अविद्वषां ।
५. T. S. जन्मसागर: ।
६ T. S. स वाह्येन ।
७. T. S. विच्छेदोऽत्र वर्तते ।
८. MV. पृ० १७३. ५५२ ।
(i) मायामरीचिस्वप्नोदकचन्द्रप्रतिश्रुतकाप्रतिभसोपमासर्वंधर्मन्याव-तीर्णः । LV, १०. पृ० १८१ ।
(ii) प्रतिभासबिम्बमाया भ्रमरिच्या सुपियेन तु ।
अलातचक्रगन्धर्भप्रतिश्रूतकासमोद्भवः ॥L.A ६, १७३
(iii) गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माणसादृशा: LA. १०.१४४
MV. पृ० ३३४

चतुर्दशं प्रकरणम्

अन्तर्ग्राह प्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्

३२६

§ १. अत्राह। यदि प्रतीत्य समुत्पन्नत्वादलातचक्रादिवन्निः[1] स्वभावो भवः कस्य तर्हीदानीं[2] स्वभावोऽस्तु। न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावः शक्यः परिकल्पयितुम्। तथाविधस्य पदार्थस्य सर्वथानुपलभ्यमानत्वात् तथाहि—

*** आयत्तं यस्य भावस्य भवेन्नान्यत्र कुत्रचित्।**
सिध्येत्तस्यास्तिता नाम कचित्स च न विद्यते॥१॥

§ २. यदि हि कस्यचित्पदार्थस्य निष्पत्तौ कचित् किञ्चिदायत्त न स्यात्तदास्यापरायत्तस्य[3] स्वतन्त्रस्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वभावतोऽस्तित्वं कल्पयितुं युक्तम्। न त्वेष सम्भवोऽस्ति यद्धेतुप्रत्ययजन्मनां परायत्तता न स्यात्। अहेतुको वा पदार्थ कश्चित्सम्भवेत् इति। यतश्चैवं निर्हेतु [त्व] प्रसङ्गात् कस्यचित् पदार्थस्य कचित्स्वरूपं नास्तितस्मान्नास्ति कस्यचित्स्वभावः स्वभावाच्चालातचक्रा[4]दिवन्नास्ति स्वभावसिद्धिरिति स्थितम्॥१॥

३२७

§ ३. यदि चामी पदार्था अलातचक्रा[5]दिवत् विसंवादका[6] इत्यवस्तुका न स्युस्तदा नियतमुपपत्त्या विचार्यमाणा जातरूपादिवत्स्पष्टतरमुपलभ्यमानस्वरूपाः स्युः। न चैते विचाराग्निसंतापिता विपर्यास[7]निबन्धनत्वात्। स्वरूपाभावं नासादयन्ति। न हि वस्तूपत्तिरहितं[8] युज्यते[9]। सर्वथातस्य विसंवादकत्वात्[10]।

---

१. T. अलालचक्रनिर्माणस्वप्नादिवत्।
२. T. तर्हि।
३. T. अपरायत्तस्य भावस्य।
४. T.; S. चक्रवत्।
५. T. अलातचक्रनिर्माणादिवत्।
६. T.; S. वैसम्वादका विसम्वादकत्वादवस्तुका।
७. T. विपर्यासमात्रनिबन्धनत्वात्।
८. T.; S. वस्तूपपत्त्यापि।
९. T.; न स्वीकरोति।
१०. अविसम्वादकत्वात्।

अतएवाचार्यो वस्तुभिनिवेशशिथिलीकरणायातः परं यथा च घटादीनां स्वरूपं न सम्भवति तथोपपत्तिमाह—।

*** रूपमेव घटो नैक्यं घटो नान्योऽस्तिरूपवान्।**
न विद्यते घटे रूपं न रूपे विद्यते घटः ॥ २ ॥

§ ४. इह यदि घटो नाम कश्चित्पदार्थः स्यात्स दर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपाद्भेदेन वा परिकल्पतोभेदेनवा । तत्र तावद्

रूपमेव घटो नैम्यम्

न यदेव रूपं स एव घट इति रूपघट्योरेक्यं न भवति[१] । यदि हि रूपघटयोरैक्यं स्यात्तदा यत्र यत्र रूपं तत्र तत्र [घट ३][२]ति सर्वत्रैव रूपे घटः स्यात् । पाकजगुणोत्पत्तौ रूपविनाशे घटविनाशः स्यात् । न चैतत् सम्भवतीति रूपमेव घट इति नास्त्येकत्वम् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया रूपादन्यो घटो रूपवान् परिकल्प्येत तद्यथार्थान्तरभूतैर्गोभिर्गोमान् देवदत्त इति । एतदप्ययुक्तम् । यस्माद्[३]

घटो नान्योऽस्ति रूपवान्

§ ५. यदि रूपादन्यो घट स्यात्स[४] भूपनिरपेक्षो गृह्येत । न हि गोभ्यो व्यतिरिक्तो देवदत्तो गोव्यतिरेकेण न गृह्यते । तद्वद्घटोऽपि रूपनिरपेक्षो गृह्येत । न च गृह्यत इत्यतो रूपव्यतिरिक्तो घटो नास्ति । यदा च नास्ति कथमविद्यमान[५]स्तद्वत्तया गृह्यते । न ह्यविद्यमानो वन्ध्यातनयो गोमानिति व्यपदिश्यते । एवं रूपवान घट इत्यपि न युज्यते । अन्यत्वासम्भावादेव च रूपघटयोराधाराधेयकल्पनाया अपि नास्ति सिद्धिरिति ।

§ ६. न विद्यते घटे रूपं न रूपे विद्यते घटः ॥ रूपघटयोरन्यत्वे सति घटे रूपमिति स्यात्कुण्ड इव दधि[६] । रूपेऽपि घट इति स्यात्कट इव देवदत्तः । न चैतत्सम्भवतीति नास्ति घट स्वभावतः । यस्य च नास्ति स्वभाव उपलभ्यते च तदलातचक्रादिवत्स्वभावशून्यम् । यथा च घटः स्वभावतो नास्ति तथा सर्वभावा अपि स्वाभावतो मृग्यमाणा न सन्तीति सिद्धा भवत्यलातचक्रा[७]दिप्रख्यता भवस्य ॥२॥

---

१. T. सम्भवति ।
२. S.;T. ।
३. T. तथाहि ।
४. T.;S. स्वरूप...।
५. T.;S. असम्विद्यमान ।
६. T. कुण्डे कुण्डदधिवत् ।
७. T. चक्रनिर्माणादि ।

§ ७. अत्राहुरेके । यद्यपि रूपघटयो [रन्यत्वं न सम्भवति तथापि भावघ][१] टयोरन्यत्वमस्ति । यस्मादन्य एव घटोऽस्माक[२]मन्यैव[३] च सत्ता । सत्ता हि नाम महासामान्य[४] घटश्च विशेषः । द्रव्यं[५] सत्तायोगात्सदिति व्यपदिश्य इति ।

तान् प्रत्युच्यते—

वैलक्षण्यं द्वयोर्दृष्ट्वा भावादन्यो घटो यदि ।
न भावोऽपि घटादन्यो किमेवं न भविष्यति ॥३॥

§ ८. घटादिद्रव्याणामनुप्रवृत्तिलक्षणत्वात्सामान्यं भावः । व्यावृत्तलक्षण त्वाच्च घटो विशेषलक्षण इति । यदि तयो वैलक्षण्यं भावघटयोर्दृष्ट्वा भावादन्यो घटो भवत्येवमेव वैलक्षण्याद्भावोऽपि किमर्थं घटादन्यो[६] न भविष्यति । ततश्चान्य बुद्धिध्वनि प्रवृत्ति[७]निमित्तमन्यत्वम परमनुप्रवृत्तिलक्षणं न कल्पयितव्यम् वैलक्षण्यादेवान्यबुद्धिध्वनिप्रवृत्ति सिद्धेः । कल्प्यते चापरमन्यत्व[८]मिति । नास्ति तर्हि[९] भावघटयोर्वैलक्षण्यापेक्षमन्यत्वम् । ततश्च यदुक्तं[१०] ।

वैलक्षण्यं द्वयो दृष्ट्वा भावादन्यो घट

§ ९. इति तन्न । यथा च भावोऽनुप्रवृत्तिलक्षणत्वाद्घटादन्यस्स्यात् । न च तस्यान्यत्वस्यापरमन्यध्वनिप्रवृत्ति निमित्तमस्ति । यदि तदन्यत्वानामपर्यवसान दोषः स्यात् । अथ विनैवान्यत्वेनान्यबुद्धिरन्यत्वे भवति । तद्वदेवान्यत्रापि सम्भाव्यतामित्यलमन्यत्वेनाकिञ्चित् करेण कल्पितेन । असति चान्यत्वे नास्ति कुतश्चित् कस्यचिदन्यत्वमिति सिद्धम् । अपि चेदं चिन्त्यते । किम्भूतायाः

---

१. ।
२. अस्माकं दर्शने ।
३. T.; S. अन्यथैव ।
४. न्यावेश-हरिभद्रवृत्ति (Gos), पृ०२९–तत्र परं सत्ता भावो महासत्ते ति चोच्यते । परसामान्यमित्यर्थः प्रशस्तपादभाष्य-न्यायकन्दली, पृ०३११. ३१३.
५. T. तस्य द्रव्यं; घटश्च विशेषो द्रव्यं । तस्य सत्तायोगात् ।
६. T. S. वैलक्ष्याद्घटादपि किमर्थं भावोऽन्यौ ।
७. T. अन्यबुद्धिध्वनिमित्तं ।
८. T. अन्यत्वम् ।
९. T. अन्यत्वमिति नास्ति । तर्हिभावा···T.···अन्यत्वमथभावघटयोरन्यत्वं नास्ति । ततः···।
१०. T. विचार्यमाणे ।

सत्ताया अन्यत्वेन योगोऽस्तु । किमन्यभूतायाः अनन्यभूताया वा यद्यन्यभूताया-स्तदा व्यर्थोऽन्यत्वेन योगः । अथानन्यभूतायाः । एवमपि विरुद्धेनान्यत्वेन योगादन्यत्वेन योगो न प्राप्नोति । अन्यत्वाभावाच्च घटादन्यो भाव इति न युज्यते । ततश्[1]च लोके विपर्यासं प्रमाणीकृत्य घटत्वरूपमेव सद्बुद्धिध्वनिप्रवृत्ति-निमित्तत्वाद्भाव इति व्यवस्थाप्यते । तस्य च रूपाच्चतुर्धा विचार्यमाणस्य[2] नास्ति स्वभाव इति तत्वविदपेक्षयालातचक्रादिवत्स्वभावशून्यो घट इति सिद्धम् ॥३॥

३२६

§ १०. अत्राह । विद्यत एव घटो गुणाश्रयत्वात् । न ह्यसन् गुणाश्रयो दृष्टः । भवति च गुणाश्रयो घटः । एको घटो द्वौ घटाविति । एकत्वादयो गुणपदार्थ संगृहीता घटश्च[3]द्रव्यम् । द्रव्याश्रियत्वं च गुणानां सम्भवतीति । अतो गुणाश्रय-त्वादस्त्येव घट इति । अत्रोच्यते । त्वन्मतेन ।

एको यदि घटो नेष्टो घटोऽप्येको न जायते ।
न चायं समयोर्योगस्तेनाप्येको न जायते ॥४॥

§ ११. पदार्थ भेदाद्यद्येको घटो न भवतीति मन्यसे घटोऽपि तर्ह्येको न भवति । यथैकत्वमे[4]कसंख्या घटो न भवत्येवं द्रव्यत्वेनैकसंख्यायाः पृथग्भूतत्वाद्घटो ऽप्येको न भवति । द्वित्वा[5]दिति भावः । अपि चास्य[6] घटस्यैकरूपस्य वैकसंख्या[7] परिकल्प्यते[8]ऽनेकरूपस्य वा । यद्येकरूपस्य तदा व्यर्थै[9]वैकत्वकल्पना । अथानेक-रूपस्य तदापि विरुद्धत्वादयुक्तैव । तस्माल्लोके घटस्वरूपस्यैवासन्निहितार्थान्तर-स्यैक [त्व] कल्पना विज्ञेया । अथ द्रव्याश्रियिणो गुणा इति कृत्वैकत्वयोगाद्घट एवको भवति न त्वेकत्वं घटो[1] भवतीति । अत्रोच्यते

§ १२. न चायं समयो र्योगस्तेनाप्येको न जायते ॥ [10]योगो नाम समयोरेव

१. T. न स्वीकरोति ।
२. T. घटश्च ।
३. T.; S. घटाश्च ।
४. T. यथैकत्वमिदमेकसंख्या ।
५. T. दित्वादिवत ।
६. T. अपि चास्य ।
७. T. चैकसंख्या ।
८. T. परिकल्पे वानेक ।
९. T. S. व्यर्थ ।
१०. T. योगो नाम समयोरेव न विषमयोः । यथा योगो दिष्ट इत्युभयोरपि भ्रात्रो र्भ्रातृत्वसम्बन्ध इति न किञ्चिदनुचितमिव । एकघटौ तु न समौ

न विषमयोः। तत्रैक गुणो दृष्टो घटः[१]। द्रव्यगुणयोश्च समता यस्मान्न भवति तस्मात्तयो र्योग एव न भवति। योगाभावात् तत्र यदिष्टमेकत्व योगाद्घट एवैको भवतीति तन्न। यदि चात्र योगो दृष्टस्तदैकेनापि घटस्य योगः स्याद्घटेनाप्येकस्य[२]। स च नैनं सम्भवतीति[३] योग एवानयो र्नोपपद्यते[४]। योगाभावाच्च[५] नैवैको घटो भवतीति न घटोऽप्येक इति। तदत्र पूर्वार्द्धेन कारिकाया योगमभ्युपेत्य दूषणमुक्तम्। उत्तरार्द्धेन तु योगसम्भवे दूषणमुक्तम्। अपिशब्दश्च दूषणकारणसमुच्चयार्थो द्रष्टव्यः॥४॥

३३०

§ १३. अपि चेदमयुक्ततरं परसमये दृश्यते यद्द्रव्याश्रयिणो गुणा व्यवस्थाप्यन्ते न गुणाश्रयिणो विशेषगुणाः। युज्यते च गुणानामपि गुणाश्रयित्वम्। इह यत्परिणामो घटस्तदाश्रयिणापि[६] रूपेण तावतैव भवितव्यम्। ततश्च द्रव्यवद्रूपस्यापि महत्त्वं प्राप्नोतीति।

*** यावद्द्रव्यं यदा रूपं तदा रूपं महन्न किम्।**
समयो जायते वाच्यः प्रतिपाद्यपरो[७] यदि॥५॥

§ १४. यदा यावद्रव्यं यावान् द्रव्यस्यायामविस्तारात्मकः सन्निवेशस्तावद्रूपं रूपस्यापि तावानेवायामविस्तारात्मकः सन्निवेश इति परेणाभ्युपगम्यते[८] तदा नियतमणुमहति द्रव्ये रूपेणापि तत्राणुमहता भवितव्यम्। तत्किं नु[९] खल्वत्र कारणं यद्द्रव्यवद्रू[१०]पस्याणुमहत्त्वे नेष्येते। अथ स्याद्रूपं गुणोऽणुत्व महत्त्वमपि च गुण एव। न च गुणे गुणस्य सन्निवेशो भवतीति समय एषोऽस्माकम्। ततश्च यद्यपि यावद्द्रव्यं रूपमपि तावदेव तथापि सिद्धान्तविरोधभयाद्रूपस्याणुत्वमहत्त्वे न स्त इति। उच्यते।

---

* घट एवैकत्वयोगादेकत्वे च घटायोगात्। गुणा द्रव्याश्रयिणइत्यभ्युपगमात्।

१. T.; S. घटश्च द्रव्यम्।
२. T. तदा घटस्यापि ऐकेन योगो स्पर्शस्याप्यनेकेनयोगः स्यात्।
३. T.; S. भवतीति।
४. T. न भवतीति।
५. T. न स्वीकरोति।
६. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते।
७. T. 'अपरो' इत्यस्य तात्पर्यो "न परः"।
८. T. सा-अभ्युपगमकाले।
९. T. न।
१०. T.; S. द्रव्यरूपस्य।

§ १५. समयो जायते वाच्यः प्रतिवाद्यपरो यदि ।। यदि हि तव स्वयूथ्य
व प्रतिवादी स्यात्तं निवर्तयितुं युक्तं तव सिद्धान्ताभिधानम् । तस्य तं बाधितुं
ामर्थ्यात्[1] । यदा तु प्रतिवादी परस्तं प्रति सिद्धान्तविरोधोद्भावनमकिञ्चित्करं
संद्धान्तनिराकरणप्रवृत्तत्वा[2]त्तस्य युक्तिलोकविरोधोद्भावनं तु तं प्रति ज्यायस्त-
ारेण तस्य निवर्तयितुं शक्यत्वात् । तस्मादपरिहार एवायं यदिदमागमविरोधो-
द्भावनमिति स एवाविचलो दोष इति नास्ति भावघटयोरन्यत्वम् । तदत्र
सत्तान्यत्व प्रतिषेधनान्येषामपि घटत्वादीनां सामान्यविशेषाणां प्रतिषेधो विज्ञेयः
संख्यावत्सामान्यगुणानां[3] महत्ववद्विशेषगुणानामिति ।।५।।

३३१

§ १६. अत्राह । उक्तो भावस्य [4]घटादिभ्योऽन्यत्वप्रतिषेधः । घटस्य तु
स्वभावाप्रतिषेधादस्त्येव स्वरूपतो घटाख्यो भाव इति । अत्रोच्यते[5] ।

*** लक्षणेनापि लक्ष्यस्य यत्र सिद्धिर्न विद्यते ।**
संख्यादिव्यतिरेकेण तत्र भावो न विद्यते ।।६।।

§ १७. इह घटसत्वयो र्व्यावृत्यनुवृत्तिलक्षणं ब्रुवता घटस्य व्यावृत्तिलक्षणं
व्यवस्थापितं परेण । तदमुना लक्षणेनापि लक्ष्यस्य नास्ति सिद्धिः । न हि व्यावृ-
त्तिमात्रेण शक्यं वस्तुस्वरूपं निर्धारयितुं यल्लक्ष्यतया सेत्स्यति । एकस्तावद्गुण-
त्वाद्घटो न भवति । अणुर्महदिति रूपादयश्च गुणत्वादेव घटाख्यान भवन्ति ।
[6]सत्तापि द्रव्यगुणकर्मसु[7] सामान्याद्घटो न भवति । तदयं संख्याणुमहद्रूपादिभ्यो
व्यावर्तमान इत्थं स्वभाव इति न शक्यं व्यवस्थापयितुम् । तदेवं यत्र परवादिपक्षे
लक्षणेनापि लक्ष्यस्य घटस्वरूपस्य नास्ति सिद्धिस्तत्र पक्षे संख्यादिव्यतिरेकेण
[8]सिद्धस्वरूपेण घटाख्यो भावो न विद्यते । ततश्च स्वभावशून्यो घट इति
सिद्धम् ।

§ १८. अथ वा[9] संख्यादयो घटस्य लक्षणम् । तैर्लक्ष्यमाणत्वाद्घटो लक्ष्यः ।
तस्य लक्षणेनापि [10]पृथक्स्वरूपसिद्धि[11]रशक्या[12] कर्त्तुम् । संख्यादिव्यतिरेकेण
तत्स्वरूपस्यानुपलभ्यमानत्वात् । यदि हि तल्लक्ष्यं स्वरूपं लभते तदा नियतं

१. T.; S. तदाधितुमसामर्थ्यात् ।
२. T. चित्तवत् ।
३. T.; S. विशेषाणां
४. T. S. पटादिभ्यो ।
५. T. उच्यते ।
६. T. तत्सत्तापि ।
७. T. द्रव्यगुणकर्मणां ।
८. T. स्वरूपेण ।
९. T. एकधा ।
१०. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते ।
११. T. स्वरूपसुसिद्धि ।
१२. T. नास्ति ।

संख्यादिव्यतिरेकेण गृह्येतेदं तत्संख्या[1]दिव्यतिरिक्तं घटस्वरूप[2]मिदं पुनरस्य संख्यादिकं[3] लक्षणमिति न चैतदेवमित्यतो

लक्षणेनापि लक्ष्यस्य यत्र सिद्धिर्न विद्यते।
संख्यादिव्यतिरेकेण तत्र भावो न विद्यते॥

इति नास्ति स्वभावतो घटः ॥६॥

३३२

§ १६. उक्तस्तावल्लक्ष्यलक्षणयोरन्यत्वप्रतिषेधः। येषां तु रूपादिभिर्घटस्यैक्यमिति सिद्धान्तस्तत्प्रतिपेधायेद मुच्यते—

*** घटस्य न भवेदैक्यमपृथक्त्वाद्धि लक्षणैः।**
एकैकस्मिन् घटाभावे बहुत्वं नोपपद्यते॥७॥

§ २०. रूपादीनि खलु नानालक्षणानि येषां तैरपृथक्त्वं[4] घटस्येष्टम्। तेषां[5] रूपादिभिर्लक्षणैरपृथक्त्वाद्[6] घटस्यैक्यं नोपपद्यते। बहुभिरनन्यत्वात्। स्यात्तत्रमतम्। यदि घटस्यैक्यं न भवति, हन्त बहुत्वं प्राप्तमिति। अत्रोच्यते। यस्माद्रूपादिष्केकैकस्मिन् घटस्याभावो दृष्टस्तस्माद्बहुत्वमपि नास्तीति ॥७॥

३३३

§ २१. अत्राह। यदि रूपादिभिर्लक्षणैरपृथक्त्वाद्घटस्यैक्यं नास्ति तेषां परस्परसंयोगाद्घटस्यैक्यं भविष्यतीति। अत्रोच्यते—।

*** न ह्यस्पर्शवतो नाम योगः स्पर्शवता सह।**
रूपादीनामतो योगः सर्वथापि न युज्यते॥८॥

§ २२. तत्र स्पृष्टिः स्पर्शः कायेन्द्रियग्राह्यता। [7]स्पर्शोऽस्यास्तीति स्पर्शवत्। स्प्रष्टव्येन रूपरसगन्धानामस्पर्श[8]वतां योगः संयोगः संस्पर्शो न सम्भवति यथा घटस्याकाशेन। यत एतदेवं "रूपादीनामतो योगः" सर्व-

---

१. T.; S. तत्संख्या।
२. T. स्वरूपेण।
३. T. संख्यादिव्यतिरिक्त।
४. T.; S. पृथक्त्वं।
५. T. तेषां दर्शने।
६. T.; S. अपृक्त्वं
७. T. सोऽस्यास्तीति।
८. S. अस्पर्शवता।

प्रकारं न सम्भवति। यदा[1] च न सम्भवति तदान्योन्य संस्पर्शकृताद्रूपादीनां विशेषात्समुदायनिबन्धनो घट इति यदुक्तं तन्नयुक्तम् ॥८॥

३३४

§ २३. अथ विनाप्यन्योन्यसंस्पर्शेन तत्समुदाय एव घट इति स्यात्। एतदपि नास्ति। यस्मात्[2]

*** घटस्यावयो रूपं तेन तावन्न तद्धटः।**
यस्मादवयवो नास्ति तेन नावयवोऽपि तत् ॥८॥

§ २४. रूपादिसमुदय घटस्य प्रत्येकं रूपादयोऽवयवभूतत्वाद् घटव्यपदेशभाजो न भवन्ति। घटोऽवयवी अवयवाश्च रूपादयः इति रूपं तावदवयवत्वद्घटो न प्राप्नोति[3]। यथा च रूपमेवं गन्धादयो वाच्याः। ननु च रूपस्यावयवत्वादस्ति तर्ह्य सावयवी नाम कश्चित्। न ह्यवयविनिरपेक्षा अवयवा युज्यन्त इति। उच्यते। इह रूपादीनां प्रत्येकं घटत्वाभावे कुतः कश्चिदवयवी। न हि रूपादिव्यतिरेकेणावयवी नाम परिच्छेत्तुं पार्यते। न चापरिच्छिद्यमानस्वरूपस्य सत्त्वमस्थातुं शक्यमित्यसन्नवयवी। यस्माच्चावयवी नास्ति तस्माद्रूपमवयवत्वेनापि न सम्भाव्यत इति न स्त एवावयवावयविनौ ॥९॥

३३५

§ २५. इतश्च रूपादिसमुदायो न घटः। यस्मात्—

*** सर्वेषामपि रूपाणां रूपत्वमपिलक्षणम्।**
एकस्य घटसद्भावो नान्येषां किं नु कारणम् ॥१०॥

§ २६. सर्वेषामपि रूपाणामिति रूपस्कन्धसंगृहीतत्वाद्रूपगन्धादयो रूपाणीत्युच्यन्ते।[4] तानि रूपाणि घट इव पटादिष्वपि सन्ति। न च तानि घटादिभेदेऽपि स्वलक्षणं व्यभिचरन्ति। सर्वत्रैव तुल्यलक्षणत्वात्। तत्र यथैकस्य रूपस्य घटत्वेनावस्थानं तथान्यस्यापि [5]पटादिसम्बन्धिनो रूपस्य कस्माद् घटत्वेनावस्थानं नेष्यते। युज्यते तु तस्यापि घटत्वेनावस्थानं लक्षणाभेदाद् घटावस्थितरूपादिवत्[6]। एवं त्वनभ्युपगमे कारणमेव[7] न सम्भवति। ततश्च सर्वेषामेव घटत्वं प्राप्नोति। यथा च घटादीनामभेदप्रसङ्ग एवं गन्धादीनामप्यभेद प्रसङ्ग[8] प्राप्नोति। एकस्माद् घटादनन्यत्वात् ॥१०॥

---

१. T. यदेवं।
२. T. सा० तथाहीत्यर्थः।
३. T. भवति।
४. T. न तत्र "उच्यन्ते" इति शब्दो विद्यते।
५. T. कम्बलादि; S. घटादि।
६. T. घटत्वावस्थितरूपादिवत्।
७. T.;S. करणमेव।
८. T.; S. अभेदः।

३३६

§ २७. अथ मन्यसे यद्यपि घटादन्यत्वमेषां [नास्त्येव तथापि][1] रूपस्य रसादिभ्यो भेदोऽस्ति। तस्मादभेदप्रसङ्गाभाव इति। एतदप्ययुक्तमिति प्रतिपादयन्नाह—

रूपमन्यद्रसादिभ्यो न घटादिति ते मतम्।
स्वयं यस्तैर्विना नास्ति स न्यासो रूपतः कथम् ॥११॥

§ २८. यदि भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रसादिभ्यो रूपमन्यद्व्यवस्थाप्यते घटादपि तद्रूपमन्यदिति किं न व्यवस्थाप्यते। रूपादन्येभ्यो रसादिभ्यस्तस्या व्यतिरिक्त[2]त्वाद्रसादिस्वात्मवद्रूपादन्य एव प्राप्नोति। न चान्यत्वमिष्यत इत्ययुक्तमेतत् ॥११॥

३३७

§ २९. यदा चैवं रूपादीनां घटकारणत्वं न सम्भवति तदा नियतम्—

घटस्य कारणं नास्ति स्वयं कार्यं न जायते।
रूपादिभ्यः पृथक्कश्चिद्घटस्तस्मान्न विद्यते ॥१२॥

§ ३०. रूपादिव्यतिरेण कार्यभूतस्य घटस्यानुपलभ्यमानत्वान्नास्ति रूपादिव्यतिरिक्तो घट इति सिद्धम् ॥१२॥

३३८

§ ३१. अथ मन्यसे नैव हि रूपाद्युपादानो घटः। किं तर्हि। स्वावयवानि कपालानि कारणान्यपेक्ष्य घटस्य कार्यत्वं कपालानां च कारत्वमिति। एतदप्ययुक्तमित्युद्भावयन्नाह[3]—

घटः कारणतः सिद्धः सिद्धं कारणमन्यतः।
सिद्धिर्यस्य स्वतो नास्ति तदन्यज्जनयेत्कथम् ॥१३॥[4]

§ ३२. यदि घटकारणानि[5] कपालानि प्रतीत्य घटः सिध्यति तानीदानीं कपालानि किमपेक्ष्य सिध्यन्ति। न हि तावत्तानि स्वभावसिद्धानि निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्। अथ तेषामप्यन्यत्कारणमिष्यते। न तर्हि कपालानां स्वरूपसिद्धिरस्ति। तेषामपि कारणान्तरशर्करिकापेक्षत्वात्। येषां च कपालानां स्वतः

---

१. T.; S. न स्वीकरोति।
२. T.; S. व्यतिरिक्तत्वात्
३. T. असारमित्याह।
४. MV. पृ० २६।
५. T. तदा।

सिद्धिर्नास्ति कथं तान्यन्यत् स्वरूपतः साधयिष्यन्तीत्यसन् घटः। योऽयं[1] घट प्रतिषेधक विधिरेष[2] एव सर्वकार्याणामसिद्धौ[3] योज्यः[4] ॥१३॥

३३६

§ ३३. अत्राह। समुदितानां रूपादीनां घटाभिधानान्न रूपादिबहुत्वेऽपि घटबहुत्वप्रसङ्ग इति। तदप्ययुक्तं समूहस्यैवासत्वात्। तथा हि—।

*** समवायेऽपि रूपस्य गन्धत्वं नोपपद्यते।**
समूहस्यकैता तेन घटस्येव न युज्यते ॥१४॥

§ ३४. समुदिता अपि रूपादयो न समुदायावस्थाः स्वं स्वं लक्षणं विजहति। ततश्च यथा[5] समुदायावस्थायां रूपस्य स्वरूपापरित्यागाद्[6] गन्धत्वं न सम्भवत्येवमनेकाश्रयस्य समूहस्यैकत्वं न सम्भाव्यते। स हि समुदायो रूपादिभ्यो न व्यतिरिक्तस्ते चै रूपादयः परस्परतो भिद्यन्ते। रूपादिभ्यश्चाव्यतिरिक्तसमुदायः कथमेकः स्यात्। दृष्टान्तमाह घटस्येवेति। यथा

घटस्य न भवत्यैक्यमपृथक्त्वाद्विलक्षणैः[7]। रित्युक्त[8] तथेहापि[9]
[illegible][10] रिति। एवं।
समूहस्यैकता तेन घटस्येव न युज्यते ॥१४॥

३४०

§ ३५. ततश्च समूहस्यासम्भवाद्रूपादिसमूहेऽपि घट कल्पना न युक्ता। यथोपवर्णितेन च विचारेण—

*** रूपादिव्यतिरेकेण यथा कुम्भो न विद्यते।**
वाय्वादिव्यतिरेकेण तथा रूपं न विद्यते ॥१५॥[11]

§ ३६. रूपादिव्यतिरेकेण यथा कुम्भो न सिद्ध एवं कुम्भप्रज्ञप्त्युपादाना अपि रूपादयो वाय्वादिमहाभूतचतुष्टय व्यतिरेकेण न युज्यन्ते। निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात् ॥१५॥

---

१. T. यः;S. यतश्चायं
२. T. न तत्र 'एव' शब्दो वर्तते।
३. T. असिद्धवपि।
४. तुलनार्थं द्रष्टव्यम्-शून्यतासप्तति XV, २७.८.५।
५. T.; S. न स्वीकरोति
६. T. स्वरूपपरित्यागात्; स्वरूपेण परित्यागात्।
७. S. पृथक्त्वाद्विलक्षणैः।
८. कारिका दृष्टव्या, ३३२ (१४.७)।
९. T.; S. तवापि।
१०. T.; S. पृथक्त्वादिलक्षणैः।
११. MV. पृ० ७१

३४१

§ ३७. यथा च वाय्वादिव्यतिरेकेण रूपगन्धादेरसम्भव एवं महाभूतानामन्योन्यव्यतिरेकेण सिद्धयभावात् स्वरूपसिद्धयभाव[१]मुद्भावयन्नाह—

* अग्निरेव भवत्युष्णमनुष्णं दह्यते कथम् ।
नास्ति तेनेन्धनं नाम तद्दतेऽग्नि र्न विद्यते ॥१६॥

§ ३८. इहाग्निर्दग्धा भूतत्रयं दाह्यम् । तदेत[२]दिन्धनाख्यं[३] भूतत्रयमग्निरेव दहति नान्यः । इन्धनमेव च दह्यते नान्यत् । तत्रेन्धनं यद्यग्निरुष्णमपि दहति तदाग्निरेव तदुष्णं भवति नेन्धनम् । अनुष्णस्यापि दाहासम्भवादनुष्णमपि नेन्धनम् । तदेवं सर्वथापि दाह्यस्यासम्भवान्नास्तीन्धनं[४] नाम यद् भूतत्रयात्मकं स्यात् । यदा चैवमग्नि व्यतिरेकेणेन्धनं नापरं सम्भवति तदेन्धनाभावे निर्हेतुकोऽप्यग्निर्न सम्भवतीति तद्दतेऽग्नि र्न विद्यते ॥१६॥

३४२

§ ३९. अत्राह । अनुष्णात्मकमेवेन्धनं काठिन्यादिरूपत्वात् । तच्चोष्ण स्वभावेनाग्निनाभिभवादुष्णं भवति । उष्णं च सद्दह्यते इति । एवमपि कल्प्यमान इन्धनाख्योऽर्थः[६]—।

* अभिभूतोऽपि यद्युष्णः सोऽप्यग्निः किं न जायते ।
अथानुष्णः[७] परोऽप्यग्नौ भावोऽस्तीति न युज्यते ॥१७॥

§ ४०. यद्यग्निनाभिभूत इन्धनाख्योऽर्थोऽनुष्णस्वभावोऽप्युष्णो भवतीति कल्प्यते सोऽप्यग्निरस्तूष्णरूपत्वात् ततश्च स एवेन्धनाभावः[८] । "अथानुष्णः परोप्यग्नौ भावोऽस्तीति न युज्यते ॥"

---

१. T.; S. रूपादिसिद्धयभावं ।
२. T. तद् ।
३. T. महाभूतत्रयं ।
४. T. S. नास्तितेनीन्धनं ।
५. तुलनार्थं द्रष्टव्यम् —MK., x, अग्नीन्धनपरीक्षा ।
६. T. सोऽर्थः ।
७. अथानुष्ण ।
८. T. ततश्च इन्धनाभावः

§ ४१. अथाभिभूतोऽप्यसावर्थोऽनुष्ण एवेष्यते स[१] तर्ह्यग्नेः परोऽपि भाव इन्धनाख्यं भूतत्रयमुष्ण विरुद्धत्वादनुष्णस्वभावमग्नावस्तीति न युज्यते। ततश्च भूतत्रयरहितमग्निमात्रमेव स्यात्। न चैषां महाभूतानामन्योन्यं विनाभावः। यदि स्यात् सिद्धान्तविरोधश्च स्यात्[२]। अग्नोचापरस्य पदार्थस्येन्धनाख्यस्याभावान् निर्हेतुत्वश्चाग्नेः स्यादित्युक्तमेतत् ॥१७॥

३४३

§ ४२. अथ मन्यसे तेजो द्रव्यपरमाणौ भूतत्रयस्याभावात् द्विनापीन्धने-नास्त्येवाग्नि रिति। उच्यते—।

*** इन्धनं यद्यणोर्नास्ति तेनास्त्यग्निरनिन्धनः।**
अणुरेकात्मको नास्ति स्यात् तस्या पीन्धनं यदि ॥१८॥

§ ४६. ततश्च स एव[३] निर्हेतुकत्वदोषप्रसङ्गः[४]। इति एव चाहेतुकत्व[५] दोष-प्रसङ्गाद् वैशेषिकाणामिव स्वयूथ्यानाम्[६]युक्तो द्रव्यपरमाणवभ्युपगमः। वैशेषिक परमाणुवादश्च नवम् एव प्रकरणे निषिद्धत्वान्न पूर्ननिषिध्यते अथाग्ने[७]रहेतुकत्व प्रसङ्गभीत्याणावपीन्धनभावः[८] परिकल्प्येत ततः[९] "अणुरेकात्मको नास्ति स्यात्तस्यापीन्धनं यदि।" यद्यणोरिन्धन मस्तीति कल्पयते न तर्हि तेजद्रव्य परमाणुरेकरूपोऽस्तीत्यभ्युपेयम् ॥१८॥

३४४

§ ४४. न च केवलं परमाणोरेवैकात्मकस्याभावोऽष्टानां द्रव्यनां सहोत्पाद-नियमादपि खलु तदन्यस्यापि पदार्थस्य—

*** तस्य तस्यैकता नास्ति यो यो भावः परीक्ष्यते।**
न संति तेनानेकेऽपि येनैकाऽपि न विद्यते ॥१९॥

---

१. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते।
२. T. न चैषां महाभूतानामन्योन्यं विनाभावस्तस्य सिद्धान्तविरोधात्।
३. T. तदर्थक एव।
४. T.; S. हेतुक दोषः।
५. T. S. हेतुकदोषप्रसाङ्गात्।
६. वैभाषिकसौत्रान्तिकादीनामित्यर्थः।
७. T.; S. यथाग्ने।
८. T.; इन्धनस्वभावः।
९. T.; S. न स्वीकरोति

§ ४५. यथा भूताना[१]मेकात्मकत्वं नास्ति तदितरसद्भावात्[२] । एवं भौतिकमपि[३] नास्ति भूतैर्विना हेतुकत्व प्रसङ्गात् । एवं चित्तेन विना चैत्ता न सम्भवन्ति नापि चैत्तैर्विना चित्तम् । तथा लक्षणैर्जात्यादिभिर्विना लक्ष्यं रूपादिकं नास्ति । नापि लक्ष्येण विना निराश्रयं लक्षणं सम्भवन्ति । यतश्चैवमेकस्य पदार्थस्य कस्यचित् सिद्धि र्नास्ति तदैककानां समुदायाभावे सत्यनेकसिद्धिरपि दूरोत्सारितेत्याह—न सन्ति तेनानेकेऽपि येनैकोऽपि न विद्यते ।।

एकस्याप्यसिद्धौ[४] सत्यां समूदितानामपि नास्ति सिद्धिः ॥१९॥

३४५

§ ४६. अथ स्यात् । स्वयूथ्यं [illegible] सहोत्पादनियमाभ्युप-[illegible] सहोत्पादनियमाभ्युपगमान् । परं प्रति तु नैदं दूषणं नित्यानां पृथिव्यादिपरमाणूनां तदितरभावसद्भाववियुक्ता नामस्तित्वेनाभ्युपगमादिर्ति । तत्रप्ययुक्ततामुद्भावयन्नाह—

*** भावास्त्रयो न सन्त्यन्ये तत्रैकोऽस्तीति चेन्मतम् ।**
त्रित्वं येनास्ति सर्वत्र तेनैकत्वं न विद्यते ॥२०॥

§ ४७. एतदप्यसम्यक् । किं कारणम् । त्रित्वं येनास्ति सर्वत्र तेनैकत्वं न विद्यते ।।परस्यापि हि न कश्चिदेको नाम पदार्थोऽस्ति । यस्मात्तत्रापि पृथिवीपरमाणौ द्रव्यमेकत्वसत्त्वं चेत्येतत् त्रितयमस्ति । तथा गुण गुणत्वं सत्त्वत्वञ्चेति । यस्मात्त्रि[५]तयमस्ति तस्मान्न कश्चिदेको नाम पदार्थोऽस्ति तथा साङ्ख्यस्य[६] त्रिगुणात्मकं सर्वमित्येकः कश्चित्पदार्थो नास्तीति न कश्चिदयुक्त[७] दूषणमतिवर्त्तते[८] ।।२०।।

३४६

§ ४८. अपि चायं दूषणमार्गः सर्वेषामेव वादिनां पक्षनिराकरणाय विदुषा प्रयोक्तव्य इति शिक्षयन्नाचार्य । आह—।

*** सदसत् सदसच्चेति सदसन्नेति च क्रमः ।**
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥२१॥

---

१. T. महाभूतानां ।
२. T.; S. तदितरस्मिन्नितरसद्भावात् ।
३. S. भौतिकमपि केवलं ।
४. T.; S. सिद्धौ ।
५. T. अनेक ।
६. T. सांख्यस्यापि ।
७. T. कश्चित् ।
८. T.; S. इति वर्तते ।

§ ४९. [1]एकत्वमन्यत्वमुभयं नोभयमित्येकत्वादयः । एतेष्वेकत्वादिषु पक्षेषु वादिना व्यवस्थितेषु सदसत्त्वाद्युपलक्षितो दूषणक्रमः स्वधिया[2] यथाक्रममवतार्यः । तत्र सत्कार्यवादिनः कार्यकारणयोरेकत्वमिति पक्षः । तस्य हि[3] कारणात्मना सत् कार्यं व्यस्थितमेव तत् कार्यात्मना विपरिणमते । न ह्यसच्छक्यं कर्त्तुम् । यदि ह्यस[4]दुत्पद्येत तदा सर्वतः सर्वसंभवः स्यात् । न च सर्वतः सर्वसम्भवो दृष्टः । क्षीरादेरिव प्रतिनियतदध्यादिदर्शनात् । तस्य वादिनः[5] कार्यकारणयोरेकत्वाभ्युपगमात्सदेव कार्यमुत्पद्यत इत्येवमेकत्वपक्षः । तस्मिन्नेकत्वपक्षे सत्कार्यवादपरामर्शेन[6] निरयं दूषणमभिधेयम् । तच्चोक्तं—

स्तम्भादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः ।
सत्कार्यमेव यस्येष्टम्... ... ... ॥

इत्यनेन ।[7] तथा

सम्भवः क्रियते यस्य प्राक् सोऽस्तीति न युज्यते ।
सतोयदि भवेज्जन्म जातस्यापि भवेद्भव ॥[8]
धर्मो यद्यकृतोऽप्यस्ति नियमो जायते वृथा ।
अथ [कार्यं किञ्चिदपि सत्कार्यस्य न सम्भवः ॥[9] इत्युक्तम्][10]

एवं विद्वद्भिः सत्कार्योपदर्शितं दूषणमेकत्वपक्षे प्रयोज्यम् ।

§ ५०. असत्कार्यवादिनो हि कार्यकारणयोरन्यत्ववादिनः । ते हि सदुत्पत्तिर्निरर्थेति मन्यमाना असदेव कार्यमुद्यत इतिप्रतिपद्यन्ते । तेषामन्यत्व पक्षेऽप्यसत्कार्योपदर्शितं दूषणमभिधेयम् । तच्च इत्युक्तम् ।[11] "स्तभादीनामलङ्कारो गृहस्यार्थे निरर्थकः । यस्यासत्कार्यमेव च ॥ इत्युक्तम्

§ ५१. ये तु कार्यकारणयोरेकत्वमन्यत्वं चेति कल्पयन्ति ते सदसत्कार्यवादिनः । ते हि देवदत्तस्य जीवात्मत्वं व्यवस्थित देवदत्तात्मत्वं त्वव्यवस्थितमुत्पद्यत इतीच्छन्ति । तथा च मञ्जरीकेयूरादीनां सुवर्णात्मत्वं व्यवस्थितं मञ्जरीकेयूरात्मत्वं त्वव्यवस्थितमुत्पद्यत इति प्रतिपद्यंते । तेषामेकत्वान्यत्वोभयपक्षस्य सदसत्कार्यवाद प्रतिषेधोपदर्शितं दूषणमभिधेयम् । तच्च "सत्कार्यमेव

---

१. T. आत्मत्वमेकत्वं ।
२. T. सुधिया ।
३. T. तथाहि दर्शने ।
४. S. ह्यसत्; T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते ।
५. T. वादिनः दर्शने ।
६. T. सा० अधिकारद्वारा अधिकारमुखेन वा ।
७. ११,१५ ।
८. ११,१० ।
९. ११,१२ ।
१०. T. ।
११. ११,१५ ।

यस्येष्टम्" इत्यादिनोक्तम्[1] वादद्वयपक्षदोष एकस्मिन् पक्षे प्रयोज्य इति विशेषः ।

§ ५२. येषां तु दर्शने घटादीनामभावेन स्वहेतुभ्योऽन्यत्वमेकत्वं चानभिलाप्यत्वं भावद्रव्यं च सद्धेतुकं[2] तेषां सदसद्वाद निराकरणद्वारा सदपि न भवत्यसदपि न भवतीति विचारेण दूषणमभिधेयम् । तच्चोभयासम्भवे तन्निषेधेन नोभयं भवतीति यदेदमुभयं न सम्भवति तदा कस्य निषेधेन नोभयं भवतीति कल्प्यते इत्यर्थ इत्यनेनोक्तमेव । एवं च यथाक्रमं ।

सदसत् सदसच्चेति नोभयं चेति च क्रमः ।
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥

§ ५३. अन्ये तु व्याचक्षते । एकत्वान्यत्वादिनैव क्रमेण भावानां प्रतिषेधोऽथवा क्रमान्तरेणापीति चेत् । उच्यते

सदसत् सदसच्चेति नोभयं चेति च क्रमः ।
एष प्रयोज्यो विद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥

§ ५४ सच्च । असच्च । सदपि च सतोऽभावोऽसच्च । न सन्न चासत् ।

इत्ययं क्रमो विद्वद्भिरेकत्वादिषु चतुर्षु पक्षेसु नित्यशः प्रयोज्यः । तत्र सादित्यात्मेत्यर्थः । असदित्यनात्मेत्यर्थः । सच्च सतोऽभावोऽसच्चेत्यात्माप्यात्मनोऽभावोऽनात्मापीत्यर्थः । न सन्न चासदिति नात्मापि न चानात्मापीत्यर्थः । एकत्वादिष्वित्येकत्वनन्यत्वमुभयं नोभयमिति ।

§ ५५ तत्र द्वयो र्बहूना वैकत्वमनेकत्वमुभयमनुभयं वा भवति । तत्र येषां पटशुक्लयोरेकत्वमिति पक्षस्तेषां सदित्ययं क्रमो विषयतः काललक्षणतश्च प्रयोज्यः । तत्र तावद्विषयतः । यदि पटशुक्लयोरेकत्वं यत्र यत्र शुक्लस्तत्र तत्र पटेनापि भवितव्यं । यत्र यत्र च पटस्तत्र तत्र शुक्लेनापि भवितव्यम् । अथ यत्र यत्र शुक्लो न तत्र तत्र पटो न च यत्र यत्र पटस्तत्र तत्र शुक्लस्तदा पटशुक्लयोरेकत्वमिति यदिष्यते न तदुपपद्यते । विषय भेदात् । कालादपि । तत्र कालस्त्रिविधः अतीतोऽनागतो वर्तमानश्च । तत्रातीतेऽतीतावस्थायामेव पूर्वजातः शुक्लो दृष्टः । यदि पटशुक्लयोरेकत्वं तदा यदि शुक्लः पूर्वजातः, पटेनापि पूर्वजातेन भवितव्यम् । अथ पट पश्चाज्जातः, शुक्लेनापि पश्चाज्जातेन भवितव्यम् । यदि शुक्ले पूर्वजाते वर्त्तमानः पटः पश्चाज्जायते यत् पूर्वजातं यच्च पश्चाज्जातं न तयोरेकत्वम् । उत्पत्तिक्रमभेदात् । अन्यच्च यदि पटशुक्लयोरेकत्वं तदा शुक्ले पटो विलीयेत् । पटेऽपि च शुक्लो विलीयेत् । यदा शुक्लः शुक्ले विलीयेत न पटः पटेऽपि पट

---

१. ११. १५ । २. अस्पष्टम् ।

एव विलीयेत न शुक्लस्तत्र पटशुक्लयोरेकत्वमिति यदिष्यते तन्न भवति। विलयाविलययोर्भेदात्।

§ ५७. अन्यच्च। शुक्ल इत्युक्ते शुक्ल इत्येवाह न घट इति। पट इत्युक्ते च पट इत्येवाह न शुक्ल इति। यस्माच्छुक्ल इत्युक्ते शुक्ल इत्येवाह पट इत्युक्तेऽपि च पटमेवाह न शुक्लमिति तस्मान्न तयोरेकत्वम्। उक्तानुक्तयो र्भेदात्। लक्ष्यलक्षणयो र्भेदाच्च। इह लक्षणं शुक्लरूपम्। लक्ष्यः पटः। यदि तयोरेकत्वं तदा यदि शुक्लो लक्षणं पटोऽपि लक्षणमेव स्यात्। यदि पटो न लक्षणम् शुक्लोऽपि न लक्षणं स्यात्। यदि शुक्ल एव लक्षणं न पटः पट एव च लक्ष्यो न शुक्लस्तत्र पटशुक्लयोरेकत्वमिति यदिष्यते तन्न भवति। लक्ष्य लक्षणयो र्भेदात्। यथा पटशुक्लयोरेकत्वं प्रतिषिद्ध तथा सर्वेषां भावानामेकत्व प्रतिषेधो विस्तरशोऽभिधेयः।

§ ५८. अत्राह। पटशुक्लयोरेकत्वप्रतिषेध उक्तेऽन्यत्वं वक्तव्यम्। उच्यते। यदि पटशुक्लयोरन्यत्व तदा गुणो द्रव्याधेय इति शुक्लो घटो न भवेत्। यथा यदि यज्ञदत्तो देवदत्तस्य भ्राता न भवेद् देवदत्तोऽपि यज्ञदत्तस्य भ्राता न भवेत्। एवं पटोऽपि शुक्लो न भवेत्।

§ ५९. यदि शुक्लयोगात् पटः शुक्ल इतोष्यते। तत्राप्युच्यते। यदि शुक्लयोगात् पटः शुक्लः स्यात् किमयं पटः शुक्लयोगाच्छुक्ललक्षणं प्राप्नोत्यथ न प्राप्नोति। यदि तावच्छुक्ललक्षणं प्राप्नोति। पटस्तेन शुक्ल एव स्यात्पटत्वं चास्य हीयेत। अथ शुक्ललक्षणं न प्राप्नोति। शुक्ललक्षणा-प्राप्त्यायोगसत्त्वेऽपि पटः शुक्लो न भवति। तत्र शुक्लयोगेन पटः शुक्ल इति यदिष्यते तन्न भवति। यथा पटः शुक्लो न भवति तथा ये पटस्य विशेषा नीलः पीतो रक्तो रक्तपीतः कपिलः कपोतवर्णः कृष्णो दीर्घो ह्रस्वः कोमलः कर्कशन इत्यादयस्तेभ्योऽपि पटोऽन्य एवेति सर्वसम्भवाभावः। सर्वसम्भवाभावे च पट एव न भवति। यथा पटो न भवति तथा सर्वेऽपि भावाः। गुणविशेषा हि तत्तेभ्यो भिन्ना एवेति सर्वसम्भवा भावः।

§ ६०. अत्राह। यदि सदसतोरेकत्वमन्यत्वं च प्रतिषेध्यमुच्यते उभयपक्षः सम्यग्वक्तव्यः। उच्यते। यस्य पटशुक्लयो रेकत्वमन्यत्वं चेति पक्षस्तस्तस्यैकत्व-मन्यत्वं च पूर्ववचनैरेव प्रतिषेधत्वेन व्याख्यातम्।

§ ६१. यस्य पक्षो नोभयं तस्यापि प्रतिषेधः संक्षिप्योच्यते। यदि पटशुक्लयो-र्नैकत्वं न चान्यत्वमुभयलक्षणाप्राप्तेः शुक्लोऽपि शुक्ल एव न भवत्यशुक्लोऽपि न भवति। पटोऽपि पट एव न भवत्यपटोऽपि न भवति। तस्मादुभय लक्षणां

प्राप्तस्य शुक्लस्य किमिति शुक्ल इत्यभिधानं न कृष्ण इति। यस्मात्तस्य शुक्ल इत्यभिधानं न कृष्ण इति तस्माच्छुक्ल एव। लक्षणद्वयाप्राप्तस्य च तस्य पटस्य किमिति पट इत्यभिधानं न घट इति। यस्मात्तस्य पटस्य पट इत्येवाभिधानं न घट इति तस्मात्पट एव। तथा च शुक्ल एव पट एव च सिध्यति। अवश्यं च तयोरेकत्वेनान्यात्वेन वा भवितव्यम्। एकत्वे सति पुनरप्येकत्वप्रतिषेधक्रम एवां मिधेयोऽन्यत्वे त्वन्यप्रतिषेधक्रमः। तथा सर्वस्यापि भावस्य प्रतिषेधक्रमो विस्तारशोऽभिधेय इति ॥२१॥

२४७

§ ६२. अत्राह। यद्येवमसिद्धे नास्ति भावानां स्वभावः कयोपपत्त्या वादिनो भावान् कल्पयन्ति। न तत्र काचिदुपपत्ति। किन्तु—

संतानदृष्टिदोषे हि नित्यो नाम भवेद्यथा।
सामग्रीदृष्टिदोषे हि भावो नाम भवेत्तथा ॥२२॥[1]

§ ६३. यथा प्रतीपाग्निशिखायां प्रतिक्षणं विनश्यन्तां पूर्वापरयोः क्षणयो र्हेतुफलसम्बन्धेऽविच्छेनावस्थिते हेतुप्रत्ययसामग्रीसद्भावे सन् सन्तानो जायते तथा सर्वेषां संस्काराणामुत्पादानन्तरं भग्नाना स्वतो यथावद्धेतुप्रत्ययसामग्री सद्भावे भावाश्रययो र्हेतुफलयोः सम्बन्धस्याविच्छेदेनावस्थानमनादि प्रवर्तते। तस्मात्तस्य सन्तानस्य यथावस्थितस्वभावदर्शने नियतं सन्दिग्धानां विपरीतनिश्चयानां बाह्यानामृषीणां पूर्वनिवासमनुस्मरतामिहं क्षणभङ्गाप्रत्यक्षेण स्कन्धपरम्परासन्तानस्य नियतं दर्शनमहं परो वेति च युज्यते नित्यो भाव इति मतिः।

§ ६४. तथा तां तां सामग्रीं प्रतीत्य भूतभौतिकचित्तचैत्तलक्ष्यलक्षणाद्यात्मकं तदुपादानकं तृण धरणी द्रव्यादिसामग्रीकं गृहादि रूपगन्धादि सामग्रीकं घटादि भावसमग्री (?) मात्माकाशादि च भवति। सामग्रीतः पृथग्भूतो लक्षणसिद्धो धर्मो भूतभौतिकचित्तचैत्तघटादिः। प्रतिबिम्बप्रतिश्रुत्कादिवत्ततस्ततः पृथक् पृथग् लौकिकं विपर्यासं प्रमाणं कृत्वा लोकप्रतिपादनायोपादाय प्रतीत्य वा स्वसामान्यलक्षणं प्रज्ञप्तिमात्रं क्रियते। वेषामपि जातौ सामग्र्येव जायते सामग्र्येव निरुध्यते। तस्मात्सा सामग्री यथावन्न ज्ञायते दृश्यते चेति दोषेण वादिप्रभृतयो रागस्वभावेन परिनिष्पन्नं कल्पयन्तो विपर्यासमात्रादविद्याभावमेव प्रतिपद्यन्ते ॥२२॥

---

१. V. यथा कुदृष्टितो हेतो नित्यता नाम जायते।
कुदृष्टितस्तथा स्कन्धे भावत्वं नाम जायते॥

३४८

§ ६५. यद्येवं भावाभावादस्माकं भावदर्शनं विपरीतं तवापि भावानभ्युपगमे भावेन विना दर्शनं भवेत् । तच्चात्यन्तमयुक्तं दर्शनादर्शनविरोधादिति चेत् । उच्यते । भावो नास्तीति न वयं ब्रूमः । प्रतीत्यसमुत्पादवादात् । किं ते भाववादः । न । प्रतीत्यसमुत्पादवादादेव । कस्ते वाद इति चेत् । प्रतीत्यसमुत्पादवादः । क पुनरर्थः प्रतीत्यसमुत्पादस्य । निःस्वभावोऽर्थः । स्वभावेनानुत्पन्नोऽर्थः । मायामरीचि प्रतिबिम्ब गन्धर्वनगरनिर्माणस्वप्नसदृशस्वभावकार्योत्पादोऽर्थः । शून्यतानात्मर्थः । तथा हि— ।

प्रतीत्य सम्भवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायते ।
न स्वतन्त्र मिदं सर्वं स्वयं तेन न विद्यते ॥२३॥[1]

§ ६६. इह यस्य स्वरूपं स्वभावश्च स्वतन्त्रमपरायत्तं च तस्य स्वत एव सिद्धया न प्रतीत्यसमुत्पादः । संस्कृतास्तु सर्वे प्रतीत्यसमुत्पन्नाः । एवं यस्य भावस्य प्रतीत्यसमुत्पादः स न स्वतन्त्रः । हेतुप्रत्ययाभ्यामुत्पादात् । न स्वतन्त्रमिदं सर्वम् ।तस्माद्यस्य भावस्याधिपति नं [स] स्वभावेन विद्यते । तस्मादिहप्रतीत्यसमुत्पन्नस्य स्वतन्त्रस्वरूपविरहात् स्वतन्त्रस्वरूपहितोऽर्थः शून्यतार्थः । न सर्वभावाभावोऽर्थः । तस्मादिह प्रतीत्य समुत्पन्नं मायावत् । संक्लेशव्यवदानहेत्वपवादात्तदभावदर्शनं विपरीतम् । निःस्वभावत्वाद्भाव दर्शनमपि विपरीतम् । तस्मादेव भावसस्वभाववादिनां प्रतीत्य समुत्पादाभावः शाश्वतोच्छेददृष्टिश्च दोषः ।

§ ६७. अथ यद्यस्वतन्त्रार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थस्तर्हि को भवतास्माकं विरोधः कश्च भवतोऽस्माकं विशेष इति । उच्यते । अयं विशेषो यद्भावान्यथातर्कितुमुक्तं च प्रतीत्य समुत्पादं न वेत्ति । यथा व्यवहाराव्युत्पन्नो वालकुमारः प्रतिबिम्बस्य सत्यतयाध्यारोपणेन यथावदवस्थितस्वभावशून्यतापाकरणात्सस्वभावत्वप्रतीतौ प्रतिबिम्बस्य कल्पनां न जानाति भवानपि तथा प्रतीत्यसमुत्पादाभ्युपगमेऽपि प्रतिबिम्बसमं प्रतीत्यसमुत्पादं स्वभावेन शून्यताभूतमपि स्वरूपेण यथावदवस्थितं नावगच्छति निःस्वभावत्वस्याग्रहणादसत्स्वरूपस्य च सत्स्वरूपत्वेनाध्यारोपितस्य ग्रहणात् । उक्तमपि च [भावान्] न जानाति । निःस्वभावत्वस्याकथनाद्भावस्वरूपस्य कथनाच्च । तस्यादेवं तर्कितमुक्तं चाज्ञात्वात्मान-

---

1. V. प्रतीत्य सम्भवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायते ।
अस्वतन्त्रमिदं सर्वं तेनात्मा नैव विद्यते ॥

मन्यं च वक्ष्यति [भवान्] तस्मादिहास्माकं महति धर्मरागेऽवस्थानाच्छास्त्रकारस्य नायमारम्भो निरर्थकः ॥२३॥

३४९

§ ६८. विरोधेऽपि च यस्मान्नास्ति स्वरूपस्योत्पाद तस्मादेव—

विना फलेन भावानां समवायो न विद्यते ।

सोऽसमवाय आर्याणां समवायः फलाय यः ॥२४॥[१]

§ ६९. यदि भावानां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी स्यात्ते नित्याः स्युः फलनिरपेक्षाश्च । स्वभावो हि फलनिरपेक्षः । नैको भावोऽनिरोधेऽपि स्वल्पमपि फलं साधयितुं शक्नोतीति सामग्र्याः साध्येन फलेनान्योन्यं समवायो भवति । फलनिमित्तस्तु यः समवायः स तत्स्वभावदर्शिनामार्याणामसमवायः सत्यमेव स नाभिमतो ज्ञेयोऽर्थः ॥२४॥

३५०

§ ७०. अतएव विज्ञानं भावस्वरूपमध्यारोपयति । संक्लेशवतोऽज्ञानवशाद्भावेषु रागवतः [पुरुषस्य] संसारप्रवृत्तिबीजस्य सर्वथा निरोधात्संसारनिवृत्तिर्व्यवस्थितेति प्रतिपादयन्नाह—

बीजं भवस्य विज्ञानं विषयास्तस्य गोचराः ।
दृष्टे विषयनैरात्म्ये भवबीजं निरुध्यते ॥२५॥[२]

इति योगाचारे चतुःशतकेऽन्तग्राहप्रतिषेधभावना-
सन्दर्शनं चतुर्दश प्रकरणम् ॥

§ ७१. यथोक्तेन क्रमेण विषयस्य निःस्वभावत्वदर्शनाद्ग्राहहेतोर्भवबीजभूतस्य विज्ञानस्य सर्वथा निवृत्तेः श्रावकाणां बुद्धानामनुत्पादधर्मकथनसमर्थानां बोधिसत्त्वानां च संसारनिवृत्ति र्व्यवस्थिता । तथागतज्ञानोद्भवबीजं बोधिचित्तं तु तत् तेषां न निवर्तते । सर्वेषां तथागतज्ञानलाभस्यावश्यकत्वात् । ये तु तथाविधं बोधिचित्तं नोत्पादयन्ति तेऽपि पश्चादवश्यमुत्पाद्य बोधिसत्त्वचर्ययानुत्तर ज्ञानायारम्भं कुर्युः । इदं चार्यसद्धर्मपुण्डरीकसूत्रादौ मृग्यम् ॥२५॥

---

१. V. विना कार्येण भावेषु समवायो न विद्यते ।
कार्यार्थः समवायो यः स आर्यस्यासमन्वितः ॥

२. V. भववीजं हि विज्ञानं विषयास्तस्य गोचराः ।
दृष्ट्वा विषयनैरात्म्यं भववीजं निरुद्ध्यते ॥

पञ्चदशं प्रकरणम्

संस्कृतार्थप्रतिषेधभावनासन्दर्शनम्

३५१

§ १. अत्राह। विद्यत एव संस्कृतं स्वभावेन तल्लक्षणोत्पादादि सद्भावात्[1]। खरविषाणादि तु नास्ति। न हि तस्य संस्कृतलक्षणमस्ति। संस्कृतस्य तु संस्कृतलक्षणमुत्पादाद्यस्ति। तस्मादस्ति संस्कृतमिति। उच्यते—

> असदन्ते जायते चेत् तेनासज्जायते कुतः।
> सदेवान्ते जायते चेत् तेन सज्जायते कुतः ॥१॥[2]

§ २. यदि तस्य लक्षणमतिरिक्तं स्याद्विद्यमानमपि संस्कृतं न विद्येत। कथं कृत्वेति। इहोत्पादोऽयं संस्कृतं भावमुत्पादयति चेद्विद्यमानं वा संस्कृतमुत्पादयति। तत्र तावद्यस्यासत्कार्यवादस्तस्य वीजावस्थायामङ्कुराभावाद्धेतुप्रत्ययसामग्र्या बीजस्यान्त्यक्षणादङ्कुरो जायते। तस्मात्तस्य वादिनः असदन्ते जायते चेद् इति पक्षः। न तु युज्यतेऽसत उद्भवः खरविषाणादेरप्युत्पादप्रसङ्गात्। तस्मात् तेनासज्जायते कुतः इत्युक्तम्। तेनेत्यसत्त्वं हेतुः कुत इति न सम्भवति। असत्त्वादसतो नोत्पाद इत्यर्थः। अथैतद्दोषभयात्सत्कार्यवादे सत एवोत्पाद इष्यते। तथा सति ''सदेवान्ते जायते चेत्त न सज्जायते कुतः ॥

§ ३. यद्युत्पादादतिप्राग् [illegible] कल्प्यते तदा नोत्पादः। सद्भावाद् [एव]। अथ सत उत्पादः परिकल्प्यते तदोत्पादानवस्थाप्रसङ्गः। तस्य पुनरुत्पादाद् बालपक्षः स्यात्। न च स सम्भवतीति न सतोऽप्युत्पादः ॥१॥

---

१. तीणि 'मानि भिक्खवे' उपपादो पञ्ञायति वयो पञ्ञायति ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति, महावग्ग, पृ० १४५. (poussion).

२. V. अभावाच्चेद्भावादन्यस्तदा भावः कुतो भवेत्।
इष्टं चेद्भावतो जन्म तदा भावः कुतो भवेत् ॥

३५२

§ ४. अन्यच्च

फलेन नाश्यते हेतुस्तेनासन्नैव जायते।
न सिद्धिरस्ति सिद्धस्य तेन सन्नापि जायते ॥२॥[1]

§ ५. यस्माज्जायमानेनाङ्कुरेण बीजं नाम हेतुर्नाश्यते तस्यादसन्नेवाङ्कुरो बीजाज्जायत इत्यपि न युज्यते। यथा यव गोधूमादिष्वसन्तस्ते शाल्यङ्कुरा विकारेणापि न जायन्ते उद्भूते तैले तिलादिवदङ्कुरोत्पादे तद्बीजं नश्यति। तस्मान्नासज्जायते। "नसिद्धिरस्ति सिद्धस्य तेन सन्नापि जायते।" सिद्धोह्यङ्कुरो न पुनः सिध्यतीति न सतोऽप्युत्पादः ॥२॥

३५३

§ ६. [illegible]त्पादो न भवतीत्युद्भावयन्नाह—

जातिस्तदा न भवति न जातिरन्यदापि च।
तदान्यदा चेज्जातिः कदा जाति र्भविष्यति ॥३॥[2]

§ ७. यदाङ्कुरोऽयमात्मभावं लभते तदा सिद्धरूप इति नास्य जातिः सम्भवति। यदायमसिद्धरूपस्तदा [अपि] अस्य जाति र्न युज्यते असिद्धस्या-सद्भावेनाश्रिता जातिर्नाम न सम्भवतीत्यन्यदा जाति र्न सम्भवति। किञ्चि-त्सिध्यति किञ्चित्तु न सिध्यतीतीहाप्युभयोः पक्षयोरुक्तदोष प्राप्ति र्न तदा स्वपरयो र्जाति सम्भवति। यदैवं कालांशत्रयेऽपि जाति र्न सम्भवति तदा तत्प्रकारान्तरासम्भवात्कदापि जाति र्न भवति। यत्रास्योत्पादः स कालो नास्ती-त्यभिप्रायः ॥३॥

३५४

§ ८. अत्राह दुग्धं दधि भावेन जायते। इदमपि न युज्यते। दुग्धस्य दाधि-भावासम्भवात्। दुग्धभावेनावस्थितस्य दुग्धस्य तावत्तदात्मनोत्पत्ति र्न भवति। तस्य तस्मिन्दुग्धात्मना सद्भावात्। तस्मादेवं सति।

---

१. V. हेतोर्विनाशः कार्येण तेनाभावो न जायते।
निष्पन्नान्नैव निष्पत्ति र्भावोऽप्येवं न जायते ॥

२. V. ततो भावो न भवति नान्यतोऽपि स जायते।
ततोऽन्यतो न चेज्जन्म तदा जन्म कुतो भवेत् ॥

तत्रैव तस्य भावस्य यथा जाति र्न विद्यते।
तथान्यस्यापि भावस्य तत्र जाति र्न विद्यते ॥४॥[१]

§ ९ यथा दुग्धस्वभावेनावस्थितस्य दुग्धस्य जाति र्न सम्भवति। तथा दुग्धादन्यस्य दधिभावस्यापि जाति र्न सम्भवति। यस्माद् दुग्धे दधनि भूते दुग्धं दधीति न व्यपदिश्यते। यदा दधि तदा न तद्दुग्धम्। अपि च यदा तद्दुग्धं तदा न तद्दधीति दुग्धं दधि जायत इति न युज्यते ॥४॥

३५५

§ १० इतोऽपि न संस्कृतस्योत्पादः। तथाहि—।

आदिमध्यावसानानां प्रागुत्पत्ते र्न सम्भवः।
प्रवृत्तं कथमेकैकं सत्यभावे द्वये द्वयोः ॥५॥[२]

§ ११ आदिमध्यावसानानां प्रागुत्पत्ते र्न सम्भवः। इहादिमध्यावसानान्युत्पादस्थितिभङ्गाः। ते तावदुत्पादानागतावस्थायां सत्स्वरूपेण न विद्यन्त इति प्रागुत्पत्तेः संस्कृतं न सम्भवति। अथोत्पत्तिकाले गृहीतजन्मनः स्थितिकाले तिष्ठितो भङ्गकाले भङ्गो भवतीति मन्यते तदपि न युज्यते। तथाहि—

प्रवृत्तं कथमेकैकं सत्यभावे द्वयो र्द्वयोः ॥

§ १२ इहोत्पादकाले स्थितिभङ्गयो र्द्वयोरभावात् स्थितिभङ्गविरहितस्य संस्कृतस्याभावान्नास्त्युत्पादः। तथा स्थितिकाले भङ्गकाले च द्वयोर्द्वयोरभावादेकैकस्य प्रवृत्ति र्न सम्भवति। तदभावाच्च नास्ति संस्कृतम् ॥५॥

३५६

§ १३ इतश्च न युक्तः संस्कृतस्योत्पादः। यतः—

अभावे परभावस्य स्वभावो नैव विद्यते।
उभाभ्यां स्वपराभ्यां तदुत्पादो नैव विद्यते ॥६॥[३]

---

१. V. यथा तस्यैव भावस्य तस्माज्जाति र्न विद्यते।
भावस्यापि तथान्यस्य तस्माज्जाति र्न विद्यते ॥

२. V. आदि र्मध्यं तथान्तश्च जन्मनः प्रान्न वर्तते।
द्वयोरभावे प्रारब्धमेकैकं जायते कथम् ॥

३. V. येन भावाद्विनान्यस्मात् स्वयं भावो न जायते।
तेन स्वश्च परश्चेति द्वयो र्नूनं न सम्भवः ॥
तुलना—अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते MK. १.३

§ १४ इह घटस्य स्वतः सिद्धं स्वरूपं नास्ति कपालापेक्षणात् । कपालानामपि तेषां नास्ति स्वभावः । श रीरापेक्षणात् । तस्मादेवमसत्यन्यभावे कपाले नास्ति घटस्य स्वभावः । तथा कपालानां कपालस्वभावाभावे तेषां घटमपेक्ष्यान्यत्वमपि न भवति । यस्मादेवं स्वभावं विना कस्यचिदप्यन्यत्वं नास्ति तस्मादुभयत उत्पादो न सम्भवति । अन्यच्च स्वरूपासिद्धेरन्यतोऽपि न सम्भवतीति नास्त्युत्पादः ॥६॥

३५७

§ १५ अन्यच्च । किमयमुत्पाद[1] उत्पत्तुः पूर्वं वा पश्चाद्वा युगपद्वानुबद्धः । तत्र यदि पूर्वम् । न युज्यते । आश्रयाभावात् । अथ पश्चात् । तदपि न युज्यते । अजातस्यासत्वादुत्पादवैयर्थ्याच्च । अथ युगपत् । तदा द्वयमप्युपकारनिरपेक्षम् । तस्मादेवं सति— ।

पूर्वं पश्चाच्च युगपद्वक्तुं खलु न शक्यते ।
तस्माद्घटस्य जातेश्च युगपन्नास्ति सम्भवः ॥७॥[2]

§ १६ यस्मादुत्पत्तुरुत्पादस्य च क्रमकथनं न सम्भवति तस्माद्घटस्य जातेश्च युगपन्नास्ति सम्भवः ॥ यदा सद्भाव एव नास्ति तदा घटो जायत इति न युज्यते ॥७॥

३५८

§ १७ अत्राह । अस्त्येव घटस्योत्पादः । यद्ययं नोत्पद्येत नास्य तदा जीर्णं रूपं भवेत् । दृश्यते चास्य हानिलक्षणं जीर्णं रूपम् । तस्माज्जीर्णरूपसद्भावे नास्त्येवोत्पादः । उच्यते । भवेदुत्पादो यदि जीर्णमिति किञ्चिद् भवेत् । न पुनः सम्भवति । कथमिति चेत् । इह यदि जीर्णमिति किञ्चित्स्यात् पूर्वमेव तज्जातं पश्चाद्वा जायते । उभयथापि न जायत इति प्रतिपादयन्नाह—

न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते ।
न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः ॥२१. ।१३.
न स्वतो नापि परतो न द्वयाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥१.१
सतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।।मा० का०, V.२२

[1] T. अनुत्पादः

[2] V. पूर्वं परं च युगपद्वक्तुमेव न शक्यते ।
घटस्य जन्मनश्चातो युगपन्नैव सम्भवः ॥

नैव जीर्णं पूर्वजातं पूर्वजातत्वहेतुना ।
पश्चात्सवत्र जातं चेत्पश्चाज्जातं न वर्तते ॥८॥[1]

§ १८. जीर्णस्य यज्जीर्णत्वं तद्यदि लोके वस्तुनः पूर्वजातं कल्प्यते घटस्य पूर्वं जाताया अवस्थाया जीर्णत्वं न युज्यते । तदा तस्या नूतनेति व्यपदेशात् । पश्चाज्जातायाश्चावस्थाया अविकलायाः पश्चाज्जातत्वेन नूतनत्वम् । कुतो जीर्णत्वम् । यदि पूर्वं जातस्य सा साम्प्रतं जीर्णेति । किं [सा] सैवान्या वा । यदि सा सैव तदा नूतनाया अवस्थाया अविनाशान्न सा जीर्णा । अथान्या । सापि तद्वज्जातेति नूतनैवेति न जीर्णा । तस्मादेवं सति जीर्णत्वाभावाद्दर्शित उत्पादो न सम्भवति ॥८॥

३५९

§ १९. इतोऽपि नास्त्युत्पादः । न हि स कालत्रयेऽपि युज्यते । तदेव प्रतिपादयन्नाह—

वर्तमानस्य भावस्य तस्मादेव न सम्भवः ।
नाना गतात्सम्भवोऽस्ति नातीतानपि विद्यते ॥९॥[2]

§ २०. वर्तमानोऽर्थः । स खलु तस्मादेव न सम्भवति । हेतुफलयोरयौगपद्यात् । यौगपद्यभावेऽपि हेतुफलभावानुपपत्तेः । "नानागतात्सम्भवोऽस्ति ।"

अनागतस्यासद्भावेन निरात्मकत्वात् । नातीतादपि सम्भवो विद्यते । अतीतस्याप्यसद्भावात् । यदा कालत्रयेऽपि सम्भवो नास्ति तदा नास्ति स्वरूपेणोत्पाद इति स्थितम् ॥९॥

३६०

§ २१. अन्यच्च । यदि तेषां भावानां स्वभावेन सद्भावस्तदा स्वभावस्यानिवृत्ते र्जात भावाः स्वभावेनानुद्भूतत्वादुद्भवाभावात्कुत आगच्छन्ति । निरुद्धस्वभावत्वेऽपि भूत्वा सद्भावाभावात्क गच्छन्ति । न चेदं सम्भवति । उक्तं हि—

---

१. V. पूर्वस्य पूर्वजातत्वाल्लाभः कोऽपि न विद्यते ।
पश्चात्सञ्जायमानोऽपि पश्चाज्जातो न विद्यते ॥

२. V. अनागतान्न भवति नातीतादपि जायते ।
वर्तमानस्य भावस्य तस्मादेव न सम्भवः ॥

भगवता–एवं चक्षुर्भिक्षव उत्पद्यमानं न कुतश्चिदागच्छति निरुध्यमानं न क्वचिद् गच्छति[१]। एवं आर्यहस्तिकक्ष्यसूत्रेऽप्युक्तम्[२]—

यदि कोचि धर्माण भवेत्स्वभावः, तत्रैव गच्छेय जिनः सश्रावकः।
कूटस्थधर्माण सिया न निर्वृती, न निष्प्रपञ्चो भुवि जातु पण्डितः ॥[३]

तस्मादेवं यस्यार्थस्य—।

उत्पन्नस्यागति र्नास्ति निरुद्धस्य गतिस्तथा।
एवं सति कथं नैव भवो मायोपमो भवेत् ॥१०॥[४]

§ २२. ततो नूनं नास्ति स्वभावः। यदि तस्य स्वभावो नास्ति किमस्तीति चेत्। उच्यते। यत्संक्लेशव्यवदानहेतुनिबन्धनं कृतकं रूपं प्रतीत्यसमुत्पन्नं तदस्ति मायाकरिगजतुरङ्गादिवत्। तच्च विपर्यस्तैर्बालैः सस्वभावमेव कल्प्यते। आर्यैस्तु मायामरीचिवन्निःस्वभावोऽर्थो यथावत्परिच्छिद्यते। यथोक्तं सूत्रे

सत्वो नरो मानव जात युज्यते।
जातो मृतोऽस्मिन्न च कोचि जायति।
मायैव धर्मा हि स्वभावशून्या
ज्ञातुं समर्थास्तु न भोन्ति तीर्थिकाः ॥

इति। आचार्योऽप्यार्यज्ञानमपेक्ष्य विचारफलमुद्भावयन्नाह
एवं सति कथं नैव भवो मायोपमो भवेत् ॥

§ २३. इति। प्रतीत्यसमुत्पन्नं हि यथावद्दृष्टं मायिकसदृशं वन्ध्यापुत्र इव नास्ति। यद्यनेन विचारेणोत्पादस्य सर्वथा प्रतिसिद्धत्वात्संस्कृतं सर्वथा नोत्पद्यत इति प्रतिपिपादयिषितं तदा तन्मायावदेव न जायते। वन्ध्यापुत्रादिभिरुपमायां तु प्रतीत्यसमुत्पादाभावप्रसङ्गभयान्न तैरुपमीयते। अपि तु तदविरुद्धैर्मायादिभिः।

१. परमार्थशून्यता, बोधिचर्यावतारपञ्जिकाया (पृ० ५८१) मुद्धृतः।
२. उद्धृतम्--MV. ३८८, ५१४; SS. पृ० १३३, ४०४;
SS. पृ० ६७; MVT. ६५-७५
३. उद्धृतम्--MV. ३८८, ५१४;
४. V. उत्पन्नस्यागति र्नास्ति निरुद्धस्य तथा गतिः।
भवो मायाप्रतीकाशः कथमेवं न जायते ॥

तस्मान्माया कृतस्येव भवस्यासारतावलोकनेऽसारसंसारसर्वरागक्षयाद्विमुक्ति र्भविष्यतीतीह न किञ्चिदाचार्यस्यायुक्तम् । इह प्रतीत्यसमुत्पादानपवादेन लौकिक सर्वव्यवस्थाया अविनाशे यथावत्सम्यगवगमान्मोक्षः सिध्यतीति ॥१०॥

३६१

§ २४. एवं संस्कृतं मायाकृतमिवोक्त्वा तल्लक्षणान्यपि न सद्रूपाणीति प्रतिपादयन्नाह –

* उत्पादस्थितिभङ्गानां युगपन्नास्ति सम्भवः ।
क्रमशः सम्भवो नास्ति सम्भवो विद्यतेकदा ॥११॥

§ २५. अन्योन्य विरोधात्तावदुत्पादस्थिति भङ्गानामेकस्मिन् क्षणे न सम्भवः । क्रमशोऽपि नास्ति सम्भवः । द्वयोर्द्वयोरभाव एकैकस्यासम्भवात् । क्रमयौगपद्याभ्यामन्यत्र सिद्धे हेत्वन्तरानवलोकनादुक्तं "सम्भवो विद्यते कदा ॥"

३६२

§ २६. अन्यच्च । उत्पादादीनामेषां संस्कारस्कन्धान्तर्गतत्वात् संस्कृतत्वम् तस्मान्नियतं तेषामप्यन्ये संस्कृतलक्षणैरेकान्तेन भवितव्यमिति प्रतिपादयन्नाह— ।

उत्पादादिषु सर्वेषु सर्वेषां सम्भवः पुनः ।
तस्मादुत्पादवद्भङ्गो भङ्गवद् दृश्यते स्थितिः ॥१२॥[1]

§ २७. उत्पादादिषु संस्कृतत्वे नाभ्युपगतेषुवुत्पादस्थितिभङ्गेषु सर्वेषां सम्भवो भवेत् । पुनः सम्भवे चोत्पादस्योत्पादान्तरं भवेत् । यथोत्पादस्योत्पादान्तरन्याय [स्तथा] तस्माद्उत्पादवद्भङ्गः । भङ्गस्यापि संस्कृतत्वेन लक्षणत्रयप्रयोगः । तस्माद् भङ्गस्यापि भङ्गान्तरसद्भावाद् भङ्गस्य भङ्गो भवेत् । तेषामप्यन्ये तेषामप्यन्य इत्यनवस्था । अनवस्थायां च सर्वेशां भावानामसिद्धे र्न सन्ति स्वभावेन संस्कृतलक्षणानि ॥१२॥

३६३

§ २८. अपि च । एषां लक्षणानां सम्भवे लक्ष्यादभिन्नरूपेणाभिन्नरूपेण वा लक्षणकर्मणि प्रवृतिः । तत्र तावत् —

---

१. V. उत्पादादिषु सर्वेषु पुनः सर्वस्य सम्भवः ।
तस्मादुत्पादवद् भङ्गो दृश्यते भङ्गवत्स्थितिः ॥

लक्ष्यं चेल्लक्षणादन्यल्लक्ष्यस्या नित्यता कुतः।
चतुर्णामथवा व्यक्तं सद्भावो नैव विद्यते ॥१३॥[1]

§ २९. यथा शीतोष्णसुखदुःखादीनामेकैकस्याभावादन्यत्वं वर्तते, तथा लक्ष्यमपि लक्ष्यणाद् भिन्नं प्रवर्तते चेदनित्यत्वं न भवेत्। संस्कृतं च विनानित्यत्वं न सम्भवतीति नास्यान्यत्वं युक्तम्। अथास्य दोषस्य परिजिहीर्षया लक्ष्यलक्षणयोरन्यत्वं कल्प्यते तदायमपरो दोषः। तथाहि "चतुर्णामथवा व्यक्तं सद्भावो नैव विद्यते ॥" यदि लक्षणत्रयं लक्ष्य चैकमेवाभ्युपगम्यते तदा लक्षणत्रयं लक्ष्यं चेति चत्वारोऽ[2]पि भावा न भवेयुः। कथमिति। इहैक्याभ्युपगमे लक्ष्यं न युज्यते। लक्ष्यमपि च लक्ष्यं न युज्यत इति चत्वार्यपि न भवति। अपि च स्वरूपासिद्ध्या तत्त्वमन्यत्वं च नाभ्युपगन्तव्यम् ॥१३॥

३६४

§ ३०. अत्राह। सन्त्येवोत्पादादयस्तेषां [illegible]। इहाङ्कुरादयस्तां हेतुसामग्रीं प्रतीत्योत्पद्यन्त इति तदभिज्ञा व्याचक्षते। यद्युत्पादादयो न स्युर्हेतुसामग्री व्यर्था स्यात्। न तु व्यर्था। तस्मात्सन्त्येवोत्पादादयः। उच्यते। स्युरुत्पादादयो यदि किञ्चित्कुतश्चिदुत्पद्येत। न तु सम्भवतीति प्रतिपादयन्नाह—।

*** न भावाज्जायतो भावोऽभावोऽभावान्न जायते।**
नाभावाज्जायतेऽभावोऽभावो भावान्न जायते ॥१४॥[3]

§ ३१. भावस्तावत्सिद्धरूपोऽङ्कुरो भावादविकृताद्बीजाज्जायत इति न सम्भवति। न ह्यविक्रियमाणस्य बीजस्य जनकत्वं युज्यते। न च सिद्धस्याङ्कुरस्य भावस्य रूपं पुनरपि जायत इति युक्तम्। अभावादपि न जायते। अभावादग्निदग्धे बीजे फलजनकशक्तिरभाव उत्पत्तिलक्षणवतो भावस्य पुनरप्युत्पादो न भवतीत्यभावान्न जायते। अभावादप्यभावो न जायते। न ह्यभावात्किञ्चिदुत्पत्तुं शक्नोति। अभावस्य वन्ध्यापुत्रादिवदुत्पादासम्भवान्नभावादप्यभावो

---

१. V. भिन्नं चेल्लक्षनाल्लक्षणं लक्ष्यस्यानित्यता कुतः।
चतुर्णामपि तद्व्यक्तं सत्स्वभावो न विद्यते ॥

२. मूलमाध्यमिक कारिका ,७ — लक्ष्य ,लक्षण, भाव, अभावश्च।

३. V. भावो न जायते भावाद्भावोऽभावान्न जायते।
न भावो जायतेऽभावादभावो भावतो न च ॥

तुलनार्थ — माध्यामिककारिका, २१. १२

जायते। भावादप्यभावो न जायते। उक्तदोषवज्रपातात्। तथा च भावादप्यभावो न जायते। यदा भावादभावच्च भावोऽभावश्च न जायते तदा जाति नं सम्भवतीति कोऽस्ति हेतुप्रत्ययसामग्रयाभाव: तुच्छोऽयम् ॥१४॥

३६५

§ ३२. इतोऽपि नास्ति भावो। उत्पादभङ्गयोरयुक्तत्वात्। इहोत्पादो भावस्य स्वभावार्थोऽभावस्य वा स्वभावार्थः कल्प्यते। एवं भङ्गोऽपि कल्प्यते चेद् भावस्याभावस्य वा कल्प्यते। सर्वथापि न सम्भवतीति प्रतिपादयन्नाह—

भावो नैव भवेद्भावोऽभावो च भवेन्न भावो।
भवेद्भावो नाभावो भावोऽभावो भवेन्न च ॥१५॥

§ ३३. तत्र भाव इति जातो लब्धात्मभावोऽर्थः। स पुनरपि भावो न भवेत्। पुनरपि न जायेत सत उत्पादवैयर्थ्यात्। एवं च "भावो नैव भवेद्भावः।" अभावोऽपि भावो न भवेत्। अभाव इत्यसन् कथं भावो भवेत्? वन्ध्यापुत्रस्याप्युत्पादप्रसङ्गात्। एवं सत्यभावोऽपि भावो न भवेत्। एवं तावद्भावस्य न भावो न चाभावो भवेदिति न सम्भवत्युत्पादः। भङ्गोप्यस्य न सम्भवति। कथमिति। अभावस्तावन्नाभावो भवेत् न ह्यसतः खरविषाणस्येवाभावः। तस्मादभावो नाभावो भवेत्। भावोऽपि नाभावो भवेत्। परस्परविरोधात्। अभावाभावे भङ्गाभावः। उतपादभङ्गाभावे च नास्ति संस्कृतमिति सिध्यति। यथोक्तं भगवता—

संस्कृतऽसंस्कृतसर्वं विविक्ता, नास्ति विकल्पन तेषमृषीणाम्।
सर्वगतीपु असंस्कृत प्राप्ता, दृष्टिगते हि सदैव विविक्ता ॥[१]

इति ॥१५॥

३६६

§ ३४. अत्राह। जातो न जायतेऽजातोऽपि न जायते। निषिद्धो हि भावाभावयो र्जातिः। किं तर्हीति चेत्। जायमानोऽर्थो जायते। इदमपि न युक्तमिति प्रतिपादयन्नाह—।

*** जायमानार्द्धजातत्वाज्जायमानो न जायते।**
अथवा जायमानत्वं सर्वस्यैव प्रसज्यते ॥१६॥[२]

§ ३५. "जायमानार्द्धजातत्वाज्जायमानो न जायते"। यदि यस्य किञ्चिज्जातं किञ्चिदजातं तज्जायमानं तर्ह्येवं न तज्जायमानम्। जाताजातानुप्रवेशेन नापरस्तृतीयो जायमानस्य कालाकारः। तस्मादसत्वेन जायमानो न जायते। यद्यभय-

१. MV. पृ० १७६। २. MV. पृ० ८०।

रूपं जायमानम् । तस्मादेव तस्य यत्किञ्चिजातं तज्जातान्तर्गतत्वान्न जायते । भावो न जायत इत्युक्तः । अथ यदि जाताजातयो र्जायमानत्वं कल्प्यते । तथा सत्यतीतानागतयो र्जायमानत्वं स्यादिति प्रतिपादयन्नाह

§ ३६. "अथवा जायमानत्वं सर्वस्यैव प्रसज्यते ।।" इत्युक्तम् । प्राप्तजन्मव्यापारो जातो नावतिष्ठत इत्यतीत एव भवति । अजातोऽनागतो भवति । तस्मादेवेह जायमानस्य जातिः कल्प्यते । अथवा कालत्रये सर्वमेव जायमानान्तर्गतमथवा न किमपि जायमानमस्तीति स्थितम् ।।१६।।

३६७

§ ३७. अपि च । यो जायमानो भावो वर्तत इति परिकल्प्यते स किं जायमानात्मना कार्य उत जायमानात्मनाऽकार्यः । उभयदर्शनेऽपि दोष इति प्रतिपादयन्नाह—

जायमानात्मना कार्यो जायमानो न जायते ।
जायमानात्मनाऽकार्यो जायमानो न जायते ।।१७।।[१]

§ ३८. यो जायमानस्वभावः स तदात्मना व्यवस्थिते र्न कार्यः । यो जायमानात्मनाऽकार्यः सोऽपि न जायमानो भवेत् । जायमानात्मनाऽभूतत्वात् । यो जायमानात्मना कार्यः सोऽप्यजायमान इव जायमानो न भवतीति न जायमानः । जायमानाभावाच्च जायमानो न जायते ।।१७।।

३६८

§ ३९. अत्राह । अस्त्येक स जायमानोऽर्थोऽतीतानागतयो र्मध्येऽवस्थानात् । इहातीतानागतयो र्मध्ये जायमानो नाम विद्यते । यदि न विद्येत किमपेक्ष्यातीतानागतयो र्व्यवस्था स्यात् । तत्सद्भावे हि सोऽनागतोऽर्थोऽनागतो नाम अतिक्रान्तश्च सोऽतीतो नामोच्यते । ततो जायमानापेक्षणादेव तत्कालद्वयं युज्यते । उच्यते ।

अन्तरेण विना यस्य द्वयस्यास्ति न सम्भवः ।[२]
जायमानो न तस्यास्ति स्यात्तस्याप्यन्तरं यतः ।।१८।।

§ ४० यस्य वादिनो[३]ऽन्तरेण विना मध्यं विनातीतानागतस्य द्वयस्य नास्ति सम्भवः [तस्य][४] जायमानो नास्ति । कथं कृत्वा । "स्यात्तस्याप्यन्तरं यतः ।" यथा जायमानस्यातीतानागतान्तर्वर्तित्वमेवं तस्यापि जायमानस्य जाता-

---

१ V. जायमान स्वरूपेण जायमानो न जायते ।
जायमानास्वरूपेण जायमानो न जायते ।।

२. V.

३. T. वादिनो दर्शने ४. T.; S. विच्छेो वर्तते

जातरूपस्य मध्येन भवितव्यं यदपेक्ष्य जाताजातव्यवस्थानं स्यात् । तच्चैतदशक्यं जाताजातयोरन्तरा तृतीयं जायमानं नाम व्यवस्थापयितुम् । सर्वत्रैव जाताजातयोरन्तरा जायमानकल्पनानवस्थाप्रसङ्गात् ॥१८॥

३६९

§ ४१. अत्राह ।[१] नैवार्द्धजातो जायमानो यतो यथोपवर्णितदोषप्रसङ्गः स्यात् । किं तर्हि । यस्य निरोधेन[२] जातः पदार्थो भवति स जात[३]प्रागवस्थारूपोऽर्थो जायमान इत्युच्यत[४] इति तदेव प्रतिपादयन्नाह—।

*** जायमाननिरोधेन जात उत्पद्यते यतः ।**
ततोऽन्यस्यापि सद्भावो जायमानस्य दृश्यते ॥१९॥

यस्माज्जायमाननिरोधेन जातः पदार्थो भवति तस्मादर्धजातव्यतिरेकेणाप्यस्त्येव जातमानः पदार्थ इति ॥१९॥

३७०

§ ४२. अत्रोच्यते —

जातो यदा तदा नास्ति जायमानस्य सम्भवः ।
जात उत्पद्यते कस्माज्जायमानो यदा तदा ॥२०॥

§ ४३. "जातो यदा तदा नास्ति जायमानस्य सम्भवः । यदा तवदयंपदार्थो जात इत्युच्यते तदा जायमानो[५] नास्ति । [illegible] जात इत्येव[६] नास्ति येन[७] जातेन जायमानोऽनुमीयेत । अथ जातोऽपि जायमानः स्यात्तस्य तद्युत्पादासम्भवो जायमानत्वादिति प्रतिपादयन्नाह "जात उत्पद्यते कस्माज्जायमाने यद तदा ॥"

यदा जात एवार्थो जायमान इत्युच्यते तदा स जायमानोऽर्थः कस्मादुत्पद्यत इति परिकल्प्यते । सिद्धत्वादुत्पाद परिकल्पोऽस्य न युक्त इत्यभिप्रायः । ततश्च जायमानो जायत इति न युज्यते ॥२०॥

३७१

§ ४४. अत्राह । जन्माभिमुखत्वादजातोऽपि[८] जायमानो जात इत्युच्यते ततश्च जात एव जायमानो न चास्योत्पादवैयर्थ्यमिति । एवमपि यदि ।

---

१. T. अत्राह यस्य ।
२. T.; S. निरोधे ।
३. T.; S. जातः ।
४. T. इति ।
५. S. जायमानं ।
६. T; S. एवं ।
७. T.; S. अतो ।
८. T. अजातोऽपि पदार्थोऽयं ।

*** अजातो जात इत्येव[1] जायमान कृतः[2] किल ।**
भेदाभावाद्घटो[3]ऽभावस्तदा किं न विकल्प्यते ॥२१॥

§ ४५ अजातो जात इत्येव जायमान कृतः किल । यद्यजात एव जायमानः पदार्थो जन्माभिमुख्यात्परेण जात इति कल्पितो[4] जाताजातयोः "भेदाभावाद्घटोऽभावस्तदा किं न विकल्प्यते ॥" जातावस्थ एव हि पदार्थो घट इत्यभिधीयते । जाताजातयोश्चै[5]क्यात् प्रागभावेन जातोऽपि घटोऽभाव एवेति स्यात् । न चैतत्सम्भवतीत्ययुक्तमेतत् ॥२१॥

३७२

§ ४६ अथापि स्यात् । नैव जायमानाजातयो र्भेदाभावः । उत्पत्तिक्रियया-विश्यमानो हि पदार्थो जायमान इति । उच्यते । स च[5]

*** अनिष्पन्नोप्यजातात्तु जायमानो बहिष्कृतः ।**
तथापि जायतेऽजातो[6] यतो जाताद्बहिष्कृतः ॥२२॥

§ ४७ अनिष्पन्नोऽप्यजातात्तु जायमानो बहिष्कृतः । यद्यप्यनागतादनिष्पन्न-रूपोऽपि पदार्थो जायमानो बहिर्व्यवस्थितः । "तथापि जायतेऽजातो यतो जाता-द्बहिष्कृतः ॥" यथाऽजाताज्जायमानो बहिष्कृतः क्रियावेशादेवं जातादपि बहिष्कृत एवा[7]निष्पन्नरूपत्वात् । ततश्चाजात एव जायत इत्यापन्नमिति नास्ति जायमानो[8] नाम ॥२२॥

३७३

§ ४८ न च केवलं जाताद्बहिर्भूतत्वादजात एव जायते । इतश्चाजात एव जायते । [9]यस्मात्परस्य— ।

नासीत्प्राग् जायमानोऽपि पश्चाच्च किल विद्यते ।
तेनापि जायतेऽजातो नाभूतो नाम जायते ॥२३॥

§ ४९ [10]नासीन्नाभूदित्यर्थः । योऽसाविदानीं जायमानत्वेन व्यपदिश्यते स नासीत्[11] । [12]वर्तमानावस्थायाः प्रागतीते[13] काले स जायमानोऽर्थोऽविद्यमानोऽपि पश्चात्किल जायमानो भवति । अतोप्यजात एव जायमानो भवति जनिक्रिया-वेशकाले । ततश्चास्याजातत्वेनाभूतत्वम् । न चाभूतस्यालब्धात्मभावस्य निरा-

---

१. T; S. इत्येवं ।
२. T.; S. कुतः ।
३. S. घटाभावाद् घटो ।
४. T. एवं सति जाताजातयोः ।
५. T. न तत्र "स च" शब्दो ।
६. S. जातो ।
७. T. एव सः ।
८. S. जायमानं ।
९. T. तथाहि ।
१०. S. आसीच्छब्दश्चिरानुक्रान्ताभिधायी ।
११. T. जायमानावस्थायाः, प्राक्कुत्रापि नास्तीति ।
१२. S. प्राक्शब्दस्तु अवधिवचनः ।
१३. T. "वर्तमानावस्थायाः प्राक्" इति तत्र न वर्तते ।

श्रया[१] जनिक्रिया प्रवर्तितुमुत्सहत इत्याह नाभूतो नाम जायते इति ॥२३॥

३७४

§ ५०. अपि च ।

*** जायतेऽस्तीति निष्पन्नो नास्तीत्यकृत उच्यते ।**
जायमानो यदा नास्ति[२] तदा को नाम स स्मृतः ॥२४॥

§ ५१. अस्तीत्यनेन निष्पन्न उच्यते। निष्पन्न एव हि पदार्थोऽस्तीति जायते। अस्तीति भवतीत्यर्थः। नास्तीत्येनेनाप्यकृतोऽनिष्पन्न उच्यते। तदेतदवस्थाद्वयं विरहय्य "जायमानो यदा नास्ति तदा को नाम स स्मृतः ॥"

इत्थमयं पदार्थो भवतीति जायमानावस्थो भावो यदा न शक्यते व्यपदेष्टुं, तदासावनिर्धार्यमाण स्वरूपत्वादसन्नेवेति युक्त[३]मवसातुम् ॥२४॥

३७५

§ ५२. तदेवं यथोपवर्णितेन विचारेण जायमानस्यासम्भवात् ।

कारणव्यतिरेकेण यदा कार्यं न विद्यते ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तदा नैवोपपद्यते ॥२५॥

इति योगाचारे चतुःशतके संस्कृतार्थप्रतिषेध-
भावनासन्दर्शनं पञ्चदशं प्रकरणम् ।

§ ५३. यदा कारणात्पृथग्भूतं कार्यं विचार्यमाणं न सम्भवति तदा निराश्रया-प्रवृत्तिः कार्यस्योत्पादो निवृत्तिश्च कारणस्य विनाशश्च न विद्यते। यथोक्तं भगवता—

सत्वो नरो मानव जात युज्यति, जातो मृतोऽस्मिन्न च कोचि जायति ।
मायेव धर्मा हि स्वभावशून्या, ज्ञातुं समर्थास्तु न भोन्ति तीर्थिकाः ॥

इति विस्तारः। तथा —

संक्रान्तिजन्ममृत्युश्चासंक्रान्तिजन्ममृत्यवः ।
जानाति य इदं तेन समाधिर्नैव दुर्लभः ॥

इति।][४] तदेवं परीक्ष्यमाणा भावाः स्वभावसिद्धा न भवन्तीति सैव[५] मायोपमताव[६] शिष्यते[७] — भावानाम् ॥२५॥

---

१. T. न तत्र शब्दोऽयं वर्तते।
२. T.; S. भावास ।
३. T. अशक्यं ।
४. T.; S. न स्वीकरोति ।
५. S.; T. सैवं ।
६. S. मायापमता गत्वा ।
७. T. अवशिष्यते एकैकाशः ।

षोडशं प्रकरणम्

गुरुशिष्यविनिश्चयभावनासन्दर्शनम्

३७६

§ १. इदानीं[1] समनुक्रान्तैः पञ्चदशभिः प्रकरणैः शास्त्रकार्यं परिसमाप्य शास्त्रारम्भप्रयोजनं दुर्वादाशेष[2]परिहारं चोपदर्शयन् षोडशं प्रकरणमारभते— ।

*** केनचिद् हेतुना शून्यमशून्यमिव दृश्यते ।**
तस्य प्रकरणैः सर्वैः प्रतिषेधो विधीयते ॥१॥

§ २. नानवधीर्य यथार्थां शून्यतां कश्चिच्छक्तः संसारे सङ्गमवधूय निर्वाणस्पृहा[3]मुत्पादयितुम् । स च शून्यतार्थो[4] जगता[5] [illegible] राज्ञः प्रिय[6]भार्यामरणक्रमावेदन सौमनस्योत्पादनवत् कयापि युक्तया विदुषामवतीर्यः । अहङ्कारममकारस्नेह[8]विपर्यस्तो लोकोऽनित्य एव वस्तुनि क्षणभङ्गादर्शनात्[9] संस्कारमात्रप्रवाहस्य सम्यग्दर्शनिदसाधाच्छून्यताद[illegible]निर्विकल्पभूतां नित्यतामवधार्य प्रत्यवतिष्ठमानो जगदशून्यमेव प्रतिपन्नः । तदस्याशून्यता[10] प्रतिषेधाय प्रथमप्रकरणारम्भ इत्यादि योज्यम् । स्वभावविरहितार्थं श्चात्र शून्यतार्थं इत्यसकृदावेदितम् । तदेवं केनचिद्धेतुना स्वभावरहितमपि वस्त्वेवाशून्यं येषां ख्याति तेषां तस्यासद्ग्राहहेतोः सर्वैः पञ्चदशभिरपि प्रकरणैः प्रतिषेधो विधीयते ॥१॥

३७७

§ ३. यद्येवमर्थमेषां प्रकरणानामारम्भो नन्वत एवाशून्यत्वं सिद्धं भावानाम् । तथाहि । एषां प्रकरणानां वक्ता तावद् भवानस्ति । प्रकरण[11] [। नामभिधेयोऽशून्यता][11] हेतुर्व्यावर्तको हेतु[12]रस्ति । वचनं चेदं प्रति विशिष्टार्थकृतावकि ध्वनि समुदायरूपं पञ्चदशप्रकरणात्मकमस्तीति वक्तृवाच्यवचनानां सद्भावात् सिद्धमशून्यत्वं भावानामिति व्यर्थ एव भवतः सर्वप्रकरणप्रारम्भपरिश्रमायास इति प्रतिपादयन्नाह

---

१. T.; S. न स्वीकरोति ।
२. T.; S. कृत्वान्यशेषपरिहारं ।
३. T. निर्वाणरतिं ।
४. T. स च सर्वधर्मस्वभावशून्यता ।
५. T. जगतां आत्मात्मीयाभिनिवेशपाशवशीकृतानामश्रुतवताम् ।
६. T. भार्यामरणक्रमा ... ।
७. T. विदुषामवतार्या ।
८. T. अहङ्कारममकारग्राहविपर्यस्त ।
९. T.; S. क्षणभङ्गदर्शनात् ।
१०. T. शून्यतादर्शन...
११. T.; S. विच्छेदो वर्तते तत्र ।
१२. T. हेतुरपि ।
१३. T. न तत्र 'प्रति' इति शब्दो विद्यते ।

*** यदा वक्तास्ति वाच्यं च न शून्यमिति युज्यते ।**
यं प्रतीत्योद्भवेत् सर्वं स त्रिष्वपि न विद्यते ॥२॥[1]

§४. "यदा वक्तास्ति वाच्यं च न शून्यमिति युज्यते"। च शब्दो वचनसंग्रहार्थः। यदा भवान् वक्तास्ति । वाच्यं पञ्चदशभिः प्रकरणै र्व्युत्पाद्योऽर्थोऽस्ति । भवतो वचनं च शून्यताप्रसाधकमस्ति तदा सर्वे भावः सिध्यन्ति । नास्ति वन्ध्यापुत्रः। यस्यार्थस्य वक्ता न युज्यते तस्य वचनमपि विध्यते । तस्य वचनेन व्युत्पाद्योऽर्थोऽपि न विद्यते । भावानां त्वेतत्त्रितयसद्भावात् सिध्यति सस्वभावत्वम् । उच्यते । नैतद्युक्तम् । कथमिति चेत् । एवम्—"यं प्रतीत्योद्भवेत्सर्वं स त्रिष्वपि न विद्यते ॥"

§ ५. स्वभाव इति वाक्यशेषः। इह यो वक्ता सोऽप्यस्माकं दर्शनं प्रतीत्यसमुत्पन्नः कर्तृत्वेन व्यवस्थाप्यते । वचनं वाच्यं च प्रतीत्य वक्ता प्रज्ञप्यते नावचनः[2] । यदैवं तदा नास्ति वक्तुः स्वभावाः । ततश्च वाच्यवचनयोरपि नास्ति वक्तृस्वरूपम् । यदि स्याद् व्यर्थ एव स्यात्पुरुषः। ततो नास्ति तत्र वक्तुः स्वभावो रूपं वा । तस्माच्छून्यम् । तथा वाच्यमपि वक्तारं वचनं च प्रतीत्य प्रज्ञपयिष्यते । स्वभावो नास्तीत्यादिति च वचनेऽपि योजयितव्यम् । तस्मात् तेषा त्रयाणामपि स्वभावस्त्रिष्वपि न विद्यत इति सिध्यत्येव वक्तृवाच्यवचनानां स्वभावशून्यत्वम् । तस्माददोषः ।

३७८

§ ६. अत्राह । यदि सर्वं शून्यं तदेन्द्रियार्थयोः सर्वथाभावाज्जगत्खरविषाणवदापद्येत । सत्यरुपौ चैताविन्द्रियार्थाविति सस्वभावा एव सर्वे भावाः। अत्रोच्यते—।

यदि शून्यस्य दोषेणाशून्यमेव हि सेत्स्यति ।
किमशून्यस्य दोषेण शून्यमेव न सेत्स्यति[3] **॥३॥**

§ ७ यदि शून्यस्य दोषेणाशून्यमेव हि सेत्स्यति । एवं तर्हि तद्व्यतिरेकन्मुखेन भवतः ।"किमशून्यस्य दोषैण शून्यमेव न सेत्स्यति ॥"

---

१. V. यदा वक्तास्ति वाच्यं च न शून्यं नाम युज्यते ।
यः प्रतीत्यसमुत्पादः स त्रिष्वपि न विद्यते ॥

२. नावाच्यववचनः ।

३. V. शून्यस्य दोषेण यदा शून्यं सिद्धं भविष्यति ।
अशून्य दोषेण कुतः शून्यत्वं नैव सेत्स्यति ॥

यदि जगच्छून्यं न भवेत्तदा तदविपरीत स्वभावेनावस्थानान्नित्यमजातमनिरुद्धं च भवेत् । न चैवं भवति । प्रतीत्योपलम्भात् । एवमशून्यदोषेण भवतः शून्यतार्थः किं न सेत्स्यति । शून्यतावादापकरणारम्भेण स्वपक्षसिद्धिरपि न युज्यते ॥३॥

२७९

§ ८. पक्षान्तराभ्युपगमवादिनावश्यम्— ।

वारणं परपक्षस्य सिद्धिः पक्षस्य चात्मनः ।
प्रीतिश्चेद्दूषके पक्षे विद्यते किं न साधके ॥४॥[१]

§ ९. "वारणं परपक्षस्य सिद्धिः पक्षस्य चात्मनः ।" द्वयोर्नाम भवतः शून्यतावादनिराकरणारम्भस्य प्रवृत्तेः । "प्रीतीश्चेद् दूषके पक्षे विद्यते किं न साधके ॥"

दूषके पक्ष इव भवतो यः साधकः पक्षस्तत्रापि प्रीति र्भवेत् । तस्माद्यदीह सर्वं साध्यसमं न स्यात्स्वपक्षसाधनाय तावत्किञ्चिदप्युपपत्ति र्वाच्या । शून्यतावादे तु सर्वं साध्यसमम् । तस्मात्स्वपक्षसिद्धि सामर्थ्यहीनपक्षग्रहणं दृश्यते । पक्षानासक्तमध्यमकमार्गे प्रविष्टस्य तु भवतो दर्शनादर्शनाविरोधाद्विरोधस्यापि स्थापनं न सम्भवति ।।४।।

२८०

§ १०. अथ तावद्भवान्मन्यते शून्यतावादो पक्षोऽय न परीक्षोचित इति नास्ति । तस्मादस्याभाव एव सिद्धेः पक्षान्तरभावान्निराकर्तृणां सिध्येदस्माकंपक्ष इति । तदपि नास्ति ।

अस्ति यन्न परीक्षायां पक्षः स न भवेद्यदि ॥
एकत्वादि त्रयं सर्वमपि पक्षस्ततो न हि ॥५॥[२]

§ ११. यथास्माकं पक्षः परीक्षायामभावान्नास्ति तथा वादिनामेकत्वान्यत्वानभिलाप्यपक्षा अपि विचारे न सन्तीति तेऽपि पक्षा नैव स्युः । तस्मात्परीक्षायां सर्वेऽपि पक्षा न भवन्तीति न युक्तो भवतः पक्षपरिग्रहः [३]।।४५।।

---

१. V. अन्यपक्षनिषेधेन स्वपक्षः सिद्धिमान् यदि ।
दुष्टे पक्षे स्वपक्षोऽयं सिद्धिं किं नाम नाप्नुयात् ॥

२. V. निग्रहे सति येनायं पक्षो नाम न जायते ।
एकत्वादि त्रयं सर्वं तेन पक्षो न जायते ॥

३. द्रव्यत्वं, एकत्वं, सत्त्वं चेति त्रयो भावाः (३८५), वृत्त्यनुसारेण तु एकत्व, अन्यत्व, अनभिलाप्यश्च (३४६); एकत्वं, अन्यत्वं, उभयं, नोभयं, चेत्येकत्वादयः, लङ्कावतार, पृ० १७६; सर्वं भो गौतम एकत्वं सर्वं अन्यत्वं सर्वं उभयत्वं सर्वं अनुभयत्वम् ॥

३८१

§ १२. अत्राह । भवता शून्यतयैकत्वादयः सर्वे पक्षा अयुक्ता उक्ताः ।

व्यर्थस्तत्र शून्यहेतुर्यत्र प्रत्यक्षतो घटः ।
इहान्यसमयोद्भूतो हेतुरन्यत्र सन्न हि ॥६॥[1]

§ १३. व्यर्थस्तत्र शून्यहेतुर्यत्र प्रत्यक्षतो घटः । यत्र घटः प्रत्यक्षेणोपलब्धः पक्षस्तत्र शून्यहेतुर्निरर्थकः । असन् वन्ध्यापुत्रो न कस्यचित्प्रत्यक्षः । घटस्त्वयं प्रत्यक्षः । तस्मात्प्रत्यक्षहेतोरपाकरणाय शून्यताहेतु नं युज्यत इति चेत् । ननु पूर्वं घटप्रत्यक्षस्यापाकृतत्वादस्त्यस्माकं तेन विरोधः । घटप्रत्यक्षत्वं भवताप कृतं न मया । तस्माद्घटो भवतो न प्रत्यक्षः । अस्माकं तु घटस्य प्रत्यक्षत्वान्नेदं युक्तमिति चेत् । नेदमस्ति ।

§ १४. "इहान्यसमयोद्भूतो हेतुरन्यत्र सन्न हि ॥" इह शून्यतायुक्तिवादे समयादन्यत्र प्रसिद्धो हेतुर्नाभ्युपगम्यते । अन्य[illegible]स्यानुक्तत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात् । यत्र वादिनां दर्शनं समं तत्र द्वयोरप्यर्थस्याभ्युपगमाद्युक्तिमेव प्रामाण्यम् । युक्तिवादे सोपपत्तिकोऽर्थः सिद्धान्तः परिगृह्यते । तस्मादिहान्यसमयप्रसिद्धेन हेतुना बाधाऽसम्भवेन प्रतिक्षेपान्न वैयर्थ्यं हेतोः ॥६॥

३८२

§ १५. [illegible]शून्यतावादिना भवतोक्ते शून्यताभावेऽशून्यतानिरपेक्षः शून्यताभावोऽपि न भवतीति सर्वे भावाः सस्वभावाः सिध्यन्तीति मतम् । उच्यते । यदि शून्यता नाम स्वरूपसिद्धं किञ्चित्स्यात् स्युर्भावाः सस्वभावाः । न त्वस्तीति प्रतिपादयन्नाह—

अशून्येन विना शून्यं कुतः खलु भविष्यति ।
कथं विनैवेतरेण प्रतिपक्षो भविष्यति ॥७॥[2]

§ १६. यद्यशून्यं नाम कश्चिद्भावः स्यात् स्यात्तदा तत्प्रतिपक्षभूतं किञ्चिच्छून्यो भावः । अशून्यस्य तु सम्भव एव नास्ति । अहेतुकस्य कस्याप्याकाशकुसुमस्यैवं सद्भावा सम्भवात् । यदा नाशून्यस्य सम्भवस्तदा प्रतिपक्षं शून्यमपीतरेणाशून्येन विना न सम्भवति । तथा हि । असन् कुक्कुरः कपेः प्रतिपक्षो न भवति । सर्वत्र हि विरुद्धमर्थान्तरमन्तरेण विरुद्धमर्थान्तरं न सम्भवति । तस्माद-

---

१. V. घटः प्रत्यक्षतो दृष्टः शून्य हेतु निरर्थकः ।

२. V. अशून्येन विना शून्यसम्भवो जायते कथम् ।
इतरेण विना तस्य सहायो जायते कथम् ॥

शून्येन विना शून्यं न भवति। तेन विना च शून्यं किञ्चिदस्तीति सिद्धम्। यथोक्तं

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः॥
येषां तु शुन्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥[१]

भगवताप्युक्तं[२]

§ १७. तद्यथापि नाम काश्यप कश्चिदेव पुरुषो ग्लानो भवेत्। तस्मै वैद्यो भैषज्यं दद्यात्। तस्य तद्भैषज्यं सर्वदोषा[३]नुच्चाल्यकोष्ठगतं न निर्गच्छेत्। तत्किं मन्यसे, कश्यप, अपि नु स ग्लानपुरुष[४]स्तस्माद् ग्लान्या परिमुक्तो भवेद्यस्य तद्-भैषज्यं सर्वकोष्ठगतान् दोषानुच्चाल्य कोष्ठगतं न निःसरेत्[५] ? आह। नो भगवन्[६]। गाढ[७]तरं च तस्य पुरुषस्य तद्ग्लान्यं भवेद्यस्य तद्भैषज्यं सर्वदोषानुच्चाल्य[८]कोष्ठ-गतं न निःसरेत्। भगवानाह। एवमेव काश्यप सर्वदृष्टिगतानां शून्यता निःसरणं यस्य खलु पुत्रः काश्यप शून्यतादृष्टिस्तमहमचिकित्स्यमिति वदामीति॥६॥

३८३

§ १८. अत्राह। यद्यपि शून्यं नाम किञ्चिदपि नास्तीति नास्ति शून्यतापक्षस्तथाप्यपक्षोऽपि पक्षत्वेन परिगृहीत् इति पक्ष एव भवति। विपक्षनिरपेक्षस्य पक्षस्याभावाच्च भवेद्विपक्षः। पक्षविपक्षयोः सद्भावाच्च सर्वे भावाः सिध्यन्ति। इदमपि न युज्यत इति प्रतिपादयन्नाह—

अपक्षः पक्षरूपः स्यात्पक्ष एव भवेद्यदि।
एवमभावेऽपक्षस्य को विपक्षो भविष्यति॥८॥[९]

§ १९. अपक्षः पक्षरूप स्यात्पक्ष एव भवेद्यदि। यद्यपक्ष एव स्यात्। सत्वेवं सति न सम्भवति। विपक्षाभावात्। विपक्षाभावाश्च सर्ववादिप्रत्याख्यानेन प्रदर्शितः। अपि च यदा। एवमभावेऽपक्षस्य को विपक्षो भविष्यति॥ पक्षाभावाद्विपक्षोऽपि यास्तीति त्यज्यतामाग्रहः॥८॥

---

१. बोधिचर्यावतार, पृ० ४१४; सुभाषित संग्रह, पृ० २५-२६
२. काश्यप परिवर्त, पृ०६७.
३. T. सर्वरोगान्
४. T. ग्लानः
५. KP गतो
६. Kp. भगवान्
७. Kp. गाढतरश्च।
८. Kp. स कोष्ठगतं

९. V. पक्षे सत्येव पक्षस्यापक्षो रूपं भविष्यति।
अस्त्यपक्षे को नाम तद्विपक्षो भविष्यति॥

३८४

§ २०. अत्राह । अस्त्येव भावानां स्वभावः । विशेषरूपोपलम्भात् । तथा हि—

अग्निरुष्णः कथं नु स्याद्यदि भावो न विद्यते ।
उष्णोऽग्निरपि नास्तीति प्रागेव वारणं कृतम् ॥९॥[1]

§ २१. "अग्निरुष्णः कथं नु स्याद्यदि भावो न विद्यते ।" तस्माद्विशेषोपलम्भादस्त्येव भावानां स्वभावः । उच्यते । इदमपि न युक्तम् । यतः

"उष्णोऽग्निरपि नास्तीति प्रागेव वारणं कृतम् ॥" उष्णस्वभावोऽग्नि प्राक्[2]

अग्निरेव भवत्युष्णमनुष्णं दह्यते कथम् ।
नास्ति तेनेन्धनं नाम तद्दतेऽग्नि नं विद्यते ॥[2]

इत्यत्र निवारितः । तस्माद्विशेषाभावान्नास्ति भावरूपम् ॥९॥

३८५

§ २२. अन्यच्च यदि ।

भावदर्शनतो भावाभावो नाम निवार्यते ।
एवं पक्षचतुष्कस्य को दृष्टो दोषवर्जितः ॥१०॥[3]

§ २३. भावदर्शनतो भावाभावो नाम निवार्यते यदि भावस्य सद्भावोपलम्भात्तदभावनिवारणं युक्तमुपदर्श्यते भावस्याभावोपलम्भाद् भाववारणमपि किं न भवेत् । अनेनैव क्रमेण—

सदसत् सदसच्चेति सदसन्नेति च क्रमः ।
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥

इति तत्रोक्तम्[4] । तस्मादेवं पक्षचतुष्टयेऽपि दोषदर्शनात् कस्यापि पक्षस्य परिग्रहो न युक्तः ॥१०॥

३८६

§ २४. इतोऽपि पक्षपरिग्रहो न युक्तः ।

अणोरंशो ऽस्ति नास्तीति विचारोऽत्रापि वर्तते ।
तस्मात्साध्येन साध्यस्य सिद्धिर्नैवोपपद्यते ॥

---

१. ३४१. (१४.१६)

२. V. भाव एव यदा नास्ति बह्निरुष्णः कथं भवेत् ।
उष्णोऽग्निरपि नास्तीति कस्य नाम विपर्ययः ॥

३. V. दृष्टैव भावं भावस्याभावो नाम विपर्ययः ।
दुष्टे पक्षतुरोयांशे प्रहाणं यस्य दृश्यते ॥

४. ३४६ (१४.२१) ।

इति पूर्वमुक्तेः[1]। तस्मादनेन क्रमेण विचारेऽतिसूक्ष्मस्य।

यत्राणोरपि सद्भावो नास्ति तत्र कथं भवः।
अभावोऽपि च बुद्धानां तस्माद्देव न युज्यते ॥११॥[2]

§ २५. "यत्राणोरपि सद्भावो नास्ति तत्र कथं भवः।"

परमाणुमात्रस्यापि यत्र सत्यं स्वरूपं नास्ति तत्र कथं भव उत्पद्यते। भावोत्पत्तिः सर्वथा नास्तीति तत्रानुत्पाद एव। निराभासगोचरकसर्वभाव तत्त्वयथावदवगमसूर्यकिरणनिकरापाकृताखिलाविद्यातिमिराणां निविड़ाज्ञान-तिमिररात्रिनिद्राविपर्यस्तजगदुल्लासोद्बोधनतत्पराणां बोधौ सम्यगभिसम्बुद्धा-नाम्। "अभावोऽपि च बुद्धानां तस्मादेव न युज्यते॥" तस्मादेव च तत्त्वज्ञानमपेक्ष्य कश्चिदपि भावो नोपलभ्यत इति [यथा] भाव एवमभावोऽपि नाभिमतः। अथवा स्वभावेनाजातत्वादभावोऽपि न सम्भवतीति। अभावोऽपि च बुद्धानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानुत्तरसम्यग्सम्बुद्धानां नाभिमतः ॥ ११ ॥

३८७

§ २६. परिप्रेक्षयावश्यमयमद्वयवादः सर्वत्र प्राप्नोतीति निश्चेतव्यम्। तथा हि-

सद्भावोऽन्यस्य कस्य स्यात् स्यात्सर्वत्रद्वयं यदि।
तवापि यदि तद्युक्तं निन्दतोऽन्यः किमुच्यते ॥१२॥[3]

§ २७. यत्राद्वयमद्वयवादस्तत्राप्राप्तस्य कस्य भावस्य भावस्वरूपं भवेत्। ये तावद्भावा नित्यास्तेषां स्वरूपेण सद्भावो नास्तीति सद्भावासद्भावकल्पना परीक्षितुं न शक्या। सद्भावासद्भावकल्पनाप्रवृत्तिहेतोर्नित्यस्य भावस्याभावात्। ये भावा उत्पत्तिमन्तस्तेषामपि नित्यं स्वरूपं नास्तीति स्वभावलक्षणप्रतिकूल-लक्षणानां स्वभावेन सद्भावासद्भावकल्पना व्यवस्थापयितुं न शक्यते। तस्मा-द्युक्तिगम्यत्वेन नीते स्फुटेऽर्थे वादिनः स्वबुद्धिविपर्यासकल्पितं द्वयवादं विहाया-द्वयवादमिमं स्वबुद्धौ स्थापयितुमर्हन्ति। अथ कयाप्युपपत्त्यायमर्थो न सिध्येत्। ननु च ये नास्माकमपि मनः प्रत्ययो भवेत्तदुच्यताम्। न तु काचिद्यथोक्तार्थ-विरुद्धोपपत्तिर्वक्तुं शक्यते। तस्मादुक्तोपपत्तित एव तवाप्यन्तद्वयप्रहाणे युक्ते किं वादान्तरेण ॥१२॥

---

१. ३०५ (१३-५)

२. V. यदणोरपि सद्भावस्ततोऽभाव कथं भवेत्।
बुद्धानां जात्वभावोऽपि तस्मादेव प्रसज्यते ॥

३. V. सर्वस्य चेन्न द्वितीयः कस्यान्यः सन् भविष्यति।
मतं चेद् भवतोऽप्येतद्विजितोऽन्यो भवेत् कथम् ॥

३८८

§ २८. यस्मात्स्वतन्त्रसमधारि[illegible]तानां लौकिकलोकोत्तराणां भावानाम-द्वयरूपमिहाविभक्तं तस्मादेव—

अभावे सर्वभावानां विभागो नैव युज्यते।
सर्वद्रव्याणि यः पश्येत् स भवेन्न विभाजकः ॥१३॥[1]

§ २९. हेतुप्रत्ययजातत्वात्स्वभावेन कृतकत्वप्राप्तेर्भावानां यः स्वभावः स निर्हेतुक एव। निर्हेतुकत्वे च सत्वं न सम्भवतीति भावविप्रतिषेधं प्रतीत्य भावस्याभाव एव स्वभावो भावस्याभावात्। तस्मादयं स्वभावः सर्वेषामभिन्न-रूप इति सर्वे भावाः स्वभावेनाजाता एकरूपा यदुताभावास्वभावरूपाः। यथा घटगृहक्षेत्रादिषु भिन्नेष्वपि सर्वत्र निरावरणत्वसामान्यादरूपमात्रमाकाशं भिन्न-स्वरूपं न भवति; यथा च भावा यथा त्वं सर्वे संस्कृता अनित्या एव, सर्वे साश्रवा दुःखा एवेत्यादि न भिन्नमेवं यः सर्वेषां द्रव्याणां दृष्टा [सो] पि द्रव्याणां भेदं व्यवस्थापयितुं न शक्नोति। अतएव—

भावस्यैकस्य यो द्रष्टा दृष्टा सर्वस्य स स्मृतः।
एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ॥

इति पूर्वमुक्तम्[2]। अतएवोक्तं[3] भगवता

भावानभावानिति यः प्रजानाति
स सर्वभावेषु न जातु सज्जते।
यः सर्वभावेषु न जातु सज्जते
स आनिमित्तं स्पृशते समाधिम् ॥ इति १३ ॥

३८९

§ ३०. अन्यच्च। परकल्पनायाः पूर्वं त्यागेनापि यथोक्तोऽर्थो वाभ्युप-गन्तव्योऽनुयुक्तपरीक्षया परिहारो वा वक्तव्यः। अथ मन्यते—यस्य किञ्चिदपि सम्भवात् युज्यते तस्य परिहारः। यस्य तु सर्वेषां भावानामभावस्तस्यवाच्य-वचनवक्तॄणां प्रतिपाद्य-प्रतिपादकप्रतिपत्तॄणां च सर्वथाभावात्कथं परिहारो वक्तव्यः। तस्मान्न परिहार उक्त इति। यद्येवं—

३८९

नाभावात्परपक्षस्य परिहारः किलोच्यते।
साध्यते न स्वपक्षोऽपि निवर्त्यो हेतुना कुतः ॥१४॥

---

१. V. अभावे सर्वभावानां विभागो नैव युज्यते।
भावेऽपि सर्वभावानां स विभागो न जायते ॥

२. १६१ (८, १६) ३. M.V. पृ. १३३, २६५, २७७

§ ३१ यदि परस्य सर्वाभावादपरिहारस्त्वया कयापि युक्त्या शून्यताहेतु-निराकृतस्तव स्वपक्षः किं न साध्यते। न चासिद्धिरभ्युपगन्तुं युज्यत इति नेदं भवति ॥ १४ ॥

३६०

§ ३२. यच्च।

सुलभो दूषको हेतुरिति लोकेऽभिधीयते।
परपक्षस्य दोषः किं वक्तुमेव न शक्यते ॥१५॥[1]

§ ३३. सुलभो दूषको हेतुरिति लोकेऽभिधीयते। तदपि न युक्तम्। यदि दूषको हेतुःस्यात्तदा सुलभत्वात्स तवाप्यस्तीति त्वयापि—

"परपक्षस्यदोषः किं वक्तुमेव न शक्यते।"

त्वया परपक्षस्य दूषणमुद्भावयितुं न शक्यत इति दूषको हेतु र्न सुलभः ॥१५॥

३६१

§ ३४. अथ विनाप्युपपत्तिम्—

एकेनास्तीतिमात्रेण भावाश्चेत्तत्वतो भवेत्।
नास्तीतिमात्रेणैकेनाभावोऽपि न हि किं भवेत् ॥१६॥[2]

§ ३५. यथा तवास्तीति वचनमात्रेणायं भावस्तत्वतोऽस्तीति स्थाप्यते एवं मम नास्तीति वचनमात्रेणापि परमार्थतो भावो नास्तीति किं न व्यवस्थाप्यते। तस्मादावयोर्वादिद्वयापाकारणात्कृत्रिमसर्वप्रपञ्चोऽद्वयवादोऽयं मध्ये समुच्छ्रितः॥१६॥

३६२

§ ३६. अत्राह। यदि परमार्थतो भावो न स्यात्तदेहासतः सदिति नाम न स्यात्। न ह्यसतो वन्ध्यापुत्रस्य सन्निति नामेह युज्यते। उच्यते।

सदिति यत्कृतं नाम तेनासन्नैव जायते ॥
सदिति यत्कृतं नाम तेनसन्नैव जायते ॥१७[3]**॥**

---

१. V. यद् दृष्टोऽधिगतो हेतुरिति भाषापि लौकिकी।
येन दोषोऽन्यपक्षस्य वक्तुमेव न शक्यते ॥

२. V. सन्नाममात्रेण यदा भावः कश्चिद् भविष्यति।
अभावः किं न भवति सोऽप्यसन्नाममात्रतः ॥

V. B. अस्तीति मात्रेण यदि भावो विद्यत तत्वतः।
नास्तीति मात्रेण कथमभावोऽपि भवेन्न हि ॥

अथवा चीनीग्रन्थाधारेण—

सन्नाममात्रेणैकेन स्याद्भावस्तत्वतो यदि।
किं सन्नाममात्रेणैकेनाभावोऽपि नो भवेत् ॥

३. V. सदर्थो यन्न ग्रथितस्तेनाभावो न जायते।
अस्तीति यस्मान्न कृतं तेन भावो न जायते ॥

§ ३७. सदिति यत्कृतं नाम तेनासन्नैव जायते । यद्येवम्

यन्नामासदिति कृतं तेन सन्नैव जायते ।
नामानि नामिनो नैव स्वभावमनुकुर्वते ॥

न हि तानि नामिनो भावस्य स्वरूपेण कालेन वा सम्प्रयुक्तानि पूर्वं पश्चाच्च तेषामभीष्टत्वात् । तथाहि । सुलोचने काण इति अल्पायुषि दीर्घायुरिति तस्करे देवरक्षित इत्यादीन्यर्थप्रतिकूलानि नामान्युपलभ्यन्ते ; तस्मात्

"सदिति यत्कृतं नाम तेन सन्नैव जायते ॥" एकधात्वन्यः पाठः "नैवासदिति यन्नाम कृतं तेन न सद्भवेत् ।" यदि सतः सदिति नामकरणाद्भावः स्वभावेन सन्नैव कल्प्यते युक्त्या विचारेऽसत्वेनासतोऽसदिति नामकरणात् सत्वप्रतिषेधः किमिति न निश्चीयते । अस्य सद्भावकल्पनावदसद्भावोऽपि युक्तं प्रज्ञापयितुम् ॥१७॥

२९३

§ ३८. अत्र केचिदाहुः । शब्दास्तावन्नार्थस्वरूपमभिदधति यद्यभिदध्युस्तदाग्निरुष्ण इत्युक्ते मुखप्रदाहो भवेत् । घट इत्युक्ते मुखं पूर्णं भवेत् । तस्मादस्माकमर्थस्वरूपास्पर्शिभिः शब्दैर्वाच्यवाचकेन लौकिकेन सङ्केतेन सर्वमस्तीत्युच्यते । अत्रोच्यते ।

कथितं लौकिकेनेति सर्वं चेल्लौकिकं भवेत् ।
को भवेत्तत्वतो भावः स केन लौकिको भवेत् ॥१८॥[1]

§ ३९. यदि सद्वस्तुनः सस्वभावत्वस्वरूपास्पर्शिभिः शब्दैरभिधीयमानं लौकिकं तत्स्वरूपं भवेत् [तदा] तत [एव] स्वरूपेण सद्भावात्स परमार्थ एव भवेन्न तु लौकिकः । अथ तस्य लौकिकत्वमेवास्ति न स्वभावस्तदा तस्य लौकिकस्य परमार्थत्वमेव सिध्यति । परमार्थदर्शनाच्च योगिनः संसारान्मुच्येरन्निति युक्तम् ॥१८॥

२९४

§ ४० अत्राह । यद्यपि त्वया सामान्यत उच्यते तथापि भावापाकरणात् तवाभाव एव भवति । उच्यते । नेदं वचनं मदाशयमतिक्रान्तम् । यदि मम भावप्रतिषेधादस्तित्वविरुद्धं नास्तित्वमभ्युपगम्यते तदा [वगन्तव्यं न प्रतिषेधेन सर्ववाद निराकरणं साध्यते अभाववादस्यातिक्षुद्रैरभ्युपगमादिति प्रतिपादयन्नाह—

अभावात्सर्वभावानामभाव एव चेद्भवेत् ।
सत्येवं सर्वपक्षाणामभावो नैव युज्यते ॥१९[2]

---

१. V. उक्तत्वात् सर्वलोकेन लोको यदि भविष्यति ।
तस्मादेव हि यो भावः स लोको जायते कथम् ॥

२. V. असत्वात् सर्वभावानामभावो यदि विद्यते ।
तथा च सर्वपक्षेषु भावोऽसन्नैव युज्यते ॥

३६५

§ ४१. भावसद्भावे हि तत्र तन्निषेधादभाववादो भवेत् । यदा तु यथोक्तेन न्यायेन भाव एव न सम्भवति तदा—

भावाभावादभावस्य सम्भवो न भविष्यति ।
अभावो हि विना भावं कुतो सिद्धो भविष्यति ॥२०॥[1]

§ ४२. भावाभावादभावस्य सम्भवो न भविष्यति । कुतो भावाभाव इति चेत् । अभावाभावात् । कुतोऽभावाभाव इति चेत् । एवम् "अभावो हि विना भावं कुतः सिद्धो भविष्यति ।"

भावस्यान्यथालक्षणो विनाशो ह्यभाव इति लोक उच्यते । स च भना एकान्तेन विचारे नास्तीति कस्याभावादभावः सम्भविष्यति । यदाभावो न सम्भवति तदा भावप्रतीतिरभावमपेक्षत इति स नास्ति । अभावोऽपि न सिध्यति ॥२०॥

३६६

§ ४३. अत्राह । अहेतुकस्य भावस्यासिद्धेरवश्यं त्वया शून्यतासाधनाय हेतुः प्रदर्शयितव्यः । हेतुसद्भावाच्च न सर्वेषां भावानां शून्यता । हेतुवदन्येषामपि सद्भावात् । उच्यते । यदि—

शून्यता जायते हेतो र्भवेत्तेन न शून्यता ।
प्रतिज्ञा हेतुतो नान्या तेन हेतुर्न विद्यते ।।२१॥[2]

§ ४४. हेतोः पूर्वं शून्यता न भवतीति । पश्चाद्भवतीति । शून्यतायाः कृतकत्वम् । कृतकं च मायागजप्रपञ्चवद्विसंवादकम् । शून्यता त्वक्षरसामान्यरूपेति न विसवादकेति शून्यता न हेतुसाध्या । अथ ज्ञापकं हेतुमभिप्रेत्योक्तम् । तथापि हेतुर्न सम्भवति । कथमिति । इह हेतुरिति कस्याश्चित्प्रतिज्ञायाः साधकं वचनम् । यदि तस्याः प्रतिज्ञाया स हेतुस्ततोऽन्यः स्यात् । तथा सति पक्षधर्मो न भवतीति प्रतिज्ञातार्थानवगम इति हेतोः प्रतिज्ञाया अन्यत्वं न भवेत् । यदान्यो न भवति तदान्यत्वाभावात्प्रतिज्ञायाः स्वरूपवदयं हेतुर्न भवतीति हेतुर्न विद्यते । तस्मात्सिद्ध भावानां निःस्वभावत्वम् ॥२१॥

---

१. V. अभावत्वादभावस्य भवाऽस्तीति न विद्यते ।
अभावत्वादसन्भाव इति सिद्धिर्भवेत् कथम् ॥

२. V. शून्यं प्रमाणतो जात-मतः शून्यं न विद्यते ।
प्रतिज्ञान्या न प्रमाणाप्रमाणां तन्न विद्यते ॥

३६७.

§ ४५. अत्राह। यद्यपि हेतोरभावाद्धेतुसाध्ययोर्नाशून्यता ननु च शून्यता दृष्टान्तस्तावदस्ति। तत्सद्भावाच्च तद्वदन्येषामपि भावानां भावो भवेत्। उच्यते। स चेत् दृष्टान्तः कल्प्यते हेत्वर्थेनासम्बद्ध एव कल्प्यते सम्बद्धो वा। यदि तावत्सम्बद्धः। हेतोर्दूषणेनैव निराकरणम्। अथासम्बद्धः। तदा तयोः प्रतिज्ञातार्थं सिद्ध्यसामर्थ्यादेव न किञ्चित्क्रियते। [ततश्च] किं तेन कल्पितेनेति प्रतिपादयन्नाह—

यदस्ति शून्यदृष्टान्तस्तेन शून्यं न चेद्भवेत्।
आत्मापि काकवत्कृष्ण इति वक्तुं नु शक्यते॥ २२॥[1]

§ ४६. यदि हेत्वर्थासम्बद्धाद्दृष्टान्तादर्थसिद्धिर्मन्यते तदा काकस्य कृष्णदृष्टान्तेनात्मापि कृष्णो भवेत्। न चेदं सम्भवतीति न युज्यते दृष्टान्तो भावाभावात्॥ २२॥

३६८

§ ४७. यदि हेतुरप्यभावे दृष्टान्तोऽपि नास्ति [तदा] सर्वेषामपि भावानामभावे तवेदं शास्त्रकारवचनं कस्यार्थस्य साधनाय। उच्यते। यदि नियमेन परीक्षायां कस्यचिद्भावस्य स्वभाव उपलभ्येत [तदा] तादृश [एव] अभ्युपगमो भवेत्। शून्यतादृष्टिस्तु विपरीतैवेति प्रतिपादयन्नाह—

को गुणः शून्यतादृष्ट्या स्याच्चेद्भावः स्वभावतः।
बन्धः कल्पनया दृष्टेः सैवेह प्रतिषिध्यते॥२३॥[2]

§ ४८. "को गुणो शून्यतादृष्ट्या स्याच्चेद्भावः स्वभावतः।" शून्यतोपदेशो हि तत्त्वप्रतिपादनाय। तत्त्वं च स्वभावः स्वरूपम्। यदि कस्यचिद् भावस्य सद्भावः स्यात्तदा तत्त्वं परामर्शो भवेदिति मोक्षप्रार्थिनस्तद्दर्शनमेव शोभनं न तु शून्यतादर्शनम्। स हि तदा न गुणो [पि] तु] केवलमेवापवादप्रवृत्तत्वाद्दोष एव। यदा निःस्वभावानां भावानां विपर्यासेन सस्वभावत्वं दृश्यते तदा लोकस्याभिनिवेशहेतु भवति। भावाध्यवसायहेतुक कर्मक्लेशतोजन्मप्रबन्धोत्पादेन ततः संसारप्रवेशः। तदा निःस्वाभावानां भावानां निःस्वभावत्वप्रकाशकं शास्त्रमिदमारोपापवादप्रहाणद्वारा निःस्वभावत्वं दर्शयति। लोकोऽपि भावानां निःस्वभावत्वमप्यस्य प्रतिबिम्बनिर्माणमायादिष्विवभावाभिनिवेशे तद्धेतुककर्मक्लेशक्षयाद्रागादिसकलबन्धच्छेदेन विमुक्तो

---

१. V. यस्माच्छून्यस्य दृष्टान्तस्तेन शून्यं न जायते।
काको यथा तथात्मापि कृष्णो वक्तुं न शक्यते॥

२. V. स्वभावतश्चेद्भावोऽस्ति शून्य दृष्ट्या हि को गुणः।
दृष्टो विबन्धो ज्ञानेन तदेवात्र निरुद्ध्यते॥

भवति । तस्माच्छास्त्रमिदं भावानां निर्मूलस्वभावत्वमात्रं दर्शयति ।

§ ४९. यथोक्तं भगवता शून्याः सर्वधर्मा निःस्वभावयोगेन । निर्निमित्ताः सर्वधर्मा अप्रणिधानयोगेन । प्रकृतिप्रभास्वराः सर्वधर्माः प्रज्ञापरिमितापरिशुध्येति ।।[1] एवं

यः प्रत्ययैर्जायति सह्य जातो, न तस्य उत्पाद् सभावतोऽस्ति ।

यः प्रत्याधीन स शून्य उक्तो, यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः ।।[2] इति

अपि चेह प्रतीत्यसमुत्पादस्य नासम्भव इत्याह— बन्धः कल्पनया दृष्टः सैवेह प्रतिषिध्यते ।।

कल्पना ह्यभूतस्वभावमर्थमारोपयति । तेन सत्वानां बन्धमुपलभ्य संसार-दुःखच्छेदाय तमर्थं निवर्तयितुं महाकारुणिकाः सत्वदुःखदुःखितास्तथागता बोधिसत्वाश्च प्रतीत्यसमुत्पादाविरुद्धं भावानां निःस्वभावत्वमात्रं दर्शयन्ति । एवमिदं समासतो बुद्धवचनार्थ इत्याचार्येणानेन शास्त्रेण व्याख्यातम् ।।२३।।

३९९

§ ५०. ये तु यथावस्थित प्रवचनार्थस्य यथावदनवबोधेन किञ्चिद्भावं वास्तवरूपं कञ्चिच्चावास्तवं परिदीपयन्ति तेषां कल्पनां विपर्यासं च प्रतिपादयन्नाह—।

एकं सदसदेकं च नेदं तत्त्वं न लौकिकम् ।
तेनेदं सदिदमसद्वक्तुमेव न शक्यते ।।२४।।[3]

§ ५१. यदा लौकिको भावो वक्तुमिष्यते तदा बाह्याध्यात्मिकभेदेन स्कन्ध-पञ्चकमपि लौकिकीं कल्पनां प्रमाणं कृत्वाभ्युपगन्तव्यम् । यदा तु लोकोत्तरं तत्त्वं व्याख्यातुमिष्यते तदार्थज्ञानमपेक्ष्य स्कन्धपञ्चकमपि स्वभावशून्यं व्याख्येयम् । ततोऽन्यत्र यद्युक्तमिष्यते यच्च युक्तं नेष्यते वादिना [तत्] तत्त्वं लौकिकं वा नेष्यते । येनैतदेवं "तेनेदं सदिदमसद्वक्तुमेव न शक्यते ।।"

यदि चित्तचैतसिकानि स्युस्तदा घटपटादयोऽपि स्युः सकललोकप्रसिद्धेः । अथ ते घटपटादयो विचारे न स्युस्तदा चित्तचैतसिकान्यपि न स्युरुभयोरपि युक्तिविरहात् । एवं सतीदं सदिदमसदिति "वक्तुमेव न शक्यते" ।।२४।।

---

१. तुलनार्थम्—अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ४०५, MV. पृ० २३८, २७८, ४४४, ५०४

२. MV. पृ० २३९, ४९१, ५००, ५०४, BCp. पृ० ३५५, सुभाषित संग्रह, पृ० २१

३. V. सदेकमेकं नामास्तत्त्वं लोकोऽपि नैवयत् ।
तेनेदं सदसद्वेति वक्तुमेव न शक्यते ।।

४००

§ ५२. अत्राह । यद्यपि मया तव परिहारः कर्तुं न शक्यते तथापि करिष्यन्ति केचित्तव परिहारम् । तद् भविष्यन्ति हि तथागतशासनेऽभियुक्ताः । उच्यते । मिथ्येयं तवाशा । तथा हि ।

सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तु न शक्यते ॥२५॥[1]

योगाचार चतुःशतके गुरुशिष्यविनिर्णयसन्दर्शनं षोडशं प्रकरणम् ॥१६॥

§ ५३. सति हि पक्षपरिग्रहेऽन्यथासिद्धे महता कालेन चिरेण तस्य दूषणं सम्भवति । यस्य तु सदसदुभयपक्षप्रहाणेन पक्षपरिग्रह एव नास्ति तस्य सदसदुभयपक्ष प्रहाणाच्चिरेणापि दूषणं वक्तुं न शक्यते । आकाशस्य रूपवत्वं साम्प्रतं न सम्भवतीति चिरेणकालेन सम्भावयितुं न शक्यते । एवं वादिभिरपि तदाश्रयपक्षत्रयासम्भवाच्छून्यतावाददूषणं चिरेणापि वक्तुं न शक्यते । पण्डितैर्हि शून्यतावाददूषणमाकाशचित्रायः प्रतिमयोरातिवदवगन्तव्यम् ।

§ ५४ यथा नभसि सूर्यकिरणसमूहेन निरस्तैस्तिमिरैश्चिरेणापि कालेन सश्यामीकर्तुं न शक्यते एवं गम्भीरोदाराचिन्त्यप्रतीत्यसमुत्पादभावनावगमसूर्य-किरणेन सकलवादिसमयतिमिराणि निरस्यन्त इत्यवगन्तव्यम् । अपि चोच्यते । यथेहासहशः सूर्यश्चिरं महान्तं तिमिरसमूहमुन्मूलयन्नुन्मीलयत्येव जगदर्थकराद्वय-सूर्योऽपि सदसदादिसमयतिमिरमुन्मूलयति ।

तार्किक समयतमोवृतबुद्धेचुरधुनेदमुन्मील्य ।
लब्धैः पुण्यैःपूर्णं पश्यतु तत्त्वंजनोऽत्र धीनेत्रः ॥२५॥

आचार्यदेवपादीये बोधिसत्वयोगाचारे चतुःशतके गुरुशिष्यविनिर्णय-भावनासन्दर्शन नामकस्य षोडशप्रकरणस्य वृत्तिः ।

चतुःशतकवृत्तिराचार्यचन्द्रकीर्तिपादकृता सम्पूर्णा

---

१. M V. १६; सुभाषित संग्रह, पृ॰ २७

प

रि

शि

ष्टा

नि

परिशिष्टानि

१. आर्यदेवस्य तन्नामनोपलब्धग्रन्थभागाः

१. चतुःशतिका[1]

१.२१. शत्रुवत् यान्ति ते काला नियमेन क्षणादयः।
सर्व्वथा तेन ते रागः शत्रुभूतेषु तेषु मा ॥२१॥

१.२२. विप्रयोगभयाद्गेहान्न निर्गच्छमि [दुर्म्मते]।
[विविच्य] नाम कर्तव्यं कुर्य्याद्दण्डेन को बुधः ॥२२॥

२.७. शरीरं सुचिरेणापि सुखस्य स्वं न जायते।
परेणाभिभवो नाम ,स्वभावस्य न युज्यते ॥३२॥

२.८. अग्र्याणां मानसं दुःखमितरेषां शरीरजम्।
दुःखद्वयेन लोकोयमहन्यहनि हन्यते ॥३३॥

२.९. कल्पनायाः सुखं वश्यं. वश्याद्दुःखस्य कल्पना।
अतोस्ति किञ्चित् सर्व्वत्र न दुःखाद्बलमन्तरम् ॥३४॥

२.१०. कालो यथा यथा याति दुःखवृद्धिस्तथ तथा।
तस्मात् कडेवरस्यास्य परवद्दृश्यते सुखम् ॥३५॥

२.११. व्याधयोऽन्ये च दृश्यन्ते यावन्तो दुःखहेतवः।
तावन्तो न तु दृश्यन्ते नराणां सुखहेतवः ॥३६॥

२.१२. सुखस्य वर्द्धमानस्य यथा दृष्टो विपर्ययः।
दुःखस्य वर्द्धमानस्य तथा नास्ति विपर्ययः ॥३७॥

३.२३. प्रतिनासिकया तुष्टिः स्याद्धीनाङ्गस्य कस्यचित्।
रागोऽशुचिप्रतीकारे पुष्पादाविष्यते तथा ॥७३॥

---

१. डॉ० हरप्रसादशास्त्रीमहोदयेन प्रकाशितायाः चतुःशतिकायाः शेषकारिकाभागोऽयम्।

३.२४. शुचि नाम न तद्युक्तं वैराग्यं यत्र जायते ।
न च सोऽस्ति क्वचिद्भावो नियमाद् रागकारणम् ॥७४॥

३.२५. अनित्यमशुभं दुःखमनात्मेति चतुष्टयम् ।
एकस्मिन्नेव सर्वाणि सम्भवन्ति समासतः ॥७५॥

४.१. अहं ममेति वा दर्पः सतः कस्य भवेद् भवे ।
यस्मात् सर्व्वेऽपि सामान्या विषयाः सर्व्वं देहिनाम् ॥७६॥

४.२. गणदासस्य ते दर्पः षड्भागेन भृतस्य कः ।
जायतेऽधिकृते कार्य्यमायत्तं यत्र तत्र वा ॥७७॥

४.१४. ऋषीणां चेष्टितं सर्व्वं कुर्वीत न विचक्षणः ।
हीनमध्यविशिष्टत्वं यस्मात्तेष्वपि विद्यते ॥८९॥

४.१५. पुत्रवत् पालितो लोकः पुरतः पार्थिवैः शुभैः ।
मृगारण्यीकृतः सोऽद्य कलिधर्मसमाश्रितैः ॥९०॥

४.१६. छिद्रप्रहारिणः पापं यदि राज्ञो न विद्यते ।
अन्येषामपि चौराणां तत् प्रागेव न विद्यते ॥९१॥

४.१७. सर्व्वस्वस्य परित्यागो मद्यादिपु न पूजितः ।
आत्मनोऽपि परित्यागः किं मन्ये पूजितो रणे ॥९२॥

४.२३. विप्रोऽपि कर्म्मणा शूद्रः केन मन्ये न जायते ॥९८॥

४.२४. पापस्यैश्वर्य्यवद्राजन् संविभागो न विद्यते ।
विद्वान्नाम परस्यार्थे कः कुर्य्यादायतोवधं ॥९९॥

३.२५. दृष्ट्वा समान् विशिष्टांश्च परांश्छक्तिसमन्वितान् ।
ऐश्वार्यजनितो मानः सतां हृदि न तिष्ठति ॥१००॥

५.१. न चेष्टा किल बुद्धानामस्ति काचिदकारणा ।
निःश्वासोऽपि हितायैव प्राणिनां संप्रवर्त्तते ॥१०१॥

२. चित्तविशुद्धिप्रकरणम्[1]

(म) हायाने सुविस्पष्टमुक्तमेतत् सुविस्तरम् ॥६॥

धर्म्मपुद्गलनैरात्म्याच्चित्तमात्रं जगौ मुनिः ।
ततोऽपि सर्व्वमुत्पन्नं गमकं सुनिराकुलम् ॥७॥

भावग्रहप्रभावेण (प्रहावेण) गृहीतान् प्रति चोदितम् ।
आगमेऽपि हि सुव्यक्तं विस्तरं करुणात्मना ॥८॥

मनःपूर्व्वङ्गमा धर्म्मा मनः श्रेष्ठं मनोजवाः ।
मनसा च प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा ॥९॥

स्वपिता भिक्षुणादिष्टः शीघ्रं गच्छति प्रेरितम् ।
आयुष्य च मृते तस्मिन्नानन्तर्य्येण गृह्यते ॥१०॥

स्वग्लानेनार्हतादिष्टः स्वगलं परिपीडितम् ।
उपस्थायकभिक्षुः स मृते तस्मिन्न दोषभाक् ॥११॥

अन्यसञ्ज्ञीनि चाल्यन्तु मारयन् दोषमश्नुते ।
इत्युक्तं विनये व्यक्तं न दोषोऽदुष्टचेतसाम् ॥१२॥

न स्तूपखलणे दोषस्तत् संस्कारधिया मतम् ।
केवलं पुण्यराशिः स्यादुखानन्तर्य्यकारिणाम् ॥१३॥

उपानयुगलं दत्वामुने मूर्ध्नि शुभाशयात् ।
अपनीय तथा चान्यं राज्यं फलमवाप्नुतः ॥१४॥

तस्मादाशयमूला हि पापकर्म्मव्यवस्थितिः ।
इत्युक्तमागमे यस्मात् नापत्तिः शुभचेतसाम् ॥१५॥

स्वाधिदेवतयोगात्मा जगदर्थकृतोद्यमः ।
भुञ्जानो विषयान् योगान् मुच्यते न चलिष्यति ॥१६॥

यथैव विषतत्वज्ञो विषमालोक्य भक्षयन् ।
केवलं मुच्यते नासौ रोगमुक्तश्च जायते ॥१७॥

---

१. डॉ० हरप्रसाद शास्त्री महोदयेन (JASB, P. 175, 1898) प्रकाशितम् ।

मायामरीचिगन्धर्व्वनगरस्वप्नसन्निभम् ।
जगत् सर्व्वं समालोक्य किं कथं केन भुज्यते ॥१८॥

बाला मज्जन्ति रूपेषु वैराग्यं यान्ति मध्यमाः ।
स्वभावज्ञा विमोच्यन्ते रूपस्योत्तमबुद्धयः ॥२०॥[1]

विचिन्त्य समयं सर्व्वं देवतापूजनाविधिम् ।
शुद्धमालोक्य निःशङ्कं भोक्तव्यं मन्त्रचोदितम् ॥२१॥

शोष्यं बोध्यं तथा दीप्यं अङ्कुरत्रययोगतः ।
अनामाङ्गुष्ठवक्त्राभ्यां प्रीणयेच्च तथागतान् ॥२२॥

यत् सत्यमिति बालानां तन्मिथ्या खलु योगिनाम् ।
कायेनैव तु सम्प्राप्तं न बद्धो न च मुच्यते ॥२३॥

संसारं चैव निर्व्वाणं मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।
न संसारं न निर्व्वाणं मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥२४॥

विकल्पो हि महाग्राहः संसारोदधिपाटकः ।
अविकल्पा महात्मानो मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥२५॥

शङ्काविषेण बाध्यन्ते विषेणैव पृथक्जनाः ।
तामेवोत्खाल्य निर्मूलं विचरेत् करुणात्मकः ॥२६॥

यथैकः स्फटिकः स्वच्छः पररागेण रज्यते ।
तथैव चित्तरत्नन्तु कल्पनारागरञ्जितम् ॥२७॥

प्रकृते कल्पनारागै विविक्तं चित्तरत्नकम् ।
आदिशुद्धमनुत्पन्नं निजरूपमनाविलम् ॥२८॥

तत्तद्यत्नेन कर्तव्यं [illegible] ।
स्वाधिदैवतयोगेन चित्तनिर्मलकारिणा ॥२९॥

रागाग्निविषसंयुक्ता योगिनां शुद्धचेतसा ।
कामिताः खलु कामिन्याः काममोक्षफलावहाः ॥३०॥

यथा स्वगरुडं ध्यात्वा गारुडिको विषं पिवन् ।
करोति हि विषं साध्यं न विषेणाभिभूयते ॥३१॥

---

१. विंशतिमो श्लोको मूलप्रत्यां न विद्यते ।

द्वादशयोजनव्यासं चक्रं वै शिरसिभ्रमन् ।
वोधिचित्तमनुत्पाद्य आपनीतमिति श्रुतिः ॥३२॥

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सम्बोधौ कृतचेतसा ।
तन्नास्ति यन्न कर्तव्यं जगदुद्धरणाशया ॥३३॥

आदिशुद्धमनुत्पन्नं निःस्वभावमनाविलम् ।
जगत् भावेन संपश्यत् न बद्धो न च मुच्यते ॥३४॥

विचिन्त्य विधिवद्योगी देवतागुणविस्तरम् ।
रागयेत् रागचित्तेन रज्यते न च मुच्यते ॥३५॥

किं कुर्मः कलया लभ्या विचित्रा भावशक्तयः ।
विषाज्जातो यथा कश्चिद्विषेणैव तु निर्विषः ॥३६॥

कर्णाज्जलं जलेनैव कष्टकेनैव कष्टकम् ।
रागेणैव तथारागमुद्धरन्ति मनीषिणः ॥३७॥

यथैव रजको वस्त्रं मलेनैव तु निर्मलम् ।
कुर्या द्विजस्तथात्मानं मलेनैव तु निर्मलम् ॥३८॥

यथा भवति संशुद्धो रजोनिघृष्टदर्पणः ।
सेवितस्तु तथाविज्ञैः दोषाद्दोषविनाशनः ॥३९॥

लोहपिण्डो जले क्षिप्तो मज्जत्येव तु केवलम् ।
पात्रीकृतं तदेवान्यं तारयेत् तरति स्वयम् ॥४०॥

तद्वत् पात्रीकृतं चित्तं प्रज्ञोपायविधानतः ।
भुञ्जानो मुच्यते कामं मोचयत्यपरानपि ॥४१॥

दुर्विज्ञैः सेवितः कामः कामो भवति बन्धनम् ।
स एव सेवितो विज्ञैः कामो मोक्षप्रसाधकः ॥४२॥

प्रसिद्धं सहसालोक्य क्षारं विषनाशनम् ।
तदेव फणिभिः पीतं सुतरां विषवर्द्धनम् ॥४६॥

जले क्षीरं यथाविष्टं हंसः पिवति पण्डितः ।
सविषान् विषयांस्तद्वद् भुक्तमुक्तश्च पण्डितः ॥४४॥

यथैव विधिवद्भुक्तं विषमप्यमृतायते ।
दुर्भुक्तं घृतपूरादि बालानान्तु विषायते ॥४५॥

इदमेव हि यच्चित्तं शोधितं हेतुभिः शुभैः ।
निर्विकल्पं निरालम्बं भाति प्रकृति निर्मलम् ॥४६॥

यथा वह्निः कृशोऽप्येष तैलवृत्यादिसंस्कृतः ।
दीपो निर्मलनिस्कम्प. स्थिरस्तिमिरनाशनः ॥४७॥

वटबीजं यथा सूक्ष्मं सहकारसमन्वित ।
शाखामूलफलोपेतं महावृक्षविधायकं ॥४८॥

हरिद्राचूर्णसंयोगाद्वर्णान्तरमिति स्मृतं ।
प्रज्ञोपाय समायोगाद् धर्मधातुं तथा विदुः ॥४९॥

घृतञ्च मधुसंयुक्तं समांसं विषतां व्रजेत् ।
तदेव विधिवद् भुक्तमुत्कृष्टन्तु रसायनम् ॥५०॥

रसस्पृष्टं यथा ताम्र निर्दोषकाञ्चनं व्रजेत् ।
ज्ञानवृद्धास्तथा क्लेशाः क्लेशाः कल्याणकारकः ॥५१॥

हीनयानाभिरूढानां मृत्युशङ्का पदे पदे ।
सग्रामजयतुन्तन (स्तु तेषां) दूर एव व्यवस्थितः ॥५२॥

महायानाभिरूढस्तु करुणावर्मवर्मितः ।
कृपानयधनुर्वाणो जगदुद्धारणाशयः ॥५३॥

महासत्त्वो महोपायः स्थिरबुद्धि रतन्द्रितः ।
जित्वा दुस्तरसंग्रामं तारयन्त्यपरानपि ॥५४॥

पशवोऽपि हि क्लिश्यन्ते स्वार्थमात्रपरायणाः ।
जगदर्थविधातारो धन्यास्ते विरलाः जनाः ॥५५॥

शीतवातादिदुःखानि सहन्ते स्वार्थलम्पटाः ।
जगदर्थप्रवृत्तास्ते न सहन्ते कथं नु ते ॥५६॥

नारकाण्यपि दुःखानि सोढव्यानि कृपालुभिः ।
शीतवातादिदुःखानि कस्तान्यपि विचारयेत् ॥५७॥

नानिष्टकल्पनां कुर्यान्नोपवासं न च क्रियाम् ।
स्नानशौचं न चैवात्र ग्रामधर्मं विवर्जयेत् ॥५८॥

नखदन्तास्थिमज्जानः पितुः शुक्रविकारजाः ।
मांसशोणितकेशादि मातृशोणित सम्भवम् ॥५९॥

इत्थमशुचिसम्भूतः पिण्डो [illegible] ।
कथं सन् तादृशः कायो गङ्गास्नानेन शुध्यति ॥६०॥

न ह्यशुचिघटस्तोयैः क्षलितोऽपि पुनः पुनः ।
तद्वदशुचि सम्पूर्णः पिण्डोऽपि न विशुध्यति ॥६१॥

प्रतरन्नपि गङ्गायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति ।
तस्माद् धर्मधियां पुसां तीर्थस्नानन्तु निष्फलम् ॥६२॥

धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्तानां कृतार्थता ।
नक्तन्दिवं प्रविष्ठानां मत्स्यादीनान्तु का कथा ॥६३॥

पापक्षयोऽपि स्नानेन नैव स्यादिति निश्चयः ।
यतो रागादिवुद्धिस्तु दृश्यते तीर्थ सेविनाम् ॥६४॥

रागो द्वेषश्च मोहश्च ईर्ष्या तृष्णा च सर्वदा ।
पापानां मूलमाख्यातं नैषां स्नानेन शोधनम् ॥६५॥

आत्मात्मीयग्रहादेते सम्भवन्तीह जन्मिनाम् ।
अविद्याहेतुकः सोऽपि अविद्या भ्रान्तिरिष्यते ॥६६॥

रौप्यबुद्धिर्यथा शुक्तौ शुक्तिदृष्टे निवर्तते ।
नैरात्म्यदर्शनात् सापि निर्मूलमवसीदति ॥६७॥

सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ रज्जुदृष्टे निवर्तते ।
सर्पबुद्धिः पुनस्तत्र नैव स्यादिह जन्मनि ॥६८॥

सत्यबुद्धिस्तथाऽत्रापि वज्रज्ञानान्निवर्तते ।
न भूयः सम्भवेत्तत्र दग्धबीज इवाङ्कुरः ॥६९॥

नैरात्म्यशुचिसंसृष्टः पिण्डः प्रकृति निर्मलः ।
तस्य सन्तापने धर्मः कथं बालै विकल्पितः ॥७०॥

चन्द्रोदयव्ययञ्चापि अपक्षतिथिकल्पना ।
सूर्योदयव्ययेनापि दिवारात्रिव्यवस्थितिः ॥७१॥

पूर्वादिव्यवहाराख्यः शब्दत्रयविकल्पना ।
वारनक्षत्रराश्यादि सर्वलोका विकल्पितम् ॥७२॥

शीतोष्णावर्षणापेक्षं तथैव मृतुकल्पना ।
स्वकर्मफलभोगोऽयं शुभाशुभशुभग्रहादिनः ॥७३॥

अविद्याकर्दमालिप्तं चित्तचिन्तामणिः पुमान् ।
प्रवृत्तः क्षालितुं विद्वान् कोऽविद्यां वृंहयेत्पुनः ॥७४॥

न वारतिथिनक्षत्रदेशकालाद्यपेक्षणात् ।
विहरन्निर्विकल्पस्तु निर्निमित्तमशङ्कितः ॥७५॥

यद्यदिन्द्रियमार्गत्वं यायत्तत्तव् स्वभावतः ।
सुसमाहितयोगेन सर्वबुद्धमयं वहेत् ॥७६॥

चक्षुर्विरोचनो बुद्धः श्रवणो वज्रशून्यकः ।
घ्राणश्च परमाद्यस्तु पद्मनर्तेश्वरो मुखम् ॥७७॥

कायः श्रीहेरुको राजा वज्रसत्वश्च मानसम् ।
एवं सम्यक् यदा योगी विचरेत् करुणात्मकः ॥७८॥

सिद्धान्तो निर्विकल्पोऽसौ स्थिरकल्पस्तु धीधनः ।
यथेष्टचेष्टाव्याहारी सर्वभुक् सर्वकृत्तथा ॥७९॥

सर्वकामक्रियाकारी यथारुचिरचेष्टितम् ।
उत्थितो वा निषण्णो वा चंक्रमो वा स्वयन्तथा ॥८०॥

अमण्डलप्रविष्टो वा सर्वावरणवानपि ।
स्वाधिदैवतयोगात्मा मन्दपुण्योऽपि सिद्ध्यति ॥८१॥

अनेन सर्वसौरित्वं सर्वबुद्धत्वमेव च ।
जन्मनीहैव तत्त्वज्ञः संप्राप्नोति न संशयः ॥८२॥

यथा प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ।
बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः ॥८३॥

महाप्रज्ञा महोपाया महाकृपाधिमोक्ष्यतः ।
महायानसमुद्दिष्टं महासत्त्वस्य गोचरम् ॥८४॥

यत्कल्पनामसंख्यायै न प्राप्तं बह्वभिर्मतैः ।
जन्मन्यत्रैव बुद्धत्वं प्राप्यते न च संशयः ॥८५॥

महायानस्य माहात्म्यात् पुण्यज्ञानस्य सम्भवः ।
सर्वज्ञत्वपदं रम्यं सद्यो जन्मनि लभ्यते ॥८६॥

आगमश्रुतिचिन्ता तु महायाने तु गृह्यते ।
आशयानुशया भेदाद्यानभेदः प्रकाश्यते ॥८७

अन्यत्र बोधिमोक्षोऽयमन्यथा बोधिचारिका ।
अन्या चित्तविशुद्धिश्च फलमन्यदिहोच्यते ॥८८॥

समीपं निर्मलादर्शे चिरं निर्मलचक्षुषः ।
यथा भाति सुविस्पष्टं स्वच्छप्रकृति निर्मलम् ॥८९॥

विधूतकल्पनाजालं विस्पष्टशुद्धचेतसा ।
योगिनाञ्च तथा ज्ञानं प्रज्ञानिर्मलदर्पणैः ॥९०॥

सूर्यकान्तसमाश्लिष्टसूर्यकान्तमणौ यथा ।
सहसा प्रज्वलत्यग्निः समर्थः स्वार्थसाधने ॥९१॥

अ[illegible]स्तकल्पनाजालं सूर्यकान्ता निभं मनः ।
प्रज्ञा[illegible]श्लिष्टं तद्वज्ज्वलति योगिनाम् ॥९२॥

काष्ठद्वयनिघर्षेण यथाज्वलति पावकः ।
आदिमध्यान्तसंशुद्धः स वै वस्तुप्रसाधकः ॥९३॥

प्रज्ञोपा[illegible]द् ज्ञानं तथा विदुः ।
यथैवैकप्रदीपोऽयं वर्त्यन्तर समाश्रितः ॥९४॥

यथा स्थानं यथा स्वार्थं करोत्युच्चैः प्रकाशनम् ।
नानाधिमुक्तिसत्वानां यथाकृत्यमनुष्ठयेत् ॥९५ ॥

निर्दोषं शीतलं हृद्यं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
प्रज्ञाक्षीरमहोगाय त्रिरत्नमथनोत्थितम् ॥९६॥

स्फुरणानन्तमूर्तिस्तु प्रज्ञोपायविभावनैः ।
विधिज्ञो हि यथा कश्चित् क्षीरादमृतमुद्धरेत् ॥९७॥

विशुद्धधर्मधातुः स शुभाशुभ विनाशनः ।
यथा लतासमुद्भूतं फलपुष्पसमन्वितम् ॥९८॥

यथैकक्षणसंबोधिः संभारद्वयसंयुता ।
... ... घर्षणाकर्षणादिकम् ।;९९॥

मद्यमासरतो योगी कुर्वन्नप्युपलभ्यते ॥
... ...मादर्शः समीक्ष्यते ॥१००॥

महायाने यतोऽद्यापि मन्त्रसामर्थ्यदर्शनात् ।
मातृदुहि तृ सम्बन्ध ... ...॥१०१॥

... ...जगदाह तथागतः।
पञ्च बुद्धात्मकं शुक्रं शोणितञ्चापि तादृशम् ॥१०२॥

तन्मयः खलु पिण्डोऽयं को विप्रः कश्च वान्त्यजः।
— — — — सर्वं शरीरं खलु भिक्षवः ॥१०३॥

अनित्यं दुःख शून्यञ्च न जाति र्न च जातिवान्।
कैवर्तीगर्भसम्भूतः कश्चिच्च ... ... ॥१०४॥

चित्तं यथा सुखं ध्यायन् सम्बुद्धोऽयमनागतः।
सर्वंकामोपभोगोऽस्तु रमथ मुक्ततोऽभयात् ॥११२॥

मा भैष्ठा नास्ति वः पापं समयो दुरतिक्रम;।
मन्त्रसंस्कृत काष्ठादि देवत्वमधिगच्छति ॥११३॥

किं पुनः ज्ञानवान् कायः कार्यमोह विचेष्टितम्।
प्राकृतत्वमहङ्कारं परित्यज्य समाहितः ॥११४॥

प्रज्ञोपायविधानेन क्रियामिमाङ्गमाचरेत्।
पङ्कजातं यथा पद्मं पङ्कदोषै र्न लिप्यते ॥११५॥

विकल्पवासनादोषैस्तथा योगी न लिप्यते।
अनादिवासना पङ्कं विलिप्तं चित्तरत्नकम् ॥११६॥
प्रज्ञोपायजलेनैव ... ...।
स्वाधिदैवतयोगस्य स्थिरचित्तस्य धीमतः ॥११७॥

मुक्तः कुदृष्टिमेघैश्च भासते चित्तभास्करः।
... ... सहसा कल्पनाघटे ॥११८॥

प्रकृत्या निर्मलः स्वच्छो ज्ञानदीपः प्रकाशते।
सुप्रसिद्धानि भूतानि क्षित्यग्निजलवायवः ॥११९॥

क्रियन्ते ह्यन्यथा विज्ञै मन्त्रसामर्थ्ययोगतः।
सर्ववादपरित्यज्य ... . समाचरेत् ॥१२०॥

यस्य मन्त्रस्य सामर्थ्य सूक्ष्मदेवोऽपि सिद्ध्यति।
स्त्रीरत्नं न परित्याज्यं बोधिचित्तं न तथा गुरुम् ॥१२१॥

न ह्यात्मा प्राणिनः केऽपि समयानप्यधिष्ठयेत्।
महारत्नं सकर्पूरं रक्तचन्दनयोजितम् ॥१२२॥

अलिवज्रादिकञ्चैव पञ्चैतानप्यधिष्ठयेत् ।
अन्यैश्च समयैर्द्रव्यैश्चित्तस्योत्कर्षकारकैः ॥१२३॥

मारुतक्षोभशान्त्यर्थं प्रीणयेच्चित्तवज्रिणम् ।
मक्षिकापदमात्रेण विषेणाप्यभि भूयते ॥१२४॥

अणुमात्रां घृणां लज्जां दूरतः परिवर्जयेत् ।
आन्तरलिकभावस्तु व्यर्थो वै पतनं यथा ॥१२५॥

गुरो राज्ञाश्चमुद्राश्च छायामपि न लङ्घयेत् ।
गुणास्तस्य परं ग्राह्यं दोषा नैव कदाचन ॥१२६॥

भ्ययुद्धं (?) वाचां विज्ञाः स्वपरायतनमेव वा ।
आचार्यः परमो देवः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥
स्वयं वज्रधरो राजा साक्षाद्रूपेण संस्थितः ॥१२७॥

यथोदकमणिः सम्यग् कलुषोदकशोषकः ।
सद्धर्माणस्तथा प्रोक्ताश्चित्तरत्नविशोधकः ॥१२८॥

शर्धावान् पूज्यते क्वापि प्रज्ञाचक्षुविवर्जितः ।
उत्पादयेदतः प्रज्ञामागमाधिगर्मात्मिकाम् ॥१२९॥

श्राद्धो बहुश्रुतः प्राज्ञो प्रकृत्या करुणात्मकः ।
जगद्दुखविनाशाय सुखोपायं स विन्दति ॥१३०॥

चित्तविशुद्धिमाधाय यन्मयोपार्जितं शुभं ।
चित्त विशुद्धिमाधाय तेनास्तु सुखिनो जनाः ॥१३१॥

इति कृतिरियमार्यदेवपादानामिति
स्वपरार्थहेतुका स्वात्रहरितन्त्रे ति शुभं मये लिखितम् ।
यथात्मानः प्रियः प्राणाः सर्वेषां प्राणिनान्तथा ॥

---

३. हस्तवालप्रकरणवृत्तिः[१]

मञ्जुश्रिये ज्ञानसत्वाय नमः

त्रैलोक्ये व्यवहारमात्रे सति परमार्थाभिमानात् तत्वार्थानवगाहिभिः सत्वैर्वस्तुस्वभावविवेकद्वारेणाविपर्ययज्ञानसंप्राप्तये शास्त्ररचनेयं ।

१. रज्जौ सर्पमनस्कारो रज्जुं दृष्ट्वा निरर्थकः ।
तदंशान् वीक्ष्य तत्रापि भ्रान्ता बुद्धिरहाविव ॥६॥

२. सर्वाण्याश्रितवस्तूनि स्वरूपे सुविचारिते ।
आश्रितान्यन्यतो यावत् संवृतिज्ञानगोचरः ॥२४॥

३. निरंशानामचिन्त्यत्वादन्त्योऽप्यवस्तुना समः ।
भ्रान्तमात्रमतः प्राज्ञैः न चिन्त्यं परमार्थतः ॥४५॥

४. भ्रान्तं तदप्य सम्यक्त्वाद् यथा भानं तथास्ति न ।
अनर्थकं भासमानं तत्सदृशात्मकं भवेत् ॥

५. सर्वमेवाश्रितं येन विद्यते सूक्ष्मबुद्धिना ।
त्यजेत् स बुद्धिमान् सुष्ठुरागाद्यहिभयं यथा ॥

६. लौकिकार्थविचारेषु लोकसिद्धिमनुव्रजेत् ।
क्लेशान् सर्वांसं त्यक्तुमना यतेत परमार्थतः ॥

---

१. डा० टाससमहोदयेन (J.R.A.S., p. 267, 1918) प्रकाशिता

चतुःशतकस्य हिन्दी भाषायां भावानुवादः

७—विषय सम्भोगाभिनिवेशप्रहाणोपायसन्दर्शन ।

१. आर्यदेव ने इस प्रकरण में कर्मों के विनाश का उपाय बताया है। इस दुःख रूपी अथाह समुद्र का सर्वथा अन्त नहीं होता। इस प्रकार विचार वाले इस अज्ञानी प्राणी को संसार से भय उत्पन्न क्यों नहीं होता!

२. यौवनादि से उन्मत्त यह प्राणी संसार से भयभीत नहीं होता। यौवन बारंबार उत्पन्न होता रहता है। इसलिए इस लोक में स्थिति भी गतिस्पर्धी के समान दिखाई देती है।

३. गमन स्वेच्छया नहीं होता। कौन बुद्धिमान् व्यक्ति परतन्त्रता में रहता हुआ भी निर्भीक होता है?

४. अतीत काल में जिस प्रकार तुम अज्ञानी बने रहे, अनागत में भी वैसी ही अज्ञानता न रहे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

५. श्रोता, श्रोतव्य और वक्ता इन तीनों का उद्भव अत्यन्त दुर्लभ है। अतः संक्षेपतः संसार न अनन्तवान् है और न अन्तवान् है।

६. मानव प्रायः असत्पक्ष को ग्रहण कर लेते हैं। फलतः वे दुर्गति प्राप्त करते हैं।

७. इस भूतलपर पाप के फल की विडम्बना देखी जाती है। अतः सज्जनों के लिए यह संसार श्मशान के समान प्रतीत होता है।

८. विज्ञान के अनवस्थित होने से चित्तवृत्ति जब चंचल व अस्थिर हो जाती है तब पण्डित उसे उन्मत्त कहने लगते हैं।

९. जिस प्रकार गमनादि से उत्पन्न होने वाला रोग चंक्रमण आदि को छोड़ देने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति सर्वकर्मक्षय के लिए प्रयत्न करता है।

१०. इस संसार में जब जगत्प्रवृत्ति का एक भी भौतिक अथवा चैतसिक कार्य का आदिकारण दिखाई नहीं देता तब एक भी कार्य का अन्त्यहीन अति-विस्तार देखकर किस व्यक्ति को इस संसार से भय नहीं होगा?

११. समस्त कार्यों की सिद्धि निश्चित रूप से नहीं होती। उनका विनाश अवश्य होता है। जिस वस्तु का शीघ्र विनाश होता है उसके प्रति आसक्ति क्यों ?

१२. कार्य के समान कर्म का विगलन भी अवश्य होता है। अतः विद्वान को कर्म के प्रति विरागभाव होना चाहिए। वैराग्य का अभाव जड़ता का प्रदर्शन है।

१३. निरुद्ध होने के कारण अतीत विज्ञान का सुख नहीं और स्थिति का अभाव होने से अनागत का सुख नहीं। इस प्रकार सुख न होने से सुख प्राप्ति की लालसा में यह कर्मोपार्जन रूप श्रम किसके लिए है ? यह मात्र आयास है।

१४. यद्यपि कर्मोपार्जन मात्र आवास है तथापि स्वर्ग सुख की प्राप्ति के लिए कुशल कर्म अवश्य करना चाहिए। वस्तुतः मोहमयी होने से स्वर्ग भी नरक के समान भयङ्कर है अतः सज्जन उसे छोड़ देते हैं।

१५. अज्ञानी यदि संसार के स्वरूप पर विचार करने में समर्थ हो जायें तो वे तत्काल ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

१६. शक्ति सम्पन्न व्यक्ति मानी होता है और मन से निर्दयता आती है। फलतः ऐश्वर्य में उसे सुखाभास होता है। यही उसके अधःपतन का कारण है।

१७. यद्यपि इस प्रकार पापाचरण से अभिमानी व्यक्ति की दुर्गति और निरभिमानी व्यक्ति की सद्गति होती है। फिर भी संसार ऐकान्तिक दृष्टि से गर्हित [नहीं] है।

१८. पूर्वकृत कर्मों का फल ऐश्वर्यप्राप्ति है और उसे रक्षणीय भी माना जाता है। परन्तु आत्मीय न होने के कारण विद्वान द्वारा वह अस्थेय नहीं।

१९. कन्यादान, पोषण आदि को धर्म मान लिया जाता है अतः देश-काल के भेद से धर्म से भी बलवान लोक परम्परा दिखाई देती है।

२०. पंचकामगुणात्मक विषय कुशल कर्म से प्राप्त होते हैं परन्तु मोक्षेच्छुकों के लिए अनर्थमूलक व रागादि के कारण भूत के विषय हेय हैं।

२१. आज्ञा रूप रसास्वादन के लिए राज्याधिपत्य रूप पुण्य कार्य करना चाहिए, ऐसा सोचना भी व्यर्थ है। बिना इसके भी सिद्धि निश्चित रूप से अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

२२. अनागत काल में ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना से यह प्राणी कुशल कर्म करता है। परन्तु उसके बाद उत्पन्न दुर्गति अत्यन्त अनिष्ट होती है। अतः

फल और धर्म में राग का अभाव ही परिनिर्वाण की प्राप्ति में मूल कारण होता है।

२३. मृतक के समान यह प्राणी भी फल की आशा से दानादि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। परन्तु संसार का कारणभूत होने से उसकी ऐसी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

२४. जो संसार को कारण पूर्वक उत्पन्न होने से यन्त्र मायादि के समान स्वभाव रहित अभाव रूप देखते हैं वे निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।'

२५. अतएव विषयराग अज्ञानियों के लिए संसार का कारण है। धर्म स्वभाव से सुपरिचित होने के कारण जिन्हें न संसार से अनुराग है और न अनुकूल होने पर भी दिव्य व मानवीय विषयों में आसक्ति है उन्हें जन्म, जरा, व्याधि आदि में अभिरति असम्भव है। संसार में उनकी अनुरक्ति सर्वथा अनुपयुक्त है।

८—शिष्यचर्या

१. जिस प्रकार प्रतिकूल व्यक्तियों में स्नेह भाव चिरकाल तक नहीं ठहरता उसी प्रकार सभी वस्तुओं का दोषज्ञान हो जाने पर रागभाव बहुत समय तक नहीं ठहरता।

२. एक ही पदार्थ में एक व्यक्ति आसक्त रहता है, दूसरा द्वेष करता है और तीसरा उसी में मोहित होता है। इसलिए रागभाव का कोई स्वरूप न होने से यह आसक्ति निरर्थक है।

३. कल्पना के बिना रागादि भावों का अस्तित्व नहीं होता। यदि पदार्थ का वास्तविक अस्तित्व होता तो कल्पना की क्या अपेक्षा थी?

४. किसी का किसी के साथ बन्धन नहीं देखा जाता। यदि बन्धन दूसरे के साथ वस्तुत: होता तो उसका विप्रयोग नहीं होना चाहिए। अतः रागादिक भाव स्वभावतः शून्यात्मक हैं।

५. संसार में प्राणी प्रायः दुखी इसलिए दिखाई देते है कि उन अल्प पुण्यात्मक लोगों को इसके विषय में कोई सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ। यदि मात्र सन्देह उत्पन्न हो जाता तो संसार से उनकी मुक्ति हो जाती।

६. मोक्ष पर्यन्त जिस शून्यता स्वरूप धर्म की वृद्धि भगवान तथागत ने कही है उसमें जिसकी भक्ति नहीं, वह निश्चयेन बुद्धिमान् नहीं है।

७. अशून्य संसार के विषय में यदि शून्यता के उपदेश से निर्वाण की प्राप्ति हो तो मिथ्यादर्शन ज्ञान से ही निर्वाण मिलने लगेगा। परन्तु तथागत मिथ्यादर्शन ज्ञान से तो मुक्ति मानते नहीं। मुक्ति तो उन्होंने सम्यग्दर्शन (सम्मादिट्ठि) से बताई है।

८. जहाँ लौकिकी देशना है वहाँ प्रवृत्ति का उपदेश है और जहाँ परमार्थ कथा है वहाँ निवृत्ति का उपदेश है।

९. मैं क्या करूं, समस्त जगत असत् है, ऐसा भय तुम्हें उत्पन्न हो जाता है। यदि प्रवृत्यात्मक कर्तव्य मानों तो यह धर्म निवर्तक नहीं, प्रवर्तक ही होगा।

१०. आर्यदेव का कहना है कि तुम्हें स्वपक्ष में तो राग है और परपक्ष में द्वेष है। अतः निर्वाण प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि द्वन्दचारी निर्वाण नहीं पाते।

११. समस्त क्रियाओं में व्यापार शून्य पुरुष निश्चित ही बिना किसी प्रयत्न के निर्वाण लाभ करता है और कुशल अकुशल आदि प्रवृत्तियों द्वारा सांसारिक सुख व पुनर्जन्म प्राप्त करता है। इनमें विद्वान व्यक्ति निर्वाण प्राप्त करने का ही प्रयत्न करेगा, पुनर्जन्म का नहीं।

१२. जिसके चित्त में संसार से उद्वेग नहीं, निर्वाण में उसकी भक्ति कैसे संभव है! उसे इस संसार से निकलना अपने प्रासाद से निकलना जैसा दुष्कर है।

१३. दुःख से प्रपीड़ित कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते हैं जो मृत्यु प्राप्ति की आकांक्षा रखते हैं। वे निर्वाण की ओर इसलिए नहीं जाते कि उन्हें सांसारिक विषयों से मोह है।

१४. भगवान् बुद्ध हीन शिष्य के लिए दान, मध्य शिष्य के लिए शील और उत्तम शिष्य के लिए शान्ति का उपदेश देते थे। उनका यह भी कहना था कि सदैव शान्ति प्राप्त करो।

१५. बुद्ध शासन से क्रमशः सभी का त्याग करना आवश्यक बताया गया है। सर्वप्रथम अपुण्य (पाप) को दूर करना, बाद में आत्मवाद छोड़ना और तदनन्तर स्कन्ध, धातु, आयतन आदि में स्नेह भी छोड़ देना, परित्याग के इस क्रम को जो जानता है वह बुद्धिमान है।

१६. एक पदार्थ को समुचित रूप से जानने वाला समस्त पदार्थों को पूर्णतः जान लेता है। एक वस्तु में शून्यता का ज्ञान सभी वस्तुओं की शून्यता का ज्ञान कराने में सक्षम है।

१७. तथागतों ने स्वर्गादिक सुखों की प्राप्ति के लिए धर्म में राग करना बताया है और मोक्षेच्छुकों के लिए उसी धर्म की निन्दा की है।

१८. पुण्य की इच्छा से शून्यता का उपदेश कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि औषधि का भी यदि अस्थान में प्रयोग किया जाय तो वह विष बन जाती है।

१९. अतएव जिस प्रकार म्लेच्छ अपनी ही भाषा में समझ सकता है उसी प्रकार लौकिक जन को भी पहले वस्तुधर्म आदि का ज्ञान कराकर ही शून्यता का उपदेश दिया जा सकता है।

२०. इसलिए तथागत संसारियों की स्थिति (शक्ति) देखकर उपाय-कौशल से किसी को सत्, किसी को असत्, किसी को सत् असत्, और किसी को न सत् न असत् का उपदेश देते हैं। यह ठीक ही है क्योंकि रोगग्रस्त होने पर औषधियाँ स्थिति को देखकर ही दी जाती हैं।

२१. सम्यग्ज्ञान (सम्यग्दृष्टि) द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। कुछ कम दृष्टि-ज्ञान होने पर शुभ गति मिलती है। इसलिए विद्वानों को अध्यात्म विचार में सदैव बुद्धि लगानी चाहिए।

२२. तत्त्वज्ञ यदि इस जन्म में निर्वाण प्राप्त नहीं कर पाता तो कर्मफल के समान पुनर्जन्म में वह बिना किसी प्रयत्न के मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

२३. केवल चिन्ता करने से ही कार्य सिद्धि नहीं होती और न निर्वाण मिलता है। इसीलिए तो मुक्त कम ही दिखाई देते हैं।

२४. शरीर की निर्गुणता (विनाशशीलता) पर विचार करने से उसमें क्षण भर भी राग (मोह) नहीं ठहरता। इसी विराग भाव से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

२५. जिस प्रकार हेतु परम्परा से प्राप्त अनादिमान बीज का अन्त दाहादि द्वारा देखा जाता है, पर आदि नहीं। उसी प्रकार जन्म के कारणों के नष्ट होने से जन्म परम्परा नष्ट हो जायगी।

६–नित्यार्थ प्रतिषेधभावनासन्दर्शन

१. समस्त संस्कृत पदार्थ कार्य के लिए उत्पन्न हुए हैं। अतः वे नित्य नहीं हैं। बुद्ध इस अनित्य और शून्यता रूप उपदेश से ही तथागत हुए हैं। विपरीत तत्त्वोपदेश से यथावस्थित तत्त्वार्थों का ज्ञान न होने के कारण और दूसरा कोई तथागत नहीं है।

२. किसी भी वस्तु का कहीं पर कभी भी कारण के बिना अस्तित्व नहीं होता इसलिये कहीं पर कोई भी पदार्थ कभी भी शाश्वत नहीं है।

३. पदार्थ निर्हेतुक नहीं होता और जिसका कारण होता है वह पदार्थ नित्य नहीं होता। अतएव अकारण से सिद्धि नहीं होती, ऐसा तत्ववेत्ता तथागत ने कहा है।

४. अनित्व एवं कृतक (कृत्रिम) घट, सुखादिक को देखकर अकृत्रिम आत्मादि को यदि नित्य माना जाय तो कृत्रिम पदार्थ की अस्तित्व प्रतीति से अकृत्रिम पदार्थ में नास्तित्व की सिद्धि क्यों न मानी जाय ?

५. पृथग्जन (मूर्ख) आकाशादि को कल्पान्त नित्य मानते हैं। परन्तु विद्वज्जन लौकिक दृष्टि से भी आकाशादिकों में कोई पदार्थ नहीं देखते। अतः रूप का अभाव मात्र ही आकाश है इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं।

६. आकाश नित्य ही है व्यापक होने से यह तर्क भी संगत नहीं क्योंकि आकाश के सभी अवयव सर्वत्र व्याप्त नहीं होते। यदि सर्वत्र व्यापक है तो प्रदेश का सद्भाव नहीं रहेगा। प्रदेश के अभाव में प्रदेशी का भी अभाव हो जायगा। इस दोष को दूर करने को दृष्टि से यह मान्य है कि एक प्रदेशी में सभी प्रदेश नहीं रहते। यह सुस्पष्ट है। अन्य प्रदेश भो प्रदेश में समझना चाहिए। अतएव असर्वगत प्रदेश के समान प्रदेशी आकाश का घट के समान विभुत्व (व्यापकता) नष्ट हो जाता है।

७. कालवादी यह मानते हैं कि संसार की उत्पत्ति और लय का कारण होने से काल का सद्भाव अनुमित है। बीजादि कारणों के होने पर भी अङ्कुरादि की उत्पत्ति सदैव नहीं होती। इस विचार के खण्डन में आर्यदेव ने कहा है कि जिसके रहने पर अङ्कुरादि की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) और न रहने पर निवृत्ति (विनाश) होती है यह कार्य किसो दूसरे के आश्रित रहता है। इस प्रकार कार्यभूत अङ्कुरादि के समान काल अनित्य हो है।

८. कालवादी की दृष्टि में बीजादि कारण ही जगत की प्रवृत्ति में फल रूप में परिणत हो जाता है। आर्यदेव का तर्क इसके खण्डन में यह है कि यदि हेतुओं में फल के बिना हेतुता ही नहीं तो उस स्थिति में सभी हेतुओं में फल वत्ता प्रसक्त हो जावेगी। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अग्नि से जले बीज में अङ्कुर (फल) नहीं होता। अत: काल फलात्मक हेतु नहीं माना जा सकता।

९. कारण रूप काल ही विकृत रूप धारण करता हुआ यदि अन्य इस विचित्र जगत का कारण है तो काल को कार्योत्पादन के पूर्व अपनी नियत पूर्वावस्था को छोड़ना पड़ेगा। तब काल की उस विकृत अवस्था के होने पर काल को शाश्वत कैसे कहा जा सकता है ?

१०. फल के उत्पन्न होने पर भी काल में कोई विकार नहीं होता। इस लिए काल से उत्पन्न होने वाला फल बिना विकार के ही उत्पन्न होता है! अर्थात् हेतु प्रत्यय की अपेक्षा किये बिना ही स्वयमेव उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि विकृत बीज से ही अङ्कुरादि उत्पन्न होता है, पर काल का विकृत रूप अङ्कुरादि है यह कथन बुद्धिसंगत नहीं। जगत स्वत: सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए काल को कारण मानने की आवश्यकता नहीं।

११. कभी भी नित्य पदार्थ से अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। अत: नित्यकाल रूप कारण से अनित्य जगत रूप फल की उत्पत्ति कैसे सिद्ध हो सकती है ? अत: काल नित्य नहीं।

१२. परमाणुवादियों के अनुसार पृथ्वी आदि परमाणु जो नित्य और अदृश्य है उनसे द्व्यणुक, द्व्यणुक से त्र्यणुक इत्यादि क्रम से अवयवि द्रव्यों की आरम्भिक क्रियाओं से यह विचित्र जगत उत्पन्न होता है, परन्तु यह उनकी मान्यता ठीक नहीं। जिस परमाणु का कोई अवयव हेतु होगा, उसी का दूसरा अवयव अहेतु भी होगा। इस प्रकार वह भिन्न भिन्न हो जावेगा। परंतु शाश्वत वस्तु का अनेक प्रकार का होना युक्तियुक्त नहीं।

१३. यदि परमाणु सर्वात्मना दूसरे परमाणु से युक्त है, प्रदेश से नहीं, तो हेतु है। हेतुभूत एक परमाणु का दूसरे परमाणु में सर्वात्मना संयोग मानने से परमाणु के अणु परिमाण का कार्य द्व्यणुका द्व्यणु में भी संयोग मानने का प्रसंग आयगा। अखिल विश्व परमाणु मात्र होने से अदृश्य (अतीन्द्रिय) हो जायगा ! पर संसार दृश्य है। अतः परमाणु का परमाणु में सर्वात्मना योग नहीं मानना चाहिए।

१४. यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से योग न माना जाय तो एक परमाणु का जो स्थान है, वही दूसरे परमाणु का नहीं हो सकता। हेतु और फल दोनों का समान स्थान नहीं माना जाता। अतः परमाणु में प्रदेश व नानात्व है। फलतः वह नित्य नहीं।

१५. परमाणु का परमाणु से जो संयोग होता है वह किसी एक अंश में होता है। वह अंश उसका अवयव हुआ और पूर्व का अंश अवयवी हुआ। इस स्थिति में उसे अणु नहीं कहा जा सकता। अतः परमाणु भी घटादि की तरह अनित्य है।

१६. यदि परमाणु को निरवय माना जाय तो उसमें गति नहीं होसकती। उसे गन्ता (गमन करने वाला) नहीं कहा जा सकता। गति न होने से एक परमाणु का दूसरे परमाणु से संयोग भी नहीं होगा। संयोग न होने से घटादि कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः परमाणु द्रव्य नहीं, अनित्य है।

१७. जिस परमाणु का न आद्यंश है, न मध्यमांश है, और न अन्त्यांश है। वह अव्यक्त (अदृश्य) परमाणु किसकी दृष्टि में आ सकता है ? अर्थात् योगी आदि कोई भी व्यक्ति उसे नहीं देख सकता।

१८. परमाणु सृष्टि निमित्तक है और नित्य है यह कथन भी ठीक नहीं अङ्कुर रूप फल से बीज रूप हेतु का नाश हो जाता है। अतः हेतु रूपसे परमाणु

नित्य नहीं हो सकता। जिस फल रूप कार्य में हेतु विद्यमान हो तो उससे फल रूप कार्य विद्यमान नहीं रह सकता। अतः उस फल में एक साथ हेतु के विद्यमान न होने से बीजादि की तरह परमाणु भी नित्य नहीं है और न जगत की उत्पत्ति का कारण है।

१६. किसी भी अन्य पदार्थ में संश्लिष्ट रहने वाला पदार्थ शाश्वत नहीं दिखाई देता। अतः वैशेषिक दर्शन के समान बौद्ध दर्शन में भी परमाणु का नित्यत्व मान्य नहीं। इस प्रकार परमाणु की उत्पत्ति स्थिति और निरोध न क्रमशः होते हैं। और न युगपद्।

२०. उपाय, बन्धन और बन्ध्य इन तीनों से यदि मोक्ष भिन्न हो तो उससे कुछ भी नहीं होगा और फलतः उसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

२१. निर्वाण में स्कन्ध नहीं होते। पुद्गल की भी उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ निर्वाण दिखाई नहीं देता, वहाँ निर्वाण से तात्पर्य क्या। अतएव निर्वाण न आधारभूत है और न आधेयभूत। निराधार के आधेय के अभाव से निर्वाण कैसा! अतएव पदार्थ नित्य नहीं है।

२२. सांख्यों के अनुसार मुक्त व्यक्ति की मोक्षावस्था में ज्ञान का अस्तित्व रहता है। आर्यदेव ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि भवहीन व्यक्ति के लिए ज्ञान के सद्भाव का कोई लाभ नहीं। क्योंकि उसके हेतुफलात्मक सारे विकार समूह प्रशान्त हो चुके। यदि मोक्ष काल में अज्ञान माने तो ज्ञान के सद्भाव में अभिन्न स्वभाव वाले पुरुष की अज्ञानकल्पना बन्ध्यापुत्र की तरह स्पष्टतः अस्तित्वहीन होगी।

२३. यदि मोक्षावस्था में आत्मा का अस्तित्व स्वीकारा जाय तो आत्मा के रहने से आत्माश्रित ज्ञान-शक्ति का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। और ज्ञान शक्ति ज्ञान अस्तित्व स्वरूप है। अतः आत्मा के अभाव में ज्ञानशक्ति निराश्रित हो जाती है और फलतः भव-भावना भी निवृत्त हो जाती है।

२४. दुःख से विमुक्त पुरुषों में निश्चय रूप से अन्य कुछ भी नहीं रह जाता। आत्मा का जो क्षय है, वही श्रेयस्कर है, मुक्त आत्मा नहीं। यदि मोक्ष में भी आत्मा का अस्तित्व माना जाय तो वह नित्य और अविकारी भी है। ऐसा मानने पर बन्ध, मोक्षावस्था, संसार निवृत्ति ये सभी असंगत हो जावेंगे। यदि बन्ध-मोक्ष के लिए विकारी आत्मा को स्वीकारें तो विकारी होंने से अनित्य तायत्ति हो जायगी। अतः मुक्तावस्था में आत्मवाद अयुक्त है।

२५. संसार के दुःखों से उद्विग्न व्यक्ति के लिए दुःख त्याग ही उचित

है, सर्वाभाव नहीं। सर्वाभाव होने पर सुख का भी अभाव हो जानेसे अपना कुछ भी उपकार नहीं किया जा सकेगा। अतः लौकिक पदार्थ ही अच्छा है। लौकिक में तो कुछ रहता है, परन्तु परमार्थ मे कुछ नहीं।

१०—आत्मप्रतिषेध भावनासन्दर्शन

२२६. आत्मा नामक कोई पदार्थ स्वरूपतः नहीं है। यदि है तो वह नियमतः स्त्री रूप है अथवा पुरुष रूप है अथवा नपुंसक रूप। तीर्थकों ने आत्मा दो प्रकार का माना है—अन्तरात्मा और बहिरात्मा। अन्तरात्मा जब न स्त्री है न पुरुष और न नपुंसक है तो अज्ञान से ही मैं पुरुष हूँ ऐसी प्रतीत होती है।१।

२२७. जब समस्त भूतों में स्त्री, पुमान् व नपुंसक लिङ्ग नहीं है तो उन्हीं से उत्पन्न होने वाले स्त्री, पुमान् व नपुंसक क्यों होते हैं ? ॥२॥

२२८. जो तुम्हारा आत्मा है वह मेरा आत्मा नहीं। अतएव आत्मा नियमतः नहीं। अहङ्कार और आत्मस्नेह स्वभावतः नहीं प्रत्युत आत्मा में कल्पनामूलक हैं। ईन्धन में अग्नि की कल्पना के समान आत्मा की कल्पना अभूतार्थ का आरोपण मात्र है। अतः अनित्य पदार्थो में ही आत्मा की परिकल्पना होती है।।३॥

२२९. प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण होने से तथा शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता होने से आत्मा का अस्तित्व स्वभावतः है यह कहना भी ठीक नहीं। प्रश्न है यह आत्मा जन्मान्तर परिवर्तन में दैहिक भेद के विकारों को दूर करता है अथवा नहीं ? यदि दूर नहीं करता है तो आत्मा की कल्पना निरर्थक है और

यदि दूर करता है तो देह के विकारों का अनुविधायक होने के कारण देह के एक देश के समान यह आत्मा देह से न भिन्न है और न नित्य है। अतएव आत्माध्यारोप अयुक्त है ॥४॥

२३०. दैहिक चेष्टा, संकोच, प्रसारण आदि का प्रेरक होने से भी आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्पर्शरहित कोई भी पदार्थ प्रेरक नहीं हो सकता। प्रदेशाभाव से यह आत्मा स्पर्शवान् नहीं। अप्रदेशी होने से उसका संयोग भी नहीं और संयोग से विरहित वस्तु की प्रेरणा नही होती। अतएव दैहिक चेष्टा आदि का कर्त्ता होने से भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना संगत नहीं ॥५॥

२३१. यदि आत्मा को नित्य माना जाय तो लोक में अहिंसा को धर्म मानने का क्या प्रयोजन! घुण से वज्र की रक्षा किसी भी तरह संभव नहीं ॥६॥

२३२. जातिस्मरण के सद्भाव से आत्मा यदि नित्य है तो जात्यन्तरों में हुए आघातों को देखकर तुम्हारा काय अनित्य क्यों है ॥७॥

२३३. यदि यह आत्मा जातिस्मरण स्वभाव से करता है तो भी ठीक नहीं क्योंकि कल्पना करना उसका स्वभाव नहीं। यदि सचित्त आत्मा के ज्ञातृत्व गुण उत्पन्न होता है तो सचित्त के चित्त नहीं होगा और पुरुष (आत्मा) नित्य नहीं होगा ॥८॥

२३४. यह आत्मा सत्व रूप से चेतना को प्राप्त होता है तथा सुख दुःखा दिमान् होने से पूर्व स्वरूप को विनष्ट कर विशेष विशेष स्वरूप को प्राप्त करता है। इसलिए सुखादि के समान आत्मा की नित्यता भी युक्त नहीं ॥९॥

२३५. यदि आत्मा चैतन्य स्वरूप और नित्य है तो नेत्रादि ज्ञान के कारण (साधन) इन्द्रियां निरर्थक हो जावेंगी। अग्नि यदि नित्य है तो ईन्धन व्यर्थ हो जायगा। पर यह होता नहीं। अतः आत्मा चैतन्य स्वरूप और नित्य नहीं ॥१०॥

२३६. जैसे वृक्षादिक चलन क्रिया के प्रारम्भ से पूर्व की अवस्था से द्रव्य रूप से विद्यमान है वैसे आत्मा नहीं। क्योंकि आत्मा चैतन्य रूप मात्र होने से चैतन्य शक्ति से पृथक् है नहीं और द्रव्य रूप के अभाव से चैतन्य रहित होने पर भी उसका अस्तित्व है, ऐसी कल्पना की नहीं जा सकती। अतएव आत्मा है परन्तु चैतन्य नहीं, ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं। और जो चैतन्य शक्ति के सद्भाव से आत्मा के अस्तित्व की कल्पना की जाती है वह भी युक्त नहीं। क्योंकि निराधार शक्ति का सद्भाव नहीं होता ॥११॥

२३७. यदि पुरुष (आत्मा) चैतन्य व्यक्ति के पूर्व चैतन्य शक्ति रूप हो तो चेतना धातु पृथक् देखी जाती है और चेतना पृथक् देखी जाती है। लोहे के द्रवत्व के समान पुरुष विकार भाव को प्राप्त हो जाता हैं ॥१२॥

२३८. आकाश के समान अत्यन्त महान् इस पुरुष के मनोमात्र में चैतन्य पाया जाता है। ऐसा मानने पर पुरुष अचेतन ही है। क्योंकि जैसे परमाणु मात्र नमक के संयोग से गंगाजल को नमक वाला नहीं कहा जा सकता वैसे ही आत्मा को भी मन के संयोग मात्र से चेतन नहीं कहा जा सकता। आत्मा द्रव्य है और चैतन्य गुण है। दोनों परस्पर भिन्न हैं ॥१३॥

२३९. आत्मा को प्रत्येक प्राणी में सर्वव्यापी मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि मैं आकाश की तरह सर्वव्यापी होता तो दूसरे पदार्थों में 'यह मेरा है' ऐसी तर्कणा क्यों नहीं होती? अतएव दूसरा आत्मा दूसरे पदार्थ में आवरण युक्त नही ॥१४॥

२४० जिन वादियों के मन में सत्, रज और तम ये तीनों गुण कर्ता और अचेतन मैं उन वादियों और उन्मत्तों में कोई अन्तर नहीं ॥ १५ ॥

२४१. सत्, रज, और तम ये तीनों गुण गृह आदि को बना सकते हैं परन्तु उनका उपभोग नहीं कर सकते। इससे अधिक और क्या अयुक्त हो सकता है! ॥ १६ ॥

२४२. जिस मत में आत्मा ही धर्म-अधर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता है वहां भी आत्माकी नित्यता अयुक्त है। क्योंकि क्रियावान् नित्य नहीं होता और सर्व व्यापक वस्तुओं में क्रिया नहीं होती। निस्क्रियता और नास्तिकता ये दोनों तुल्य हैं। फलतः नैरात्म्यवाद तुम्हें प्रिय क्यों नहीं? समस्त असत दृष्टियों से निवृत्ति पाने के लिए नैरात्मवाद अवश्य प्रिय होना चाहिए ॥१७॥

२४३. कोई प्रत्येक शरीर में अभिन्न रूप से वर्तमान आत्मा को व्यापक मानते हैं। कोई उस आत्माको शरीर तक सीमित मानते हैं, कोई 'अणुमात्र मानते हैं। और कोई विद्वान् आत्मा नहीं है ऐसा स्वीकार करते हैं ॥१८॥

२४४. नित्य आत्मा को बाधा कैसी! और बाधा (उपकार, अपकार आदि) के बिना मोक्ष कैसे! अर्थात् नित्य आत्मा में बाधा नहीं हो सकती और बाधा रहित का मोक्ष भी कहना असंगत होगा। अतः जिसके मत में आत्मा नित्य हैं उसके मत में मोक्ष की कल्पना युक्त नहीं होगी ॥ १९ ॥

२४५. यदि आत्मा स्वरूपतः होता तो मोक्षावस्था में भी उस आत्मा का सद्भाव होता। उस स्थिति में नैरात्म्य चिन्तन की कल्पना युक्त नहीं। अतएव आत्मतत्त्व ज्ञान से नियमतः निर्वाण होता है यह भी असत्य है ॥२०॥

२४६. मुक्त होता हुआ आत्मा यदि नहीं रहता है तो मुक्ति के पूर्व भी उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि असंयुक्त होने पर जो जैसा देखा गया वह उसका स्वभाव कहा जाता है ॥ २१ ॥

२४७. यदि अनित्य वस्तु का उच्छेद माना जाय तो बीजादि से आज भी वृक्षादिक कैसे प्राप्त होते ? यदि अनित्य वस्तु का सर्वथा नाश माना जाय तो निश्चित ही किसी भी प्राणी को मोह नहीं होता। परन्तु मोह होता अवश्य है। अतः आत्मा स्वभावतः नहीं है ॥ २२ ॥

२४८. समस्त भावों की उत्पत्ति में आत्मा को कारणभूत मानकर उसको नित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि हेतु-प्रत्यय को जन्म देने वाले भाव नित्य नहीं रहते। तथा आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी वस्तुओं की उत्पत्ति दूसरे कारणों से देखी जाती है और दूसरे कारण से स्थिति देखी जाती है तथा वैसे ही विनाश भी देखा जाता है ॥ २३ ॥

२४९. जब नित्य वस्तु से उत्पत्ति नहीं होती तो लोक में जैसे अनित्य बीज से अनित्य ही अङ्कुर पैदा होता है उसी प्रकार अनित्य वस्तुओं से सभी अनित्य ही उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

२५०. भाव अर्थात् फल, अङ्कुरादि बीज से उत्पन्न होते हैं अतः बीज का उच्छेद नहीं होता। और जब अन्यादि संयोग के समान भाव बीजादि हेतुक अङ्कुरादि सन्तान को उत्पन्न नहीं करते हैं तब बीज में उच्छेद दृष्टि होती है। परन्तु सृष्टि के आरम्भ से अब तक अङ्कुरादि प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूप से देखी जारही है। अतः बीजमें उच्छेद दृष्टि (अनित्यता) संभव नहीं। इस प्रकार भावों की अनित्यता तथा निःस्वभावत्व स्पष्ट है ॥ २५ ॥

११–कालप्रतिषेध भावना सन्दर्शन

२५१. नित्य पदार्थों का सर्वथा अभाव न होने से काल का सद्भाव है। पंच महाभूत व बीज आदि कारणों के होते हुए भी कदाचित् पुष्पादि की उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। अतः काल पदार्थ सिद्ध होता है। क्षण, पल्य, मुहुर्त तथा अतीत, अनागत व वर्तमान कालों में वह व्यवस्थित रहता है। वह भाव से भिन्न है अतः नित्य है। आर्यदेव ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि यदि काल भाव से भिन्न और ज्ञाद से सिद्ध हो तो वह उत्पाद और व्यय का कारण होगा परन्तु है नहीं। घटादि द्वारा तीनों कालों की व्यवस्था करना सम्भव नही। इस प्रकार तीनों कालों का निषेध करने से काल का प्रतिषेध करते हुए कहा गया है कि भावो घट में वर्तमान और अतीत दोनों घट विद्यमान नहीं हैं। अतएव अनागत दोनों घट न होने के कारण अनागत काल नहीं है ॥ १ ॥

२५२. यदि अतीत और अनागत इन दोनों का स्वभाव अनागत में विद्यमान है तो जो स्वयं अनागत है वह अतीत कैसे होगा ? ॥२॥

२५३. वर्तमान काल में अनागत काल भी अनागतत्व रूप से ही विद्यमान है। अतएव अनागत नहीं है ॥ ३ ॥

२५४. अनागत है, अतीत है और वर्तमान है। क्या नहीं है ? समस्त काल में जिसकी अस्तिता है उसको अनित्यता कैसे ॥ ४ ॥

२५५. जिस प्रकार अनागत में अनागतत्व नहीं, उसी प्रकार अतीत में भी अतीतत्व नहीं। यदि अतीत काल से अतीत काल उत्पन्न होता है तो अतीत काल कहां से उत्पन्न होता है ? यदि अतीत काल से अनतीत उत्पन्न होता है तो अतीत कहां से उत्पन्न होता है ? अतएव अतीत काल का अस्तित्व सम्भव नहीं। साथ ही उससे अनपेक्षित अनतीत भी नहीं है। इस प्रकार स्वरूपतः तीनों काल नहीं हैं ॥ ५ ॥

२५६. वैभाषिक सर्वकाल का सद्भाव मानकर सर्वास्तिवाद का पक्ष ग्रहण करते हैं। उसकी परीक्षा करते हुए आर्यदेव पूछते हैं कि उस अनागत अर्थ के अस्तित्व की कल्पना उत्पन्न होने पर की जाती है अथवा अनुत्पन्न होने पर। यदि अनागत उत्पन्न होता है तो वह उत्पन्न होने से वर्तमान होगा, अनागत

कैसे ! यदि वह अनुत्पन्न है तो अनागत भी हुआ और विद्यमान भी। तब निर्वाण की तरह इसे भी अनित्य मानना पड़ेगा ॥ ६ ॥

२५७. जन्म के बिना भी केवल स्वरूप परिवर्तन से यदि अनागत अनित्य है तो अतीत के भी स्वरूप का भंग परिवर्तित नहीं होता। अतः अतीत को नित्य मान लेना पड़ेगा ॥ ७ ॥

२५८. यह वर्तमान पदार्थ अनित्य और अतीत नहीं है। इन दोनों के अतिरिक्त और कोई तीसरी गति भी उसको नहीं होती। वर्तमान और अतीत के अनित्य सिद्ध न होने पर उत्पत्ति रहित आकाशादि की तरह अनागत का और अनित्यता तो अत्यन्त असंगत होगी। आश्रयाभाव अनवस्था दोष से विनष्ट वस्तु की पुनरुत्पत्ति संभव नहीं। अतः जैसे नित्य आकाश में अनित्य वर्तमान और अतीत की कल्पना निरर्थक है, वैसे ही काल के वर्तमान और अतीत तथा अनागत की यह स्वभावभाववादी की कल्पना असंगत है ॥ ८ ॥

२५९. उत्पत्ति से पूर्व अवस्थित जो भाव—तन्तु में पटत्व, कपाल में घटत्व आदि-हेतु-प्रत्ययों द्वारा पश्चात् उत्पन्न होता है उसका यदि उत्पत्ति से पूर्व स्वरूपतः अस्तित्व है, ऐसा माना जाय तो नियतिवादियों का प्रतिनियतस्वभाव, निर्हेतुक, पुरुषकार शून्य उपपत्ति विरुद्ध पक्ष मिथ्या नहीं होगा। तब दृष्टादृष्ट विरोध आयगा तथा पुरुषार्थ और प्रतीत्यसमुत्पाद की अपेक्षा नहीं रहेगी ॥९॥

२६० जिस पदार्थ का हेतु-प्रत्ययों से उत्पादन किया जाता है वह जन्म के पूर्व है, ऐसा मानना युक्त नहीं। यदि उसका अस्तित्व होता तो विद्यमान (सत्) वस्तु का पुनरुत्पादन होता परन्तु सत् का पुनरुत्पादन होता नहीं ॥१०॥

२६१. यदि अनागत पदार्थ योगियों द्वारा देखा जाता है तो बन्ध्यापुत्रादि जैसे अविद्यमान पदार्थ क्यों नहीं देखे जाते ? जिसके मत में अनागत पदार्थ स्वरूपतः है उसके मत में वह दूर नहीं होना चाहिए ॥ ११ ॥

२६२. दानादि धर्मोंका उपदेश भी अनागत भाव में प्रमाण नहीं। क्योंकि वह दानादि धर्म यदि अकृत (नित्य) है तो संयम व्यर्थ हो जाता है और फिर स्वल्प कर्तव्य भी सत्कार्य का उत्पादक नहीं हो सकता। अतः अनागतवाद अयुक्त है ॥ १२ ॥

२६३. अनित्यत्ववाद और सत्कार्यवाद के परस्पर विरोधी होने से एक वस्तु में ये दोनों कैसे संभव हैं ? इस आशंका पर आर्यदेव ने कहा है कि अनित्य वह है। जिसका आदि और अन्त दोनों हों। अतः आद्यन्त के सद्भाव से लोक अनित्य है और अनित्य होने पर सत्कार्यवाद कैसे रहेगा ? ॥ १३ ॥

२६४. सत्कार्यवाद में दोष दिखाई देने से अनागत काल नहीं है, ऐसा जिनका दर्शन है, उनके दर्शन में भी यदि अनागत नहीं है तो बिना प्रयत्न के ही मुक्तों को मोक्ष-प्राप्ति हो जायगी । तब रक्त वर्ण के बिना रक्त वर्ण की भी उत्पत्ति दिखाई देने लगेगी ॥ १४ ॥

२६५. सांख्य और वैभाषिक दर्शन सत्कार्यवादी हैं। तथा वैशेषिक, सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी दर्शन असत्कार्यवादी हैं ! इन दोनों के मतों में गृह के निमित्त स्तम्भादियों का अलंकृत करना निरर्थक है। क्योंकि यह अलंकार रूप कार्य तो गृह में सत्कार्यवादी के मत में पहले से ही विद्यमान है और असत्कार्यवादी के मत में वह असत् रहने से बन्ध्यापुत्रादि की तरह किसी के द्वारा भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अतएव अतीत और अनागत काल का अस्तित्व नहीं है ॥ १५ ॥

२६६. अनागत में अवस्थित भाव परिणाम से वर्तमान होता है। अतः वर्तमान के सद्भाव से अनागत का भी सद्भाव है। इसका खण्डन करते हुए आचार्य ने कहा है कि गोरस द्रव्य में अवस्थित धर्मान्तर दुग्ध भाव की निवृत्ति और दधिभाव की उत्पत्ति परिणाम है अवश्य, परन्तु इस परिणाम की स्थापना करना सम्भव नहीं। क्योंकि दधि दुग्ध का विकारभाव नहीं, अन्यथा दुग्धावस्था में ही वर्तमान दुग्ध दधिभाव को प्राप्त हो जाता। अतः भावों का परिणाम मन से भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी वर्तमान है, ऐसी कल्पना बुद्धिहीन व्यक्ति करते हैं ॥ १६ ॥

२६७. भाव के सद्भाव से भी काल का सद्भाव नहीं माना जा सकता क्योंकि भाव स्वयं अस्तित्वहीन है। स्थिति के बिना भाव कहाँ और अनित्यता से स्थिति कहाँ। यदि प्रारम्भ में स्थिति होती तो अन्त में जीर्णता कैसे आती ? ॥ १७ ॥

२६८. यदि भावों की स्थिति होती तो भाव क्रमशः अनेक विज्ञानों द्वारा ज्ञेय होते परन्तु एक विज्ञान दो विषयों को एक काल में नहीं जानता और इसी प्रकार दो विज्ञान एक अर्थ को नहीं जानते। अतएव भाव स्थितिमान् नहीं। स्थिति के न होने से न भाव ही सिद्ध है और न काल ही ॥ १८ ॥

२६९. भावों की स्थिति से वर्तमान काल की स्थिति नहीं मानी जा सकती क्योंकि काल (अधिकरण) में स्थिति (आधेय) होती तो काल की स्थिति नहीं होती। अतएव न काल का स्वभाव है और न वह काल का लक्षण है। स्थिति रहित पदार्थ का विनाश नहीं होता ॥ १९ ॥

२७०. यदि अनित्यत्व नाम का कोई पदार्थ है तो वह भाव से अन्य होगा या एक होगा ? पदार्थ से अनित्यता के भिन्न होने पर पदार्थ अनित्य नहीं होगा और पदार्थ से अनित्यता के एक होने पर पदार्थ की स्थिति कैसे होगी ? अतः स्थिति और अनित्यत्व के अभाव से पदार्थ नहीं और पदार्थ न रहने से काल भी नहीं होगा ॥ २० ॥

२७१. यदि स्थितिकाल में अनित्यता दुर्बल है तो वह स्थिति पहले ही अथवा पश्चात् ही बलवती नहीं होगी । अतएव पदार्थ नित्य अथवा स्थिति हीन होगा । परन्तु यह युक्त नहीं । अतएव भाव की स्थिति नहीं है ॥ २१ ॥

२७२. यदि समस्त पदार्थों में अनित्यता दुर्बल न होती तो जहाँ स्थिति बलवती होगी वहाँ कोई अंश नित्य होगा और जहाँ अनित्यता बलवती होगी वहां कोई अंश अनित्य होगा । इस प्रकार न सभी अनित्य होंगे और न सभी नित्य होंगे ॥ २२ ॥

२७३. यदि अनित्यत्व नित्य रूप से लक्ष्य के साथ सम्बद्ध है तो स्थिति भी नित्य नहीं होगी । यदि पश्चात् सम्बद्ध है तो पदार्थ नित्य होकर अनित्य होगा ॥ २३ ॥

२७४. संस्कृत लक्षणों का अव्यभिचरित होना भी उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध करता है । यदि पदार्थ में अनित्यता के साथ स्थिति होगी तो उसकी अनित्यता मिथ्या होगी और यदि पदार्थ नष्ट होता है तो उसकी स्थिति मिथ्या होगी ॥ २४ ॥

२७५. देखा हुआ भाव पुनः नहीं देखा जा सकता । अतः उस विषय की स्मृति भी पुनः नहीं होती । इसलिए इस स्मृति का स्मृति नामक पदार्थ भी मिथ्या ही होगा ॥ २५ ॥

१२—दृष्टिप्रतिषेधभावनासन्दर्शन

२७६. निस्पक्ष, बुद्धिमान् और अर्थ ग्राहक श्रोता पात्र कहा जाता है। 'यदि श्रोता में उक्त गुण न हों तो वक्ता के गुण श्रोता पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाते। इसलिए जड़बुद्धि वालों पर हमारा कोई प्रभाव नहीं पड़ता ॥ १ ॥

२७७. जिस प्रकार भव और भव के उपाय कहे गये हैं उसी प्रकार निर्वाण तथा निर्वाण के उपाय भी निर्दिष्ट हैं। संसार में जिसे कोई नहीं जान सका वह भगवान बुद्ध के दर्शन में स्पष्ट है ॥ २ ॥

२७८. सभी का त्याग करने से मोक्ष होता है ऐसा वैशेषिक, सांख्यादि सभी पाखण्डी दर्शनों का मत है। अतः सभी को दूषित बताने वाले उन दार्शनिकों के समक्ष मेरे दर्शन से विमुख होने में कोई कारण नहीं जान पड़ता ॥ ३ ॥

२७९. जो त्याग का उपाय नहीं जानता वह त्याग कैसे करेगा! मुनि तथागत के अनुसार बौद्धदर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन में मोक्ष का उपाय नहीं हैं ॥ ४ ॥

२८०. भगवान् बुद्ध द्वारा कहे गये परोक्ष पदार्थों में जिसे संशय उत्पन्न हो जाता है उसे स्वभाव शून्यता में विश्वास करना चाहिए ॥ ५ ॥

२८१. जो सांख्यादि तीर्थिक इस जगत के स्थूल पदार्थ को भी ठीक न जान सके वे हेतु-फल व्यापार कल्पना में मूढ़ इस जगत के अन्य अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थो को कैसे जान सकेंगे? अर्थात् नहीं जान सकते। अतः जो व्यक्ति उन तीर्थिकों का अनुसरण करेंगे वे निर्वाण मार्ग में जाने के लिए अवश्य ही वञ्चित रहेंगे ॥ ६ ॥

२८२. जो स्वयं निर्वाण प्राप्त करते हैं वे अत्यन्त दुस्कर कार्य करते हैं। परन्तु जो चिरकाल से अहंकार और ममता के अभ्यासी हैं वे भगवान बुद्ध का अनुसरण करने का भी उत्साह नहीं दिखाते ॥ ७ ॥

२८३. स्वभावशून्यता रूप धर्म के न जानने पर त्रास आरम्भ होता है और जानने पर वह त्रास पूर्णतः दूर हो जाता है तथा अल्पज्ञान होने पर नियम से ही त्रास होता है ॥ ८ ॥

२८४. प्रवर्तक धर्म में अज्ञानियों का अभ्यास ऐकान्तिक ही होता है और पदार्थों की स्वभावशून्यता रूप निवर्तक धर्म से उनका अभ्यास रहता नहीं। इसलिए स्वभावशून्यता के अभ्यास के बाधक आत्मस्नेह में चित्त लगा रहने से साधारण जन निवर्तक शून्यता धर्म से अत्यन्त भयभीत हो जाते है ॥ ९ ॥

२८५. जो किसी मोह से आवृत होकर स्वभाव शून्यता के श्रवण करने में विघ्न उपस्थित करता है, उस विघ्नकर्ता को पूर्वोपार्जित सत्कर्मों का फल नहीं मिलता, तब फिर मोक्ष की तो बात ही क्या ! ॥ १० ॥

२८६. इसलिए दूसरे का अत्यन्त अपकार करने वाले के लिए भगवान कहते हैं कि शील से पतित व्यक्ति अच्छा है परन्तु दर्शन (स्वभावशून्यता रूप बौद्धदर्शन) से पतित व्यक्ति अच्छा नहीं। शील से स्वर्ग प्राप्त होता है परन्तु बौद्धदर्शन से निर्वाण पद प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

२८७. असत् का अहङ्कार श्रेयस्कर है परन्तु उसका नैरात्म्यदर्शन श्रेयस्कर नहीं। एक मूर्ख जिस नैरात्म्यदर्शन से दुःख प्राप्त करता है उसी नैरात्म्यदर्शन से विद्वान निर्वाण प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

२८८. जो अद्वितीय मोक्षद्वार, कुत्सित दर्शनावलम्बियोंको भयंकर और समस्त बुद्धों के ज्ञान का विषय है, वह नैरात्म्य कहलाता है। आत्मा का नाम है स्वभाव। उस आत्मा के अभाव को नैरात्म्य कहते हैं। सम्यग्दर्शनों द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वभाव को जानने के बाद धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य दोनों में ममत्व छूट जाता है और यही निर्वाण प्राप्ति का कारण है ॥ १३ ॥

२८९. इस नैरात्म्यदर्शन के नाम से भी असत् धर्मावलम्बियों को भय होता है। कौन बलवान दर्शन है जो निर्बल दर्शनों (स्वभाववादियों) के लिए भयंकर न होगा ॥ १४ ॥

२९०. तथागतों ने वाद के लिए इस धर्म का उपदेश नहीं दिया। फिर भी यह दर्शन अन्य दर्शनों को उसी तरह जला देता है जिस तरह अग्नि ईन्धन को जला देती है ॥ १५ ॥

२९१. जो इस धर्म को जानता है उसकी अन्य धर्म में प्रीति नहीं होती। इसलिए यह नैरात्म्यधर्म आत्मा के नाश के द्वार के समान देखा जाता है ॥१६॥

२९२. 'यथार्थ रूप से नैरात्म्य हैं' ऐसी जिनकी बुद्धि है, उनकी भाव में कैसे प्रीति होगी और अभाव में कैसे भय होगा ॥ १७ ॥

२९३. अनर्थ के कारणभूत बहुत से तीर्थिकों को देखकर धर्म की कामना वाले पुरुष पर किसकी करुणा नहीं होगी। अर्थात् वह सभी की करुणा का पात्र होगा ॥ १८ ॥

२९४. शाक्य धर्म चित्त से, अचेलक धर्म नेत्र से और ब्राह्मण धर्म कर्णेन्द्रिय से जाना जाता है। इनमें भगवान् बुद्ध का धर्म सूक्ष्म है ॥ १९ ॥

२९५. ब्राह्मणों का धर्म जैसे प्रायः बाह्यधर्म कहा जाता है, उसी प्रकार वस्त्र हीनों (नग्नकों) का धर्म भी चित्त को जड़की तरह बना देने के कारण जड़धर्म कहा जाता है ॥ २० ॥

२९६. जैसे विद्याध्ययन मात्र से ब्राह्मणों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही क्लेशादि के ग्रहण से, केश लुञ्चन आदि शारीरिक दुःख से नग्नकों पर लोग कृपा दर्शाने लगते हैं ॥ २१ ॥

२९७. जैसे अचेलकों का चरित्र दुःखानुभव पूर्वक नरकीय दुःखों के अनुभव के समान कर्म का परिणाम होने के कारण धर्म नहीं है, वैसे ही ब्राह्मणों का जन्म भी पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। अतएव वह भी धर्म नहीं कह जा सकता ॥ २२ ॥

२९८. भगवान् बुद्ध ने संक्षेप रूप से अहिंसा को धर्म कहा है और केवल स्वभावशून्यता को ही निर्वाण कहा है। यही दोनों धर्म हैं ॥ २३ ॥

२९९. अपना पक्ष (धर्म) सभी लोगों के लिए जन्म भूमि के समान प्रिय होता है। उस आत्मपक्ष के स्नेह को दूर करने वाला स्वभावशून्यता का ज्ञान रूप बौद्धधर्म अपको क्यों प्रिय लगेगा ? ॥ २४ ॥

३००. इसलिए कल्याण चाहने वाले बुद्धिमान को उपयुक्त पदार्थ जहां कहीं भी मिले, ग्रहण करना चाहिए। जैसे सूर्य नेत्रवान् प्राणियों के लिए है और सर्व साधारण प्राणियों के लिए भी है ॥ ३५ ॥

१३—इन्द्रियार्थ प्रतिषेधभावना सन्दर्शन

३०१. रूप दिखाई दे जाने पर सम्पूर्ण घट अदृष्ट हो जाता है। इस स्थिति में कौन तत्त्वज्ञाता कह सकता है कि घट और उसके उपादान पदार्थ नीलादिकों का प्रत्यक्ष हो रहा है ? ॥ १ ॥

३०२. इसी विचार से तत्त्वज्ञानियों को यह नहीं मानना चाहिए कि सुगन्धि, माधुर्य, और मृदुत्व आदि सभी पदार्थ एक ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं ॥ २ ॥

३०३. यदि दृष्ट रूप से आठ द्रव्यों का उपादान भूत सम्पूर्ण घट दृष्ट माना जाय तो अदृष्ट रूप से अपृथक अवस्थित वह रूप अवशिष्ट ज्ञान द्रव्यों के द्वारा क्या अदृष्ट नहीं माना जा सकता ? ॥ ३ ॥

३०४. केवल रूप का ही प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि उस रूप का पर, अपर और मध्यम अंश होता है। इस प्रकार रूप परमाणु के अन्तिम भाग तक रहता है ॥ ४ ॥

३०५. इस प्रकार स्वीकार करने पर "अणुके भी अंश होते हैं" ऐसा कहना पड़ेगा। परन्तु अणु के अंश होते नहीं यह सर्व मान्य सिद्धान्त है। तब घट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए इसी साध्य से आपके घट का प्रत्यक्षत्व रूप साध्य की सिद्धि नहीं होगा ॥ ५ ॥

३०६. सभी अवयवी (किसी अपेक्षा से) पुनः अवयव बन जाते हैं। कपाल रूप अवयव की अपेक्षा घट अवयवी है और कपाल में अपने अवयव की अपेक्षा वह अवयव भी है। इस प्रकार कहीं भी स्वरूपतः अवयवत्व और अवयवित्व नहीं दिखाई देता। इसलिए घटादिक द्रव्यों का भी प्रत्यक्षत्व नहीं होता। घटादिक पदार्थो के अभाव होने पर तद्वाची वर्ण 'घट' का भी अभाव हो जायगा ॥६॥

३०७. जो घट (रूपायतन) के वर्ण और संस्थान रूप से दो प्रकार के भेदों की व्यवस्थाकर उनके द्वारा घट के प्रत्यक्षत्व की कल्पना करते हैं, उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि यह कल्पित संस्थान वर्ण से पृथक् है या अपृथक् ? यदि संस्थान वर्ण से पृथक् है तो संस्थान कैसे ग्रहण किया जा सकता है और यदि

अपृथक् है तो वर्ण भी काय से क्यों नहीं ग्रहण किया जाता। इस प्रकार वर्ण के समान संस्थान भी विद्यमान नहीं और उसके अभाव से किसी का भी प्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं होता ॥ ७ ॥

३०८. रूपके कारणभूत चार महाभूत और चार उपमहाभूत रूपदर्शन से नियुक्त नहीं देखे गये। यदि देखे जाने लगते तो रूप का कारण और फल दोनों चक्षु द्वारा क्यों ग्रहण नहीं किये जाते? पर यह सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियके विषय और लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं ॥ ८ ॥

३०९. भूमि कठोर होती है और वह कायेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होती है। इसलिए स्पर्श मात्र से इसे भूमि कहा जाता है। पर रूपायतन तो चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है। तत्त्वान्यत्व से विरहित किसी भी पदार्थ के सद्भाव की कल्पना स्वरूपतः करना ठीक नहीं। और उसके सद्भाव सिद्ध न होने पर रूप की भी स्वरूपतः सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

३१०. दृष्टव्यत्व होने से इस घट में कोई गुण नहीं आ जाता और न उसके होने से अदृष्टभूत घट का सद्रूप ही हो सकता है ॥ १० ॥

३११. चाक्षुरादिक इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण रूपादिक विषयों को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि रूपादिक अर्थों को तभी प्रत्यक्ष माना जा सकता है जब उनमें इन्द्रियों को जानने की शक्ति हो। परन्तु यह शक्ति उनमें है नहीं। क्योंकि चक्षुरादिक पांचों इन्द्रियां सामान्यतः भौतिक मानी जाती है और वे नेत्रों से देखी जाती है, अन्य इन्द्रियों से नहीं। इसलिए तथागत ने कर्मविपाक को अचिन्त्य माना है ॥ ११ ॥

३१२. चक्षुरादिक इन्द्रियों का सद्भाव तब माना जा सकता है जब उनका कार्य विज्ञान ही हो। पर यह सम्भव नही क्योंकि अधिपतिप्रत्यय के न होने से, ज्ञान दर्शन से पूर्व नहीं होता और फिर दर्शन के पश्चात् उसका होना निरर्थक ही है। दो तरह के न होने पर तीसरी कल्पना (ज्ञान और दर्शन का एक साथ उद्भव) व्यर्थ है ॥ १२ ॥

३१३. यदि गतिमान् चक्षु प्राप्तकारी होकर दूरवर्ती पदार्थों का देखता तो अत्यन्त अभ्यास करने पर भी दूरवर्ती चन्द्र आदि को पलक मात्र गिराने से नहीं देख पाता और स्वयं में लगे हुए काजल को क्यों नहीं देख पाता ॥ १३ ॥

३१४. यदि चक्षु जाकर रूप को देखता है तो क्या देखकर उस स्थान तक जाता है अथवा बिना देखकर जाता है? दोनों में दोष दिखाते हुए कहते हैं कि यदि चक्षु किसी पदार्थ को देखकर जाता है तो उस गमन से क्या लाभ।

जाने पर नियमित रूप से उसे उस पदार्थ को देखना चाहिए अथवा वह व्यर्थ हो जाता ॥ १४ ॥

३१५. जो दार्शनिक चक्षु, श्रोत्र और मन को अप्राप्त विषयी मानते हैं उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि पदार्थ के ग्रहणीय होने से न गया हुआ चक्षु समस्त संसार को देख ले। जिसका गमन नहीं उसके लिए दूर और आवृत पदार्थ से क्या तात्पर्य ? ॥ १५ ॥

३१६. चम्पक आदि पदार्थों का स्वभाव पहले आत्मा में दिखाई देता है, बाद में वह अन्य पदार्थों में पहुँचता है। इसी प्रकार यदि चक्षु का देखना ही स्वभाव है तो अपने आप में देखना पहले होना चाहिए। फिर चक्षु का ग्रहण चक्षु से ही क्यों नहीं होता ? ॥ १६ ॥

३१७. चक्षु का विज्ञान (ज्ञान) नहीं होता और विज्ञान का दर्शन (देखना) नहीं होता तथा पदार्थ का न विज्ञान होता है और न दर्शन होता है। अतएव चक्षु, विज्ञान और रूप की सामग्री से पदार्थ का देखना कैसे बन सकता है ! ॥ १७ ॥

३१८. रूपदर्शन के समान शब्दश्रवण भी असम्भव है। यदि शब्द सुना जाता है तो कर्णदेश को स्पर्शकर सुना जाता है अथवा बिना स्पर्श किये ही ? यदि स्पर्श कर सुना जाता है तो वह कानके पास जाकर शब्द करता है या नहीं ? यदि शब्द करता है तो वक्ता होने से देवदत्त के समान यह शब्द भी नहीं होता। यदि न बोलते हुए जाता है तो निःशब्द होने के कारण "यह शब्द है" ऐसा विश्वास किसे होगा ? शब्द का ग्रहण नहीं होगा तो उसका अस्तित्व भी मानना ठीक नहीं ॥ १८ ॥

३१९. यदि शब्द प्राप्त होकर ग्रहण किया जाता है तो उसका प्रारम्भिक भाग किसके द्वारा ग्रहण किया जाता है ? मात्र शब्द का ग्रहण नहीं किया जाता ॥ १९ ॥

३२०. शब्द के आदिभाग के ग्रहण न किये जाने से शब्दत्व ही समाप्त हो जायगा। जब तक शब्द सुना नहीं जाता तब तक शब्द नहीं कहलाता और अन्त में अशब्द का शब्दत्व माना जाना ठीक नहीं ॥ २० ॥

३२१. इन्द्रियों के समान मन भी विषय ग्रहण करने में असमर्थ है। इन्द्रियों से वियुक्त होकर चित्त जाकर भी क्या करेगा ? ऐसा होने पर यह जीव क्या सदा अमनस्क नहीं रहेगा ? और अमनस्क के आत्मत्व होना संभव है नहीं ॥ २१ ॥

३२२. पदार्थ के निःस्वभाव रहने से बिषय-परिच्छेद हो नहीं सकता। जो पदार्थ पहले मरीचिका के समान देखा गया, बाद में वही मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है। समस्त पदार्थों की व्यवस्था में कारणभूत होने से उसे 'संज्ञास्कन्ध' कहा गया है। ॥ २२ ॥

३२३. चक्षु और रूप के कारण मन माया के समान हो जाता है। जिसका सद्भाव होता है उसे माया नहीं कहा जा सकता। संसार में स्वभाव से अशून्या विद्यमाना स्त्री को तथा स्वरूपतः विद्यामान विज्ञान को मायोपम नहीं कहा जा सकता ॥ २३ ॥

३२४. सभी कार्य अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं यह नियम रूप शब्दादि पदार्थों में नही देखा जाता। कर्णेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने के कारण महाभूत श्रवण वाह्य हैं। उनसे चक्षु से उत्पन्न होने वाला और श्रवण से उत्पन्न होने वाला शब्द उत्पन्न होता है। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। परन्तु जब इन्द्रियों के चले जाने पर संसार में विद्वानों को कोई आश्चर्य नहीं हुआ तब विस्मय क्या ! ॥ २४ ॥

३२५. अतएव अनिश्चित स्वरूप होने के कारण जैसा प्रत्यय (कारण) हुआ वैसा वैसा विपरिवर्तमान होने के कारण विद्वानों को अलातचक्र, निर्माण, स्वप्न, माया, जलचन्द्र, धूमिका, प्रतिध्वनि, मरीचिका, और मेघ के समान संसार इसमें निःस्वभाव होता है ॥ २५ ॥

१४. अन्तग्राहप्रतिषेधभावनासन्दर्शन

३२६. जो पदार्थ पराधीन नहीं होता, उसका अस्तित्व कहीं पर सिद्ध हो जाता है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि जिसका हेतु-प्रत्ययों से जन्म हो और उसकी पराधीनता न हो। यदि ऐसा नहीं मानते तो पदार्थ निर्हेतुक और निःस्वभाव हो जायगा ॥ १ ॥

३२७. घटादि का स्वरूप सम्भव नहीं। रूप ही घट है इस प्रकार की एकता नहीं होती और रूप से घट पृथक् है, यह भी सम्भव नहीं। अतएव घट में रूप विद्यमान नहीं होता और रूप में घट विद्यमान नहीं होता ॥ २ ॥

३२८. रूप-घट में अन्यत्व भले ही न हो पर भाव-घट में तो अन्यत्व है ही। तब सत्ता का योग भी कहा जायगा। आचार्य इस कथन पर कहते हैं कि दोनों में विलक्षणता देखकर यह निश्चित किया जा सकता है कि यदि भाव से घट पृथक् नहीं है तो भाव भी घट से पृथक् क्यों नहीं होगा ? ॥ ३ ॥

३२९. गुणोंका आश्रयभूत होने से घट विद्यमान है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आपके मत में एकत्व रूप एक संख्या घट नहीं है वैसे ही द्रव्यत्व रूपसे अनेक संख्या के पृथक्भूत होने से घट भी एक नहीं होता। यह दो समान वस्तुओं का योग नहीं है इसलिए भी एक नहीं होता। योग के अभाव से न ही एक घट होता है और न घट भी एक है ॥ ४ ॥

३३०. द्रव्याश्रित गुण होते हैं न कि गुणाश्रित विशेष गुण। ऐसी व्यवस्था जिस दर्शन में है वह युक्त संगत नहीं। क्योंकि द्रव्य जिस समय जिस परिमाण का होगा रूप भी उस समय उसी परिमाण का क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा। परन्तु ऐसा मानने पर प्रतिवादी का सिद्धान्त-विरोध स्पष्ट हो जाता है। रूपका अणुत्व और महत्व दोनों गुण में ही हैं और गुण में गुण का सन्निवेश हो नहीं सकता अतएव भाव का घटादि से अन्यत्व प्रतिषेध सिद्ध है ॥ ५ ॥

३३१. घटका स्वभावाप्रतिषेध होने से भी घट के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि घट की व्यावृत्ति और सत्व की अनुवृत्ति रूप लक्षण से भी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। व्यावृत्ति मात्र से वस्तु स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। अतएव जहाँ प्रतिपक्ष में लक्षण से भी लक्ष्य रूप घटकी स्वरूप

की सिद्धि नहीं होती वहाँ पक्षान्तर में संख्यादि से पृथक् सिद्ध स्वरूप से घट भाव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतएव घट की स्वभावशून्यता सिद्ध हो जाती है ॥ ६ ॥

३३२. रूपादिकों से घट की एकता है यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं क्योंकि रूपादि लक्षणों से अपृथक् रहने के कारण घट की एकता नहीं होती और रूपादिकों में एक-एक भाग में घट का अभाव देखा जाने से बहुत्व भी नहीं है ॥ ७ ॥

३३३. रूपादि लक्षणों के परस्पर संयोग से घट की एकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि कायादिक स्पर्शवान् पदार्थों से रूपादिक स्पर्श हीन पदार्थों का संयोग होना सम्भव नहीं। अतएव रूपादिकों का सम्बन्ध किसी भी स्थिति में युक्ति-संगत नहीं लगता ॥ ८ ॥

३३४. अन्योन्य स्पर्श के बिना भी रूपादिकों के समुदाय में ही घट की विद्यमानता है, यह कहना भी युक्ति संगत नही, क्योंकि रूप घट का अवयव है इसलिए उसे घट नहीं कह सकते। जब घट रूप अवयवी नहीं तो रूप रूप अवयव भी सिद्ध नही हो सकता। इस प्रकार अवयव और अवयवी दोनों नहीं ॥ ६ ॥

३३५. रूपादिकों का समुदाय रूप घट नहीं है क्योंकि समस्त रूपों का रूपत्व समान होता है। इस व्यवस्था में एक घट का सद्भाव होने पर अन्य घटों के सद्भाव न होने में क्या कारण है। उस स्थिति में सभी पदार्थों में घटत्व की सम्भावना हो जायगी अथवा घट का भी घटत्व प्राप्त नहीं होगा। ॥ १० ॥

३३६. भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण रूप रसादिक से पृथक् है, यह तुम्हारा मन्तव्य है परन्तु जो उनके बिना स्वयं अस्तित्वहीन है, वह रूप से भिन्न कैसे नहीं होगा? ॥ ११ ॥

३३७. जब इस प्रकार रूपादिकों को घट का कारण नहीं माना गया तो निश्चित ही घट का कारण है नहीं और कार्य स्वयं होता नहीं। अतएव रूपादिकों से पृथक् किसी घट का अस्तित्व नहीं है ॥ १२ ॥

३३८. घटका अस्तित्व कारण विशेष से है और वह कारण किसी और कारण पर निर्भर है। तब जिसकी स्वतः सिद्धि नहीं है, वह अन्य किसी को कैसे उत्पन्न कर सकता है? ॥ १३ ॥

३३९. समुदित रूपादिक समुदाय रूप में अवस्थित होने पर भी अपने-अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करते, अतः गन्धकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए घट के समान अनेकाश्रित समूह का एकत्व सिद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

३४०. जिस प्रकार रूपादि से पृथक् घट का अस्तित्व नहीं उसी प्रकार वायु आदि से पृथक् रूप का अस्तित्व नहीं ॥ १५ ॥

३४१. अग्नि यहाँ दाह है और भूतत्रय दाह्य हैं। इसीलिए भूतत्रय यहाँ ईन्धन है जिसे अग्नि जलाती है। अग्नि जब उष्ण को भी जलाती है तब अग्नि ही उष्ण होती है, ईन्धन नहीं। अनुष्ण का भी दाह असम्भव होने से अनुष्ण ईन्धन नहीं है। इसी प्रकार दाह्य का असम्भव होने से भूतत्रयात्मक ईन्धन नहीं है। जब अग्नि से पृथक् ईन्धन नहीं तो ईन्धन के अभाव में निर्हेतुक अग्नि भी संभव नहीं ॥ १६ ॥

३४२. अग्नि से अभिभूत ईन्धन नामक पदार्थ अनुष्ण स्वभाव वाला होने पर भी उष्ण होता है यह मानने पर वह भी उष्ण रूप होने के कारण अग्नि है और फलतः अग्नि के ईन्धन नाम के दूसरे भाव का अभाव हो ही जायगा। अग्नि में द्वितीय पदार्थ ईन्धन का अभाव होने से अग्नि के निर्हेतुकत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा ॥ १७ ॥

३४३. यदि अणु का ईन्धन नहीं तो अग्नि ईन्धन बिना मानी जायगी। यदि उसका ईन्धन है तो अणु एकात्मक नहीं है ॥ १८ ॥

३४४. जिस किसी भी पदार्थकी परीक्षाकी जाती है उसकी एकता सिद्ध नहीं होती। एक पदार्थ की भी सिद्धि न होने पर समुचित अनेक पदार्थों की भी सिद्धि नहीं होती ॥ १९ ॥

३४५. मतान्तर तीन प्रकार के भाव स्वीकार करते हैं। उनमें "एक भाव है" यदि ऐसा मत है तो चूंकि सर्वत्र तीनों भाव विद्यमान हैं इसलिए कोई एक भाव का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

३४६. सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, सदसत्कार्यवाद और न सत्कार्यवाद न असत्कार्यवाद यह क्रम विद्वज्जनों द्वारा एकत्वादियों में प्रयुक्त किया जाना चाहिए ॥ २१ ॥

३४७. इस प्रकार जब पदार्थों का स्वभाव सिद्ध नहीं तब उनकी उपपत्ति की कल्पना भी असंगत है। किन्तु सन्तान (परम्परा) में दृष्टिदोष होने पर पदार्थ जैसे नित्य हो जाता है वैसे ही हेतु-प्रत्ययगत सामग्री में दृष्टिदोष होने पर पदार्थ कहलाता है ॥ २२ ॥

३४८. जिसकी उत्पत्ति कारण पूर्वक होती है वह स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न नहीं होता। चूंकि स्वतन्त्र नहीं होता इसलिए उसके स्वयं

का अस्तित्व नहीं होता । प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य है निःस्वभाव। स्वभाव से अनुत्पन्न पदार्थ। ऐसा पदार्थ स्वप्न सदृश, शून्यतात्मक और अनात्मक होता है ॥ २३ ॥

३४६. और चूंकि विरोध होने पर भी स्वरूप की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए ही फल के बिना पदार्थो का समवाय नहीं होता। वह समवाय आर्यो का असमवाय है जो फलनिमित्तक होता है ॥ २४ ॥

३५०. अतएव विज्ञान भाव स्वरूप पर अध्यारोप करता है। भव का बीज विज्ञान है और गोचर पदार्थ उसके विषय हैं। पदार्थों के नैरात्म्य स्वभाव को समझ लेने पर भव,जन्म अथवा संसार का बीज कारण निरुद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

४५. संस्कृतार्थप्रतिषेधभावनासन्दर्शन

३५१. उत्पादादि संस्कृत लक्षणों का सद्भाव होने के कारण संस्कृत पदार्थ का स्वभावतः अस्तित्व है यह कथन युक्ति संगत नहीं। असत् होते हुए यदि संस्कृत पदार्थ उत्पन्न होता है तो असत् कहां से उत्पन्न होता ? यदि सत् पूर्वक ही उत्पन्न होता तो सत् कहां से उत्पन्न होता।

३५२. चूंकि उत्पन्न हुए फल रूप अंकुर से बीज रूप हेतु नष्ट हो जाता है। इसलिए असत् रूप से विद्यमान अंकुर बीज से उत्पन्न होता है, ऐसी मान्यता तथ्ययुक्त नहीं। जैसे अंकुर के उत्पन्न होने पर उसका बीज नष्ट हो जाता है अतएव असत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होता तथा सिद्ध (उत्पन्न) अङ्कुर पुनः सिद्ध (उत्पन्न) नहीं होता। वैसे ही सत् का भी उत्पाद नहीं होता ॥ २ ॥

३५३. जब अङ्कुर आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है तब इसका रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इसका जन्म (जाति) नहीं होता। जब इसका

रूप सिद्ध नहीं होता तब भी इसका जन्म युक्ति संगत नहीं। असिद्ध रूप के असद्भाव पर आश्रित जन्म की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए जन्म और किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता। इस प्रकार जब तीनों कालों में भी जन्म सम्भव नहीं तो उत्पत्ति काल भी अस्तित्व में नहीं है ॥ ३ ॥

३५४. जिस प्रकार दुग्ध स्वभाव से पवस्थित दुग्ध की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार दुग्ध से अन्य दधि पदार्थ की भी उत्पन्ति नही होती। अतः दधि भूत दुग्ध में दुग्ध दधि है, ऐसा नहीं माना जा सकता ॥ ४ ॥

३५५. उत्पत्ति के पूर्व आदि (उत्पत्ति), मध्य (स्थिति), और अवसान (भग) की उत्पत्ति नहीं होती। स्थिति और भङ्ग दोनों के अभाव होने पर एक-एक की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। अतः उत्पत्ति के पूर्व संस्कृत पदार्थ उत्पन्न नहीं होता ॥ ५ ॥

३५६. यहां घट का कपाल की अपेक्षा से और कपाल का शर्करा (धूलि) की अपेक्षा से स्वतः सिद्ध स्वरूप नहीं है। इस प्रकार परभाव (दूसरा पदार्थ) का अभाव होने पर स्वभाव (निज पदार्थ) की विद्यमानता नहीं रहती। इस तरह अपने और दूसरे, दोनों से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ६ ॥

३५७. उत्पाद उत्पत्ति के पूर्व और पश्चात् होता है इस प्रकार युगपत् उत्पत्ति वाला पक्ष शक्य नहीं। अतएव घट की और उत्पत्ति की उत्पत्ति एक साथ सम्भव नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

३५८. जीर्ण पदार्थ को जीर्णता यदि लोक में वस्तु के पूर्व उत्पन्न हुई मानी जाय तो घट के पूर्व उत्पन्न हुई अवस्था का जीर्णत्व युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उस समय उसकी संज्ञा नूतन होगी। पश्चात् उत्पन्न हुई अविकल अवस्था में, बाद में उत्पन्न होने के कारण, नूतनता रहती है। फिर जीर्णता कहां होगी ? अतः जीर्णता के अभाव से उत्पाद नहीं देखा जा सकता ॥ ८ ॥

३५९. हेतु और फल दोनों का युगपत् सम्बन्ध न होने से वर्तमान पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार निरात्मक होने के कारण उसकी उत्पत्ति न अनागत काल से होती है और न अतीत काल से ही ॥ ९ ॥

३६०. जिस प्रकार उत्पन्न पदार्थ की गति का अभाव नहीं है उसी प्रकार निरुद्ध पदार्थ की गति का अभाव नहीं है। ऐसा होने पर संसार माया के समान क्यों नहीं होता ॥ १० ॥

३६१. इन प्रकार संस्कृत पदार्थ मायाकृत है और उसके लक्षण भी सद्रूप नहीं हैं। पारस्परिक विरोध होने से उत्पाद, स्थिति और भङ्ग इन तीनों की उत्पत्ति न युगपत् होती है और न क्रमशः होती है तब उत्पत्ति कब होती है ?॥ ११ ॥

३६२. संस्कृत रूप से उत्पाद आदि के स्वीकार किये जाने पर उत्पाद, स्थिति और भंग में सभी वस्तुओं की पुनः उत्पत्ति होती है। अतएव उत्पाद के समान भङ्ग और भङ्ग के समान स्थिति देखी जाती है। इस स्थिति में अनवस्था दोष होने पर सभी पदार्थों की असिद्धि हो जायगी। इसलिए स्वभावतः संस्कृत लक्षणों की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

३६३. इन लक्षणों की उत्पत्ति होने पर लक्ष्य से भिन्न रूप अथवा अभिन्न रूप से लक्षण कर्म में प्रवृत्ति होगी। तब यदि लक्षण से लक्ष्य भिन्न है तो लक्ष्य की अनित्यता कैसे सम्भव होगी ? अथवा लक्ष्य, लक्षण, भाव और अभाव इन चारों का सद्भाव स्पष्टतः नहीं है ॥ १३ ॥

३६४. न पदार्थ से पदार्थ उत्पन्न होता है और न पदार्थाभाव से पदार्थ उत्पन्न होता है। न अभाव से अभाव उत्पन्न होता है और न भाव से अभाव उत्पन्न होता है। इसलिए हेतु-प्रत्यय द्वारा किसी पदार्थ का सद्भाव सिद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

३६५. विद्यमान पदार्थ की पुनरुत्पत्ति नहीं होती और अविद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार विद्यमान पदार्थ का न सद्भाव है और न असद्भाव है ॥ १५ ॥

३६६. उत्पन्न होने वाला पदार्थ अर्धोत्पन्न होने के कारण जायमान् नहीं कहा जा सकता। यदि उसे जायमान् कहा जायगा तो सभी पदार्थों को जायमान् स्वीकार करना पड़ेगा ॥ १६ ॥

३६७. जो जायमान् स्वभाव वाला है वह स्वयं द्वारा व्यवस्थित होने से कार्य नहीं कहा जा सकता। जो जायमानात्मना अकार्य है वह भी जायमान् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जायमान् पदार्थ के स्वरूप का सद्भाव नहीं है ॥ १७ ॥

३६८. जिस वादी के मत में मध्य के बिना अतीत व अनागत इन दोनों की उत्पत्ति सम्भव नहीं उसे जायमान् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस जायमान् पदार्थ का मध्य अपेक्षित है ॥ १८ ॥

३६९. चूंकि जायमान् पदार्थ के निरोध से पदार्थ उत्पन्न होता है इसलिए अर्धजात के बिना भी जायमान् पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

३७०. उक्त शंका का उत्तर देते हुए आर्यदेव कहते है कि जब यह पदार्थ 'जात' कहलायगा तब उसे जायमान् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'जात' ही पदार्थ उत्पन्न होता है तो 'जायमान्' पदार्थ किससे उत्पन्न होगा ? ॥ २० ॥

३७१. अनुत्पन्न पदार्थ ही जायमान् होने के कारण 'जात' कहलाता है। भेदभाव होने के कारण घट का अभाव होता है तो विकल्प क्यों नहीं होता? ॥ २१ ॥

३७२. जैसे अनागत से अनिस्पन्न रूप जायमान् पदार्थ भी अजात होने के कारण बहिस्कृत है वैसे ही अनिस्पन्न रूप होने के कारण जात से भी बहिस्कृत है। फलतः अजात ही उत्पन्न होता है। अतः जायमान् पदार्थ नहीं है ॥ २२ ॥

३७३. पहले अविद्यमान होने के कारण जायमान पदार्थ भी बाद में निश्चित रूप से उत्पन्न होता है। इससे भी अजात से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध है। परन्तु अभूत पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती ॥ २३ ॥

३७४. उत्पन्न हुआ पदार्थ ही अस्ति अथवा विद्यमान कहलाता है। जो विद्यमान नहीं होता उसे अकृत कहा जाता है। जब जायमान पदार्थ का सद्भाव नहीं तो उसका स्मरण किस नाम से किया जायगा ? ॥ २४ ॥

३७५. इस प्रकार उक्त तथ्यों से जायमान् पदार्थो की विद्यमानता असम्भव है। जब कारण के बिना कार्य नहीं होता तो प्रवृत्ति और निवृत्ति नही हो सकती। अतएव परीक्ष्यमाण पदार्थ स्वभावतः सिद्ध नहीं होते। वे माया के समान शून्य है ॥ २५ ॥

१६. गुरुशिष्यविनिश्चयभावनासन्दर्शन

३७६. किसी कारण से शून्य को अशून्य के समान देखा जाता है और उसके सर्भ प्रकरणों द्वारा प्रतिषेध किया जाता है। स्भभाव से विरहित अर्थ शून्यतार्थ है ॥ १ ॥

३७७. जब वक्ता, वाच्य और वचनों का अस्तित्व है तो शून्य कहना युक्ति संगत नहीं। परन्तु यह कथन निर्दोष नहीं, क्योंकि जिसके कारण सब कुछ उत्पन्न होता है वह तीनों में भी विद्यमान नहीं ॥ २ ॥

३७८. यदि शून्य के दोष से अशून्य की ही सिद्धि होती है तो अशून्य के दोष से शून्य की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? ॥ ३ ॥

३७९. परपक्ष का खण्डन और स्वपक्ष का मण्डन ये दोनों वाद है। यदि दूषक पक्ष में प्रीति उत्पन्न होती है तो साधक पक्ष में प्रीति क्यों नहीं होती ? ॥ ४ ॥

३८०. जो पक्ष परीक्षा काल में विद्यमान नहीं, उसका यदि अस्तित्व ना माना जाय तो एकत्व, अन्यत्व और अनभिलाप्य इन तीनों पक्षों का भी अस्तित्व नहीं माना जायगा। अतएव परोक्षमें सभी पक्ष नहीं होते, ऐसा आपका पक्ष युक्ति संगत नहीं ॥ ५ ॥

३८१. जहां प्रत्यक्ष रूप से घट विद्यमान है वहां शून्यता हेतु निरर्थक है। यह शङ्का भी ठीक नहीं। क्योंकि शून्यता-युक्तिवाद में समय (सिद्धान्त) से अन्यत्र प्रसिद्ध हेतु स्वीकार नहीं किया जाता। युक्तिवाद में सोपपत्तिक सिद्धान्त ही स्वीकृत होता है। अतः शून्यता हेतु व्यर्थ नहीं ॥ ६ ॥

३८२. अशून्य के बिना शून्य कैसे होगा ? प्रतिपक्षी के बिना प्रतिपक्ष भी कैसे होगा ? अत: शून्यता भाव है ॥ ७ ॥

३८३. यदि पक्ष ही अपक्ष रूप और पक्ष रूप दोनों है तो अपक्षके अभाव में विपक्ष कौन होगा ? इस प्रकार पक्षाभाव से विपक्ष भी नहीं है ॥ ८ ॥

३८४. यदि पदार्थ का सद्भाव नहीं होता तो अग्नि उष्ण कैसे होता ? इसलिए विशेष उपलब्धि के कारण पदार्थों का अस्तित्व है ही। आर्यदेव ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि उष्ण अग्नि का अस्तित्व है ही नहीं। इस प्रकार इसका पहले ही खण्डन कर दिया गया ॥ ९ ॥

३८५. यदि पदार्थ का सद्भाव होने से उसके अभाव का निवारण युक्ति संगत माना जा सकता है तो सत् असत् सद्सत्, और न सदसत् ये चारों पक्ष दोष से वर्जित कैसे रह सकते हैं ? ॥ १० ॥

३८६. परमाणु मात्र का भी जहाँ सत्य स्वरूप नहीं वहाँ भव कैसे उत्पन्न हो सकता है ? भावोत्पत्ति सर्वथा न होने पर उत्पादाभाव ही है। अतएव श्रावकों, प्रत्येकवुद्धों और अनुत्तरसम्यक्सम्बुद्धों का अभाव भी युक्त नहीं ॥ ११ ॥

३८७. समालोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर अद्वयवाद सर्वत्र प्राप्त होता है। यदि सर्वत्र अद्वयवाद है तो अन्य किसी का सद्भाव कैसे होगा ? जो पदार्थ नित्य है उनका स्वरूपतः सद्भाव नही है। यदि यह ठीक है तो तुम्हारे भी दोनों अन्त नष्ट हो जावेंगे । इसके लिए अन्य वाद से क्या तात्पर्य ! ॥ १२ ॥

३८८. जिस कारण से अपने व दूसरे के आगम में परिकल्पित लौकिक एवं लोकोत्तर पदार्थों का अद्वयरूप यहाँ अविभक्त है, वैसे ही समस्त पदार्थों का अभाव होने पर उनका विभाग युक्तिसंगत ही नहीं । जो भाव और अभाव को जानता है पदार्थों में उसकी असक्ति नहीं होती। जो सभी पदार्थों में असक्त नहीं होता वह अनिमित्त समाधि को पा लेता है ॥ १३ ॥

३८९. यदि सभी पदार्थों का अभाव रहने से परपक्ष का परिहार नहीं होता तो किसी भी युक्ति से शून्यता हेतु द्वारा निराकृत तुम्हारे स्वपक्ष की सिद्धि क्यों नहीं होती ? असिद्धि भी नहीं कही जा सकती। इसलिए शून्यता हेतु मे वह निवर्त्य कैसे है ? ॥ १४ ॥

३९०. दोष उपस्थित करने वाला हेतु सुलभ है, ऐसा संसार में कहा जाता है तो तुम्हारे द्वारा भी परपक्ष का दोष कथन क्यों शक्य नहीं ? ॥ १५ ॥

३९१. यदि है इतने मात्र से पदार्थ का अस्तित्व माना जाता है तो नहीं है इतने मात्र से उसका अभाव भी क्यों नहीं माना जाता ? अतएव दोनों वादों को दूर करने के कारण हम लोगों का यह कृत्रिम प्रवञ्चक अद्वयवाद बीच में ही समुच्छिन्न हो गया ॥ १६ ॥

३९२. सत् से यदि असत् ही होता है तो जो असत् है उससे सत् हो होगा। क्योंकि पदार्थ के नाम स्वभाव का अनुकरण नहीं करते ॥ १७ ॥

३९३. शब्द अर्थ के स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं करता। अन्यथा उष्ण कहने पर मुख जल जाता। अतएव अर्थ स्वरूप को स्पर्श न करने वाले शब्दों द्वारा वाच्य वाचक से, लौकिक सङ्केत से सभी का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस शङ्का का उत्तर देते हुए आर्यदेव कहते है कि यदि लौकिक दृष्टि से कथन है तो सभी लौकिक होता। तब किस पदार्थ का वास्तविक अस्तित्व होता और वह किससे लौकिक होता ? ।। १८ ।।

३९४. यह कथन मेरे कथन का अतिक्रमण नहीं करता। यदि भाव के प्रतिषेध से अस्तित्व के विरूद्ध नास्तित्व जाना जाता है तो प्रतिषेध से सभी वादों का निराकरण सिद्ध नहीं होता ।। १९ ।।

३९५. भाव का सद्भाव होने पर उसका निषेध होने से अभाववाद होता। जब उक्त न्याय से भाव ही उत्पन्न नहीं होता तब भाव के अभाव से अभावकी उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि भाव के विना अभाव कहाँ से सिद्ध होगा ? ।।२०।।

३९६. शून्यता हेतु से उत्पन्न होती तो उससे शून्यता न होती। हेतु से प्रतिज्ञा होती है, और कुछ नहीं। इसलिए हेतु का सद्भाव नहीं होता ।। २१ ।।

३९७. यदि हेत्वर्थ से असम्बद्ध दृष्टान्त से अर्थसिद्धि मानी जाती है तो काक के दृष्टान्त से आत्मा भी कृष्ण हो जाता। परन्तु यह सम्भव नहीं। अतएव भाव के अभाव से दृष्टान्त का होना युक्तिसंगत नहीं ।। २२ ।।

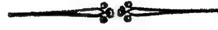
३९८. शून्यता का उपदेश तत्व के प्रतिपादन के लिए होता है और तत्व का स्वरूप स्वभाव है। यदि पदार्थ स्वभावतः होता तो शून्यता दृष्टि से उसमें कौन-सा गुण रहता ? दृष्टि की कल्पना से ही वह बन्ध होता है। बन्ध का यहाँ प्रतिषेध किया जाता है ।। २३ ।।

३९९. कोई सत् कहता है और कोई असत् कहता है। न कोई तात्विक मानता है और न कोई लौकिक मानता है। इसलिए यह सत् है, यह असत् है, ऐसा कहना सम्भव नहीं ।। २४ ।।

४००. जिसका सत् अथवा असत् ऐसा पक्ष नहीं है उसे चिरकाल पर्यन्त भी शून्यतावाद में दोष दिखाना सम्भव नहीं। जैसे अनुपम सूर्य अत्यन्त घने अन्धकार का उन्मूलन करता है वैसे ही यह शून्यतावाद रूपी सूर्य सत्, असत् आदि सिद्धान्त रूपी अन्धकार का उन्मूलन करता है ।। २५ ।।

चतुःशतकस्य कारिकार्धानामकाराद्यनुक्रमः

II चतुःशतकवृत्तौ प्रयुक्तानि भगवद्वाक्यानि



चतुःशतकवृत्तौ प्रयुक्ताः कारिकाः

—: ० :—

४ चतुःशतकगताः केचन विशिष्टशब्दाः



चतु:शतकय शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३	१	वक्तृणाम्	ववतॄणाम्	५८	२	आत्मय:	आत्मन:
५	४	परिक्ष्य	परीक्ष्य	५८	२२	स्थिातनां	स्थितानां
७	३	दुखं	दु:खं	६१	४	अङ्कुरो द्वपि	अङ्कुरौ द्वावपि
१५	१	उपर्देशं	उपदेशं	६१	४	अमम्यवाद	असम्भवाद
१६	१५	शवयं	शक्यं	६१	५	अतिव्यक्ते	अनिव्यक्तं
१७	१७	अथायऽपि	अर्थात्रापि	६४	१	आगत:	अनागत:
१७	३२	१२.T.तत्र,२.	अथ हि	६४	४	अपि	अपित्व
			नामात्रापि	६४	११	भोवानां	भविानां
१८	७	प्रतिद्य	प्रतिघ	७६	१९	तस्मा	तस्मात्
१८	९	निर्वाण	निर्वाणं	७६	२२	स्वाभावन	स्वभावेन
१८	१०	तत्प्राप्तु	तत्प्राप्त्यु	७८	१४	यथवात्	यथावत्
१९	४	संमाराद्न्द्	संमाराद्द्वे	७८	२३	अगन्तुं	अवगन्तुं
२०	३१	चैव	चैव हि	७८	२४	दूषप्रवृक्त्वान्	दूषणप्रवृत्तत्वान्
२६	५	सत्र	सर्व	८३	५	प्रपापमिव	प्रपातमिव
३०	१४	अप्रतीतया	अप्रतीत्या	८३	१०	सङ्घर्म	सद्धर्म
३२	१८	तदस्पा	तदस्या	८३	१६	सुभंनरपि	सुभटैरपि
३४	१	व्यक्ति	व्यक्ति	८७	१३	रष्स्य	रसस्य
४१	२२	दृष्हं	दृष्टं	८८	१३	निर्वा	निर्वाणा
४२	२५	उस्रा	उष्णा	८९	४	शम्यास्तु	शाक्यास्तु
४३	२३	सर्वथामीति	सर्वथागीति	८९	३	मलाया	मलापा
४४	१२	उत्पाया	उत्पत्त्या	९१	१०	पण्डित्ते	पण्डिता
४४	१८	अक्ष्णोरुत्पादनं	अक्ष्णो-	९६	२२	खक्खहवत्वं	खक्खलत्वं
			रुत्पाटनं	९७	९	शभ्या	शक्या
४५	२	तीर्थकै:	तीर्थिकै:	९९	५	ततीयायां	तृतीयायां
४६	१०	अन्तराप्मानं	अन्तरात्मानं	१११	७	नैभ्यम्	नैक्यम्
४८	१७	देहद्विक्रतं	देहवद्विकृति	१११	२१	कट इव	घट इव
५५	६	विदित्विषयोपभोगौत्सुक्यात्		१११	२४	स्वाभावतो	स्वभावतो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
११२	१३	घट	घटो यदि	१३८	४	सर्वंस्यैव	सर्वस्यैव
११२	१६	I	T	१४३	२४	व्यतिरेकन्मुखेन	व्यतिरेक-मुखेन
११२	२२	न्यावेश	न्यायप्रवेश				
११४	१३	याव	यावद्	१४७	१४	सद्भावोलम्भात्	सद्भावोपलम्भात्
११५	७	प्रतिषेघना	प्रतिषेधेना				
११५	१३	बुवता	ब्रुवता	१५२	८	भना	भात्र
११८	१३	भ्यतिरेकेण	व्यतिरेकेण	१५२	१६	विसवादक	विसंवादक
११८	१६	कारत्वं	कारणत्वं	१५६	२	तन्नामनो	तन्नाम्नो
१२१	४	अग्नो	अग्नौ	१५६	१२	कडेवर	कलेवर
१३३	२	सवत्र	सर्वत्र	१६०	२	निययाद्	नियमात्

भूमिकाभागस्य शब्दसूची

भूमिकाभागस्य शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
६	११	लोकाप्रिय	लोकप्रिय
११	९	अतिक्रणम	अतिक्रमण
१५	१३	मैधातुक	त्रैधातुक
२५	२५	सवृति	संवृति
२७	२०	बृत्ति	वृत्ति
३०	१८	व्रजतारासाधन	वज्रतारासाधन
३३	११	क्षणभङ्गुर	क्षणभङ्गुर
३८	२६	स्मृति स्थान	स्मृति प्रस्थान
४५	२०	धर्भ	धर्म
४६	९	मात	मत
४६	१३	माध्यमा	मध्यमा
५३	१२	कम्पयोनि	कामयोनि
५३	१२	कन्मपटिसरण	कम्मपटिसरण
५५	६	र्संसरण	संसरण
५७	७	अतर्कविचर	अतर्कावचर
५७	१७	पदरूपा	पेदरूप
६०	२३	प्रप्य	प्राप्य
६०	२९	करोत्लात्म	करोत्यात्म
६६	२६	ईश्वकतृक	ईश्वरकर्तृक
७०	३	अचार्यो	आचार्यों
८७	१९	विशोर्ण	विशीर्ण
८८	१७	यथाथ	यथार्थ
८९	१४	नियार्थ	नित्यार्थ
९२	१५	आवश्कता	आवश्यकता
९९	११	अनुभावकर्ता	अनुभवकर्ता
१००	३०	विक्रियमरण	विक्रियामरण
१०२	२०	व्यापारपूया	व्यापाररूपा
१०२	२१	उत्क्षेगण	उत्क्षेपण
१०२	२७	बम्बन	कम्पन
१०२	३०	निस्क्रिमवाद	निष्क्रियवाद
१०२	३२	नैरात्म्यवाद्र	नैरात्म्यवाद
१०३	१	निबत्ति	निवृत्ति
१०३	४	निस्क्रियो	निष्क्रियो
१०३	१२	मानये	मानते
१०४	२३	सममस्त	समस्त
१०४	२६	खरविषय	खरविषाण
१०६	२	अनस्तिकामिक	अनास्तिकायिक
१०६	१२	प्रतियक्षी	प्रतिपक्षी
१०६	२९	अनिर्वचनीत	अनिर्वचनीय
१०७	३	भविस्यत	भविष्यत
१०७	८	जगत	जगत्
१०८	३१	विज्ञमान	विद्यमान
१११	७	अतागत्	अनागत्
१११	१८	अनाग्रतं	अनागतं
११२	३१	सतूकी	सत् की
११५	३०	जायरे	जायते
११६	२५	स्बभाव	स्वभाव
१२०	१५	ऊर्ध्वमको	ऊर्ध्वमर्को
१२६	२१	चक्रनिबर्माण	चक्रनिर्माण
१३६	२४	समग्न	समान
१४१	२०	अद्वायवाद	अद्वयवाद